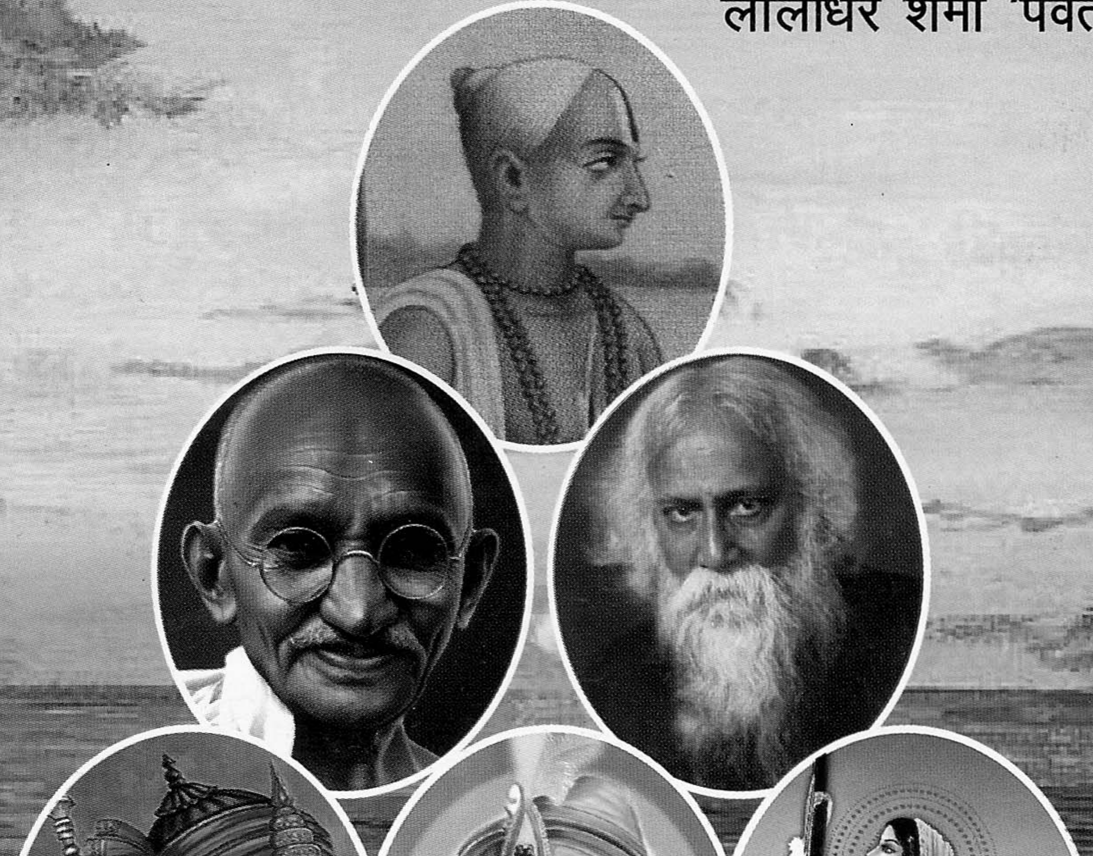
महापुरुषों की जीवनियाँ

सम्पादक
लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

महापुरुषों की जीवनियाँ

सम्पादक

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ
दूरभाष : 0522-2614470, 2614471

प्रकाशक

डॉ० सुधाकर अदीब

निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

ग्रन्थमाला संख्या — १

बाल साहित्य संवर्द्धन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित।

प्रथम संस्करण - १९९४
द्वितीय संस्करण - २०१०
तृतीय संस्करण - २०१५

प्रतियाँ : ५००

मूल्य : ₹ ८० = ०० अस्सी

ISBN - 978 - 93 - 82175 - 44 - 5

मुद्रक :
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ।

प्रकाशकीय

मनुष्य जाति ने जब से होश संभाला, निरंतर प्रगति करती रही। कोई भी चुनौती उसका रास्ता रोक नहीं सकी। यहाँ तक कि सफलताओं से संतुष्ट होकर भी मानव कभी खाली नहीं बैठा और उपलब्धियों को नवीन शिखरों पर ले जाने के लिए समर्पित रहा। विज्ञान हो या सहित्य, दर्शन हो या आध्यात्म, कला हो या संगीत, प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्र में इन विभूतियों ने अपनी साधना की ज्योति फैलायी। मानव समाज आज जितना उन्नतशील दिखता है,महापुरुषों के योगदान के बिना शायद ही उसके लिए उतना सम्भव हो पाता। इनका प्रेरक व्यक्तित्व, साधना और ज्ञान आज भी हमारे लिए अमूल्य है और उनसे परिचित होना बाल-वृद्ध सभी आयु वर्गों के लिए प्रेरणास्पद है।

विश्व इतिहास में भारतीय संस्कृति और ज्ञान की गौरवमयी परम्परा भी ऐसे ही मनीषियों की अनन्त साधना, प्रतिभा और तपस्या के कारण आज की ऊँचाइयों को छू सकी। इस पुस्तक 'महापुरुषों की जीवनियाँ' का प्रकाशन इसी उद्देश्य के साथ किया गया था कि भारतीय जनमानस अपने देश की विभूतियों की प्रेरक जीवनी और उनकी असाधारण उपलब्धियों से परिचित हो सके। इस पुस्तक के सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान श्री लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय' हैं, जो स्वयं भी भारतीय संस्कृति और साहित्य के गंभीर अध्येता थे। इसमें देश की 51 महान विभूतियों की जीवनी सरल हिन्दी में प्रस्तुत की गयी हैं। इनके लेखक भिन्न-भिन्न अवश्य हैं, परन्तु कुशल सम्पादन के कारण पुस्तक का प्रवाह कहीं भी प्रभावित नहीं होता।

हमें हर्ष है कि उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से प्रकाशित इस पुस्तक की मांग हमेशा रही है। विशेषकर बाल व किशोर पाठकों के बीच इसकी लोकप्रियता इसलिए भी है क्योंकि जीवनियों की प्रस्तुति के दौरान इसका विशेष ध्यान रखा गया है कि न केवल प्रेरक व्यक्तित्व के जीवन के सभी पक्ष आ जाएं, अपितु उनसे सम्बन्धित घटनाओं आदि के माध्यम से रोचकता बनी रहे। इस तरह विशेषकर बालमन 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की पृष्ठभूमि में स्वयं भी उन्हीं जैसा बनने को प्रेरित होता है। विभिन्न प्रेरक जीवनियों के लेखकों और विशेष रूप से पुस्तक के यशस्वी सम्पादक श्री लीलाधर पर्वतीय के इस अनुपम योगदान के प्रति आदर और श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए इस पुस्तक 'महापुरुषों की जीवनियाँ' के तृतीय संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान गौरवान्वित है। आशा है, बाल, किशोर और जिज्ञासु पाठक पूर्ववत इस नवीनतम संस्करण से भी लाभान्वित होंगे।

डॉ० सुधाकर अदीब

निदेशक

निवेदन

यह सही है कि निरंतर प्रयास और आगे बढ़ने में अटूट विश्वास समस्त मानवजाति की धरोहर है, परन्तु यह विशेषताएँ भी उसमें लम्बे कालक्रम में तभी विकसित हो सकीं, जब महान प्रतिभाओं ने समय-समय पर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसे रास्ता दिखाया, उपलब्धियों से उपकृत किया और निरंतर आगे बढ़ते रहने के लिए प्रेरित किया।

उपनिषद काल का 'चरैवेति............चरैवेति' की प्रेरक अवधारणा हो या 'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय' सरीखी आधुनिक लोकोक्ति —–आगे बढ़ने की अदम्य जिजीविषा निश्चय ही मानव जाति की अमूल्य धरोहर है। संसार विशेषकर भारत की महान विभूतियों के प्रति हमें हमेशा ऋणी रहना चाहिए। महान विभूतियों की स्मृति मात्र मनुष्य मात्र में नये जीवन का संचार करती हैं। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान, आविष्कार और मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए बलिदानों तक से न घबराने से सम्बन्धित आख्यान हममें नयी ऊर्जा प्रवाहित करते हैं। निश्चय ही हम ऐसी अमूल्य धरोहर आगत पीढ़ी को सौंपना चाहते हैं। इसीलिए आँख खोलती उम्र हो या किशोर––हम भावी पीढ़ी को ऐसी विभूतियों की प्रेरक जीवनयात्रा से परिचित कराने का भरसक प्रयास करते हैं।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक 'महापुरुषों की जीवनियाँ' इस क्रम में एक स्तुत्य प्रयास है। अगर वैदिक और महाकाव्य युग को अलग रख कर देखा जाय, तो भारत का विधिवत इतिहास भगवान बुद्ध और महावीर के समय से ही उपलब्ध है। यह दोनों असाधारण विभूतियाँ समकालीन थीं और जिस अहिंसा, प्रेम और सर्वधर्म सम्भाव के लिए हमारा लोकतंत्र समर्पित है, उसके आधार उनकी अमर शिक्षाओं में ही निहित हैं। यह संकलन इन्हीं के जीवन परिचय के साथ शुरू होकर क्या किशोर और क्या हम–आप––सभी को प्रभावित करता है। फिर चाहे सम्राट अशोक हो या आदि शंकराचार्य, अकबर हो कबीर–तुलसीदास या आधुनिक युग में गांधी और नेहरू जी, डॉ० अम्बेडकर हो या सुभाष चन्द्र बोस आदि, ऐसी अनेकानेक प्रतिभाओं की जीवनियाँ भारतीय चेतना और समाज को आगे बढ़ाती हैं। विद्वान सम्पादक श्री लीलाधर 'पर्वतीय' ने इसमें ऐसी 51 महान प्रतिभाओं की प्रेरक जीवनियाँ संकलित हैं, जिनके लेखक भिन्न–भिन्न हैं। आशा है, सभी जागरूक पाठक वर्ग इस संकलन की लोकप्रियता को अक्षुण्य रखेंगे, इस तृतीय संस्करण को भी पूर्ववत् अपनायेंगे।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

प्रथम संस्करण की

सम्पादकीय

जीवन–साहित्य बच्चों और किशोरों के लिए विशेष महत्त्व रखता है। महापुरुषों की जीवनियाँ उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देती हैं और उनके उदाहरणों से बच्चे जीवन-संघर्ष का सामना करने के लिए बल प्राप्त करते हैं। वे जीवनी के नायकों के साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं और बचपन तथा किशोरावस्था में पढ़े हुए जीवन-चरित्रों का प्रभाव उनके लिए जीवन व्यापी होता है।

प्रस्तुत संकलन में इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर भारत के कुछ महापुरुषों की जीवनियाँ दी गयी हैं। चेष्टा यह रही है कि जहाँ तक सम्भव हो,सम्पूर्ण ऐतिहासिक काल के महापुरुषों का प्रतिनिधित्व इसमें हो जाय। इनमें प्राचीन धर्म प्रवर्तक हैं, विचारक हैं, समाज सुधारक हैं, राजनीतिज्ञ हैं, प्रशासक हैं, भक्त हैं, कवि और साहित्यकार हैं, और ऐसे महापुरुष और महीयसी भी हैं जिनका देश को स्वतन्त्र कराने तथा पुनर्निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आशा की जाती है कि इन जीवनियों को पढ़ कर पाठकों को अपने देश के अतीत और वर्तमान को समझने में सहायता मिलेगी। वे जानेंगे कि जिस महान भारत के वे उत्तराधिकारी हैं, उसके निर्माण में किसका कितना योगदान है और कितनों के बलिदान और त्याग पर देश की नींव पड़ी है।

इस प्रकार का कोई भी संकलन सम्पूर्ण नहीं हो सकता और यह भी नहीं है। इस क्षेत्र के ही नहीं, इसके अतिरिक्त भी विज्ञान, उद्योग, शिक्षा आदि क्षेत्रों के अनेक ऐसे महापुरुष हैं जिनका योगदान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण रहा है। उनकी जीवनियों का भी एक प्रतिनिधि संकलन बाल पाठकों को उपलब्ध होना चाहिए।

इस संकलन के लिए अधिकाधिक बाल साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया गया। प्रसन्नता की बात है कि अधिकांश प्रमुख और स्थापित बाल साहित्यकारों ने हमारा अनुरोध स्वीकार किया और बहुत अच्छे स्तर की जीवनियाँ लिख कर भेजीं। वे सब हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। किन्तु कुछ लेखकों से कोई सूचना भी नहीं मिली पायी। चयनित महापुरुषों की जीवनियाँ देना आवश्यक समझ कर इसकी पूर्ति सम्पादक को करनी पड़ी है। यदि सब साहित्यकारों ने हमारा अनुरोध स्वीकार किया होता तो संकलन में एक व्यक्ति की लिखी हुई एक ही जीवनी जाती। पर यह नहीं हो सका।

साहित्यकारों से ६ से १४ वय वर्ग के पाठकों के लिए जीवनियाँ लिखने का अनुरोध किया गया था। इस वय वर्ग की बालक-बालिकाएँ सामान्यतः कक्षा सात-आठ तक पहुँच जाते हैं। प्रस्तुत जीवनियों की भाषा इन कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों की भाषा से काफी सरल है। हाँ, कुछ जीवनियों में विषय के कारण दर्शन आदि की ऐसी बातें अवश्य आ गयी हैं जिनको यह पाठक वर्ग अभी आत्मसात न कर पायगा। आशा करनी चाहिए कि वे ऐसी जीवनियों के विवरणात्मक अंशों का लाभ उठा कर शेष विवेचना भविष्य में समझने के लिए सुरक्षित रखेंगे।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने बच्चों के लिए साहित्य-निर्माण की अपनी योजना के अन्तर्गत मुझे यह कार्य सौंपा था। इसके लिए मैं संस्थान के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं इस कार्य में कहाँ तक सफल हुआ, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे। जीवनियों का यथाशक्ति प्रामाणिक रूप में देने का यत्न किया गया है। फिर भी यदि कहीं कोई विसंगति प्रतीत हो तो पाठकों से निवेदन है कि वे इस ओर ध्यान दिलाने का कष्ट करें जिससे अगले संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके। हमें आशा है, यह संकलन बाल पाठकों के साथ-साथ वयस्कों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा।

पुस्तक में जीवनियों के क्रम का निर्धारण यथासम्भव महापुरुषों के कार्यकाल या जन्मतिथियों को ध्यान में रखकर किया गया है।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

अनुक्रम

वर्द्धमान महावीर

—द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। उस समय भारत में अज्ञान का अंधेरा छाता जा रहा था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में मिथ्या क्रिया–कलाप और अंधविश्वास फैलते जा रहे थे। धर्म के नाम पर निरीह पशुओं को तलवार के घाट उतार देना मामूली बात हो गयी थी। जिस मनुष्य–जाति को एक सूत्र में बंधकर रहना चाहिए था, वह जात–पांत के, ऊँच–नीच के भेदभावों में बँटती जा रही थी। स्त्रियों की स्थिति भी बड़ी दयनीय थी। एक विद्वान विचारक के शब्दों में– "कट्टरतापूर्ण अज्ञान, मिथ्या विश्वासों के क्रियाकलाप तथा समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का लूटा जाना", यही तीन उस युग की विशेषताएँ थीं।

वर्द्धमान का जन्म :

ऐसे समय में आम जनता इस प्रतीक्षा में थी कि भारत के क्षितिज पर कोई ऐसा सूर्य उदय हो जो अपने चारों ओर फैले अन्धकार के आवरण को चीर कर तो निकले ही समाज में फैले पाखंड, आडम्बर और अज्ञान के अंधकार को भी दूर करे तथा उसे एक नये प्रकाश से जगमगा दे। और, हुआ भी ऐसा ही।

भारत के बिहार प्रदेश में वैशाली नाम का एक गणराज्य था। उस गणराज्य में "क्षत्रिय कुंड" नाम का एक नगर था। यह नगर ज्ञातवशीय क्षत्रियों का प्रधान केन्द्र था, उनकी एक छोटी सी राजधानी थी। यहाँ ज्ञातक्षत्रियों के राजा सिद्धार्थ शासन करते थे। राजा सिद्धार्थ की रानी थी त्रिशला।

चैत्र का पावन महीना था। शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी का दिन था। इन्हीं सिद्धार्थ शासक के यहाँ त्रिशला रानी की कोख से एक बालक का जन्म हुआ था। माता–पिता ने इस बालक का नाम रखा– वर्द्धमान। आगे चलकर यह बालक वर्द्धमान एक बड़े

ही मेधावी, योग्य व पराक्रमी महापुरुष के रूप में सामने आया। इससे वह जन-जन में "महावीर" के नाम से प्रसिद्ध हो गया और आज हम उस यशस्वी बालक को "वर्द्धमान महावीर" के नाम से जानते हैं। वस्तुतः "वर्द्धमान महावीर" का जन्म भारतीय क्षितिज पर एक ऐसे ही सूर्य का उदय था जिसके प्रकाश की किरणों से भारत-भूमि का कोना-कोना जगमगा उठा।

एक लोकोक्ति है-

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात"।

इसका आशय यह है कि जो बालक होनहार होते हैं, उनके लक्षण पहले ही से दिखायी देने लगते हैं। बालक वर्द्धमान महावीर के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती थी। वे बड़े ही होनहार बालक थे। उनमें अपार मेधा-शक्ति थी और अदम्य साहस। भय नाम की चीज तो उन्हें छू तक नहीं गयी थी। उनकी इन विशेषताओं की अनेक कहानियाँ जैन-साहित्य में मिलती हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख कर देना यहाँ समीचीन ही होगा।

उस समय "क्षत्रिय कुंड" के किसी विद्वान ब्राह्मण का एक गुरुकुल था। उस गुरुकुल में राजाओं, सेनापतियों तथा राजपुरोहितों के पुत्र दूर-दूर से विद्याध्ययन करने आते थे। उस गुरुकुल का छात्र होना बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। बालक वर्द्धमान की आयु उस समय आठ वर्ष की थी। उन्होंने इस गुरुकुल में अपनी विलक्षण प्रतिभा से अपने आचार्य को चकित कर दिया था। इस पर आचार्य के मुँह से सहसा निकल पड़ा था- "यह शिशु नहीं, साक्षात् सरस्वती है। इसे कोई क्या ज्ञान देगा? सूर्य को पथ दिखाने के लिए क्या कहीं दीपक जलाये जाते हैं?"

एक दूसरी कहानी-एक बार की बात है। बालक महावीर अन्य बालकों के साथ नगर के बाहर एक वन में खेल रहे थे। सहसा, एक वृक्ष के नीचे एक भीमकाय अजगर जैसा सर्प फुफकारता हुआ दिखायी दिया। सारे बच्चे भय के मारे काँपने लगे, भागने लगे। किन्तु बालक महावीर तो महावीर! क्या प्रातःकालीन बालरवि अपने चारों ओर के गहन अंधकार से कभी डरा है?

बालक महावीर तुरन्त दौड़ कर उस महाकाय सर्प के पास गये। उन्होंने उसे देखा

और मुस्कराये। बोले– "नागराज"। यहाँ इस खेल के मैदान में तुम्हारा क्या काम? और हँसते–मुस्कराते हुए उन्होंने उस महाकाय सर्प को उठा लिया तथा खेल के मैदान से दूर झाड़ी में डाल आये।

बालक वर्द्धमान के दृढ़संकल्पी मन की एक लघुकथा भी उल्लेखनीय है। एक दिन की बात है। बालक वर्द्धमान एक शेर के लिए मचल पड़े। जब उनके मन की नहीं हुई तो वे राजमहल में कहीं इधर छिपते, कहीं उधर। कहीं गली–गलियारों में भाग जाते। अगर पकड़ में आ जाते तो कहते– माँ से कह दो, मुझे पक्षी नहीं, शेर चाहिए। जब शेर ला दोगे तो मैं माँ के पास जा जाऊँगा।

एक दिन उनकी माता त्रिशला ने शेर का खिलौना लाकर उन्हें दे दिया। बालक वर्द्धमान उनकी गोद में लिपट गया। लेकिन एक बार एक सेविका ने वर्द्धमान को चिढ़ाने के लिए हाथी का खिलौना दिखाते हुए कहा– कुमार! तुम्हारा सिंह तो नकटा है। उसके हाथी जैसी नाक तो है ही नहीं। वर्द्धमान तुरन्त माँ के पास गये। माँ ने बहुत समझाया, पर वे नहीं माने। माता–पिता के धमकाने से वे और अधिक मचल पड़े।

इस पर राजा सिद्धार्थ ने अपने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री ने सारी बात समझ कर राजा से निवेदन किया– महाराज! बालक को डाँटिये मत। किसी कुशल शिल्पी से एक नाकदार सिंह का खिलौना बनवाकर उसे दे दिया जाय तो बालक का हठ समाप्त हो जायगा। और थोड़ी ही देर में मन्त्री जी एक नाकदार शेर का खिलौना बनवाकर ले आये। वह उन्होंने बालक वर्द्धमान को दे दिया। बालक का मन प्रसन्न हो गया। उसने उस चिढ़ाने वाली सेविका को वह खिलौना दिखाते हुए कहा– "देखो, अब तो मेरा सिंह नकटा नहीं है।" उस सेविका ने बालक वर्द्धमान के दृढ़संकल्पी मन की सराहना की। वस्तुतः वर्द्धमान को मनचाहा खिलौना मिलने की तो खुशी थी ही, उससे भी अधिक उसे अपना संकल्प पूरा हो जाने की प्रसन्नता थी।

पारिवारिक जीवन :

जैन धर्म के अनुयायियों की दो प्रमुख शाखाएँ हैं (१) दिगम्बर (२) श्वेताम्बर। दिगम्बर वह शाखा है जिसके साधु वस्त्रों का त्याग कर देते हैं। श्वेताम्बर वह शाखा है जिसके साधु श्वेताम्बर अर्थात् सफेद वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर शाखा के

अनुयायियों के अनुसार महावीर ब्रह्मचारी ही रहे, पर श्वेताम्बरों के अनुसार उनका विवाह राजा समरवीर की पुत्री "यशोदा" के साथ हुआ। महावीर का गृहस्थ जीवन बड़े आनन्द और सुख से बीता। सांसारिक सुख-सुविधाओं की उन्हें कोई कमी भी नहीं थी। परन्तु सांसारिक सुखों से उनका बाल्यावस्था से ही कोई लगाव नहीं था। वे तो घंटों सांसारिक दुखों के कारणों तथा उनके निवारण के उपायों पर सोचते रहते थे।

विश्व-परिवार की ओर :

महावीर की अवस्था अट्ठारह वर्ष के करीब थी कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। उनके समस्त परिवार ने राजसिंहासन के लिए उनसे अपनी और प्रजा की ओर से बड़ा आग्रह किया, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। वे इस निर्णय पर पहुँच चुके थे कि भारत में जो सामाजिक और धार्मिक अव्यवस्था है, उसके सुधार के लिए परिवार की सीमाओं को लाँघकर एक विश्व-परिवार का आदर्श सामने रखकर काम करना होगा। अपने इस निर्णय के अनुसार राज्य-वैभव को त्यागकर, पीड़ित मानवता की सुख-शान्ति के लिए वे तीस वर्ष की अवस्था में ही वीतराग भिक्षु बन कर निकल पड़े।

साधना के पथ पर :

ज्यों ही भगवान महावीर ने अपने लक्ष्य-सिद्धि के लिए साधना के पथ पर पैर रखे त्यों ही सबसे पहले उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक मुझे 'कैवल्य' अर्थात् 'पूर्ण बोध' प्राप्त नहीं हो जायगा मैं सामूहिक जन-सम्पर्क से अलग रहूँगा। उनका दृढ़मत था कि जब तक मनुष्य अपने जीवन को नहीं सुधार लेता तब तक वह दूसरों के जीवन को नहीं सुधार सकता। अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए महावीर की वह साधना बारह वर्षों तक अबाध गति से चलती रही। साधना के तेरहवें वर्ष में उन्हें 'कैवल्य' अर्थात् 'पूर्ण बोध' की प्राप्ति हुई। वे 'नर' से 'नारायण' तथा 'आत्मा' से 'परमात्मा' बने। वे अब 'अर्हन्त' (योग्यतम), 'जिन' (इन्द्रियों को जीतने वाले) तथा 'तीर्थंकर' (उपास्यदेव) कहलाये।

सिद्धान्त-सार :

कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् महावीर लोक-मंगल की भावना से घूम-घूम

कर धर्म का प्रचार करने लगे। उन्होंने उस समय के समाज में फैली रूढ़ियों, अज्ञानताओं, अंधविश्वासों आदि के विरोध में शंखनाद किया। यज्ञों में मूक पशुओं की बलि दिये जाने के सम्बन्ध में उन्होंने उद्घोष किया कि अगर हम किसी को जीवन नहीं दे सकते तो उसे मारने का भी हमें क्या अधिकार है? जाति-पाँति के भेद-भावों पर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा कि कोई मनुष्य जन्म से ऊँच या नीच नहीं होता। आदमी-आदमी सब बराबर हैं। उन्होंने नारियों की स्वतन्त्रता पर भी बड़ा बल दिया। उन्होंने यह बात भी जोर देकर कही कि 'जनसेवा' ही सच्ची 'जिन-सेवा' है। उन्होंने अपने निम्नांकित सिद्धान्त भी जन-जन के सामने रखे :—

१. आत्मा जैसा कार्य करती है, उसे वैसा ही फल मिलता है।

२. प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या स्थिति को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखना, परखना और समझना चाहिए, केवल एक दृष्टिकोण से नहीं। उनके इस सिद्धान्त को 'अनेकान्तवाद' या 'स्वादवाद' कहा गया।

३. संसार में विचार और चिंतन के जितने भी तरीके हैं, उन सबके समन्वय से ही कार्य में सफलता मिलती है। हमें किसी एक दृष्टिकोण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिए।

उपदेशामृत :

भगवान महावीर ने जिन पाँच व्रतों के पालन का उपदेश दिया वे इस प्रकार हैं—

१. **अहिंसा** : 'अहिंसा परमोधर्मः'। अर्थात् अहिंसा ही परमधर्म है।

अहिंसा का अर्थ है- प्रेम, करुणा, दया, सेवा, सहयोग, जीओ और जीने दो का आदर्श आदि। इसका तात्पर्य है मन, वचन और कार्य से किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचाना।

२. **सत्य** : मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन करना।

३. **अस्तेय** : किसी भी प्रकार की चोरी न करना। किसी भी वस्तु को बिना उसके स्वामी की अनुमति के न लेना।

४. **अपरिग्रह** : किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक मात्रा में संग्रह न

करना।

५. **ब्रह्मचर्य** : सभी प्रकार की वासनाओं को त्याग कर संयम का जीवन बिताना।

निर्वाण–प्राप्ति :

क्या गरीब, क्या अमीर, क्या सामान्य जन, क्या विशिष्ट जन, सभी पर भगवान महावीर के उपदेशों का बड़ा गहरा असर पड़ा। धर्म का निरन्तर प्रचार करते हुए आधुनिक बिहार राज्य में पावापुरी नामक स्थान पर उनका निर्वाण हुआ। निर्वाण के समय उनकी आयु ७२ वर्ष की थी।

यद्यपि भारत के क्षितिज पर उदित हुआ वह देदीप्यमान सूर्य अस्त हो गया, तथापि उसके प्रकाश की किरणों से आज भी संसार आलोकित हो रहा है।

ए–४६
आलोक नगर, आगरा–१०

गौतम बुद्ध

—निरंकार देव सेवक

हमारे देश में चार महापुरुष ऐसे हुए हैं जिनके नाम घर-घर बच्चा-बच्चा जानता है। यह थे राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध और महात्मा गाँधी। इनमें से महात्मा गाँधी को देखने और बोलते हुए सुनने वाले कुछ लोग अब भी देश में हो सकते हैं। राम, कृष्ण और गौतम बुद्ध अत्यन्त प्राचीन काल में हुए थे। उनके जन्म दिन सारे देश में प्रसन्नता पूर्वक मनाये जाते हैं।

गौतम बुद्ध का जन्म अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले वैशाखी पूर्णिमा के दिन बिहार के लुंवनी नामक वन में उस समय हुआ था जब उनकी माता महामाया अपने पति शुद्धोधन के घर से अपने पिता के घर जा रहीं थीं। शुद्धोधन कपिलवस्तु नाम के एक छोटे से राज्य के राजा थे। उन्होंने अपने पुत्र का नाम सिद्धार्थ रखा था। उनके जन्म के कुछ ही दिन बाद माता महामाया का देहान्त हो गया था। उनकी मौसी गौतमी ने उन्हें पाला-पोसा था। इसलिए बड़े होकर जब वह बुद्ध (बुद्धिमान) हुए तो उन्हें गौतम बुद्ध कहा जाने लगा था।

सुख-चैन का बचपन :

राजा का पुत्र होने के कारण बचपन में उन्हें सारे सुख प्राप्त थे। अच्छी से अच्छी खाने-पीने की वस्तुएं, तरह-तरह के खेल-खिलौने और मनोरंजन के सारे साधन उन्हें प्राप्त थे। दास-दासियाँ और नौकर-चाकर उनकी सेवा में हर समय लगे रहते थे। पर उनका मन किसी का जरा सा भी दुख देखकर बहुत जल्दी दुखी होने लगता था। वह अपने पिता की सबसे बड़ी सन्तान थे, इसलिए वह उन्हें राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। पर वह दूसरों का दुख देखकर यह भी भूल जाते थे कि वह एक राजकुमार हैं। वह अपने पिता के खेतों में घूमने निकल जाते और उनका

हल लेकर खुद चलाने लगते थे।

मारने वाले से बचाने वाला बड़ा :

एक बार उनके चचेरे भाई देवदत्त ने तीर चलाकर एक उड़ते हुए पंछी को घायल कर दिया। वह तड़फड़ाता हुआ भूमि पर आ गिरा तो उनका मन दया से भर गया। वह पास जाकर पंछी को उठाने लगे। तभी देवदत्त ने चिल्लाकर कहा– "यह पंछी मेरा है इसे मत छुओ।"

उन्होंने कहा —

"यह पंछी मारने वाले का नहीं बचाने वाले का है।"

एक बार उन्होंने एक बीमार आदमी को देखा और सोचने लगे– यह बीमार क्यों है। इसके दुख–कष्ट को कैसे दूर किया जा सकता है। एक बार उन्होंने एक बूढ़े और दुर्बल आदमी को कष्ट के साथ लाठी के सहारे चलते देखा तो सोच में पड़ गये कि मनुष्य बूढ़ा क्यों होता है और मर क्यों जाता है। मृत्यु से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है।

घर का त्याग :

उनके पिता शुद्धोधन ने अपने पुत्र को हर समय किसी न किसी सोच या चिंता में पड़े देखकर महल में उनका मन लगाने के अनेक उपाय किये। जब वह बड़े हो गये तो उनका विवाह एक अत्यन्त रूपवती और सुशील कन्या यशोधरा से कर दिया। उससे उनके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल था। पर यह सब भी उनकी उदासी को दूर न कर सका। वह हर समय यह सोचते रहते थे कि दुनिया के सब मनुष्य सुखी हों– इसका क्या उपाय होना चाहिए। इसी सोच में पड़े–पड़े वह एक दिन आधी रात के समय यशोधरा और राहुल को गहरी नींद में सोता हुआ छोड़कर घर से निकल कर चल दिये।

कठोर तपस्या :

घर छोड़ने के बाद सिद्धार्थ राजकुमार से भिक्षुक बन गये। वे उस समय के बड़े–बड़े विद्वान् विचारकों की शरण में घूमते फिरे कि कोई उन्हें दुख दूर करने और सुख से रहने का उपाय बताये। इससे उन्हें ज्ञान तो बहुत प्राप्त हुआ पर उनके

सारे प्रश्नों के उत्तर न मिल सके। इससे निराश होकर उन्होंने किसी से कुछ पूछने का विचार ही त्याग दिया। वह 'गया' में जाकर एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ गये और स्वयं अपनी बुद्धि से कोई उपाय समझने की चेष्टा करने लगे। वह वृक्ष के नीचे ही रहते और वहीं उन्हें जो कोई कुछ खाने को लाकर दे देता खा लेते थे। हर समय यह सोचते रहते कि संसार के सब मनुष्य सुखी हों इसका क्या उपाय हो।

ज्ञान प्राप्त :

इस प्रकार उस पीपल के वृक्ष के नीचे रहते सात वर्ष बीत गये। एक दिन सबेरे जब वह ध्यान मग्न बैठे थे- सूर्य की किरणें उनके मुख पर पड़ रहीं थीं। उन्हें स्वयं अपनी बुद्धि से यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि संसार नाशवान है और मनुष्यों के दुख का कारण मोह है। इस मोह से छुटकारा पाना ही मोक्ष का निर्वाण है और यह मनुष्य सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने से ही प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ है- मन, वचन, कर्म से सच्चे बनो और कभी किसी को कोई कष्ट मत दो। उनके अपनी बुद्धि से यह ज्ञान प्राप्त करने को उनका बुद्धत्व प्राप्त करना कहते हैं।

धर्म चक्र प्रवर्तन :

गया से चलकर गौतम बुद्ध सारनाथ गये और लोगों को अपने ज्ञान की बातें समझाने लगे। वह कहते थे- अपने दीपक अपने आप बनो। किसी दूसरे की बातों में मत आओ। अपनी बुद्धि, विवेक से काम लो। उनके ज्ञान की बातों से लोग इतने प्रभावित हुए कि सैकड़ों की संख्या में उनके शिष्य या अनुयायी बन गये। इसे उनका धर्म चक्र प्रवर्तन कहा जाता है। सारनाथ से चलकर वह जगह-जगह अपने ज्ञान-धर्म का प्रचार करने लगे। सारिपुत्र, मौदग्लायन और महाकाश्यप इन तीनों शिष्यों ने धर्म प्रचार में उनका बहुत साथ दिया।

८० वर्ष की आयु में जब वह अपने कुछ शिष्यों के साथ धर्म प्रचार कर रहे थे तो एक दिन उन्हें किसी ने भिक्षा में कुछ अशुद्ध भोजन खाने को दे दिया। इससे पेट में दर्द के कारण उनका देहान्त हो गया।

गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद भी बौद्ध धर्म खूब फैलता रहा। कई सौ साल बाद जब मगध सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया तो उसने भारत में फैले अपने राज्य के अतिरिक्त बाहर विदेशों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार कराया। इस प्रकार

बौद्ध धर्म श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, स्याम, जापान, चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान तक फैल गया। अशोक ने जगह-जगह शिला-लेख लगवाये और स्तूप तथा स्तम्भ बनवाये। उन्हीं में से सारनाथ में मिले एक स्तम्भ पर चक्र और चार सिंहों के मुख अंकित हैं। इन्हें भारत सरकार ने राज चिह्न के रूप में प्रयोग के लिए अपना लिया है।

गौतम बुद्ध की मृत्यु के लगभग एक हजार वर्ष तक बौद्ध धर्म भारत का मुख्य धर्म था। दूर-दूर देशों से यात्री यहाँ धर्म की शिक्षा लेने आते थे। उनमें दो चीनी यात्री फाह्यान और ह्वानसांग बहुत प्रसिद्ध हैं। तक्षशिला और नालन्दा बौद्ध धर्म की शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव कम इसलिए हो गया कि उसके अनुयायी बुद्ध के ज्ञान की शिक्षा को भूल कर उन्हें भगवान मानने और उनकी मूर्तियों को पूजने लगे। बाद में गौतम बुद्ध को भी राम और कृष्ण की तरह ईश्वर का अवतार माना जाने लगा।

१८५, सिविल लाइन्स
बरेली

●

आचार्य चाणक्य

—चन्द्रपाल सिंह यादव 'मयंक'

आचार्य चाणक्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था, किन्तु इतिहास में वह चाणक्य नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आचार्य चाणक्य हमारे देश के महापुरुषों में से एक हैं। वह आज से कोई तेइस सौ वर्ष पूर्व मगध प्रान्त में पैदा हुए थे। उस समय मगध भारत का एक बहुत बड़ा और शक्तिशाली राज्य था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह पाटलिपुत्र ही आजकल पटना कहा जाता है, जो इन दिनों बिहार प्रदेश की राजधानी है।

उस समय मगध में महाराज नन्द का राज्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य इन्हीं महाराज नन्द का पुत्र था, किन्तु नन्द की मृत्यु हो जाने पर राज्य के कुचक्रों के कारण परिस्थितिवश चन्द्रगुप्त को अपनी माता के साथ निर्वासित जीवन बिताना पड़ रहा था।

असाधारण राजनीतिज्ञ :

कूटनीतिज्ञ के रूप में आचार्य चाणक्य का स्थान भारतीय राजनीति में सर्वोपरि आता है। एक साधारण युवक–चन्द्रगुप्त को मगध–साम्राज्य का अधिपति बना देना साधारण बात नहीं थी। यह असम्भव सा कार्य आचार्य चाणक्य ने ही अपने जीवन में करके दिखा दिया था। उन्होंने युवक चन्द्रगुप्त को 'मगध–सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य' बना दिया था। चाणक्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने राजनीति को ऐसा रूप दिया कि वह एक शास्त्र बन गयी और स्वयं चाणक्य का नाम राजनीति का पर्याय बन गया। आचार्य चाणक्य भारतीय राजनीति के जन्मदाता माने जाते हैं। इस महान् कूटनीतिज्ञ का पूरा जीवन–परिचय अन्धकार में है। वह कौन थे? क्या थे? इतिहास में इसका पता नहीं है।

कुशा की जड़ में मट्ठा :

चाणक्य के जीवन की एक घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है। जब वह तक्षशिला विद्यापीठ

में अपनी शिक्षा पूरी करके पाटलिपुत्र लौट रहे थे, तो पाटलिपुत्र के निकट कुशा नामक नुकीली घास उनके पैर में चुभ गयी। पैर से खून निकलने लगा और तीव्र जलन होने लगी। तब उन्होंने सोचा कि पाटलिपुत्र तो मैं बाद में जाऊँगा पहले मैं इस कुशा को ही जड़-मूल से नष्ट करूँगा। वह पूरे मनोयोग से उस घास को खोद करके निकालने में जुट गये। वह उस घास को खोद-खोद कर उखाड़ते जाते थे और उसकी जड़ में मट्ठा डालते जाते थे।

तभी उधर से मगध राज्य के मन्त्री शकटार निकले। उन्होंने यह घटना देखी। तो वह अचरज से चाणक्य को देखते रह गये। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा 'यह क्या कर रहे हो?'

"मेरा नाम चाणक्य है। मैं इधर जा रहा था। यह कुशा मेरे पैर में चुभ गयी। खून निकल आया। बड़ी पीड़ा हुई। अब मैं इसे नष्ट कर रहा हूँ।" चाणक्य ने उत्तर दिया। पैर में कुशा चुभ गयी तो यह भला आदमी सारी घास को खोदे डाल रहा है। यही नहीं उसकी जड़ में मट्ठा भी डाल रहा है, ताकि भविष्य में वह घास न उगे और जड़-मूल से नष्ट हो जाय।

तब शकटार ने चाणक्य से कहा – 'आप इतनी मेहनत क्यों करते हैं। मैं कल मजदूरों से यह घास उखड़वा कर नष्ट करवा दूँगा। आप मेरे साथ चलें। शकटार चाणक्य को साथ लिवा लाया। अगले दिन शकटार ने मजदूरों से वह कुशा उखड़वा दी। चाणक्य शकटार के व्यवहार से प्रसन्न हुआ।

चोटी खोल कर प्रतिज्ञा :

एक दिन शकटार ने चाणक्य को बताया कि महाराज योगानन्द के यहाँ श्राद्ध है। किसी ब्राह्मण को भोजन कराना है। भोजन के लिए आपसे अच्छा ब्राह्मण कौन मिल सकता है? यदि आपको स्वीकार हो तो भोजन के लिए चलें।

चाणक्य ने श्राद्ध में भोजन करना स्वीकार कर लिया। शकटार ने चाणक्य को महाराज से परिचित करा दिया। महाराज योगानन्द चाणक्य को देख कर प्रसन्न हुए।

श्राद्ध के दिन शकटार ने चाणक्य को ले जाकर भोजन के आसन पर बैठा दिया। उसी समय महाराज योगानन्द का पुराना ब्राह्मण सुबन्धु वहाँ आ गया। वह श्राद्ध के भोजन पर अपना अधिकार समझता था। उसने मन्त्री शकटार से विवाद प्रारम्भ कर

दिया कि मैं महाराज का पुराना ब्राह्मण हूँ। श्राद्ध का भोजन मैं करूँगा। श्राद्ध के भोजन पर मेरा अधिकार है।

इस विवाद के बढ़ने पर महाराज योगानन्द ने चाणक्य को भोजन के आसन से उठवा दिया। यह व्यवहार देख कर चाणक्य का क्रोध भड़क उठा। उसने अपनी चोटी खोलते हुए कहा– 'यह राजा अपने धन और बल के घमंड में अंधा हो गया है। मैं अपनी चोटी खोल कर शपथ लेता हूँ कि अब जब तक इस राजा का वंश नाश न कर लूँगा, तब तक अपनी शिखा में गाँठ न लगाऊँगा।

चाणक्य की बातें सुनकर महाराज योगानन्द हक्का–बक्का रह गया फिर तुरन्त उसे क्रोध चढ़ आया। वह तलवार लेकर चाणक्य को मारने के लिए झपटा। चाणक्य किसी प्रकार वहाँ से निकल भागा। महाराज योगानन्द ने इस धमकी को कोरी बकवास समझा और इस पर कोई ध्यान न दिया।

मगध का राज्य चन्द्रगुप्त को :

चाणक्य ने जो बात कह दी थी, उसे पूरी करने में वह जी–जान से जुट गया। रात होने पर वह शकटार से मिला। दोनों ने मिल कर सलाह की। उन्होंने चन्द्रगुप्त को अपने साथ मिला लिया।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य पाटलिपुत्र से बाहर चले गये। फिर वे दोनों राजा पर्वतेश्वर से जाकर मिले और उसे मगध का आधा राज्य देने का लालच दिया। पर्वतेश्वर भी शक्तिशाली राजा था। वह आधे राज्य के लालच में आ गया। फिर चाणक्य अपनी कूटनीतिक चालों से धीरे–धीरे अपनी लक्ष्य–पूर्ति की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते गये और एक दिन उन्होंने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को मगध राज्य का अधीश्वर बना दिया।

राक्षस को मन्त्रिपद :

मगध में अभी भी कुछ लोग महाराज चन्द्रगुप्त का विरोध कर रहे थे। उनमें प्रमुख पूर्व अमात्य राक्षस था। चाणक्य ने मन में विचार किया कि यदि राक्षस महाराज चन्द्रगुप्त का मन्त्री बन जाय, तो सब विरोध समाप्त हो जायगा।

चाणक्य ने अमात्य राक्षस के मित्र सेठ चन्दन दास को पकड़ मंगवाया। उस पर यह अभियोग लगाया कि उसने अमात्य राक्षस के परिवार को अपने यहाँ छिपाकर रख छोड़ा है। साथ ही यह भी आरोप लगाया कि वह अमात्य राक्षस की सहायता और महाराज चन्द्रगुप्त का विरोध करता है। इन अपराधों के कारण सेठ चन्दन दास

के वध की आज्ञा दे दी गयी।

जब अमात्य राक्षस को यह ज्ञात हुआ कि उसके कारण उसके मित्र सेठ चन्दन दास के प्राण लिए जायेंगे, तो वह बहुत घबराया। वह सच्चा मित्र था।

अमात्य राक्षस अन्त में मित्र के प्राण बचाने के उद्देश्य से चाणक्य के पास पहुँचा। चाणक्य ने कहा– 'चन्दन दास को छुड़ाने का एक ही उपाय है कि तुम स्वामिभक्ति की शपथ लेकर महाराज चन्द्रगुप्त के मन्त्री बन जाओ।'

अमात्य राक्षस मन्त्री नहीं बनना चाहता था। पर चाणक्य के समझाने से मान गया। विवश होकर उसे महाराज चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना पड़ा और स्वामिभक्ति की शपथ लेनी पड़ी।

इस प्रकार आचार्य चाणक्य ने महाराज चन्द्रगुप्त को सम्राट बना कर अमात्य राक्षस को उसका मन्त्री बना दिया।

आचार्य चाणक्य ने मन्त्री का काम छोड़ दिया। पर देश की सारी राजनीति पर उसकी तीव्र निगाह बराबर बनी रहती थी। वह स्वय विद्यार्थियों को अर्थशास्त्र और राजनीति पढ़ाया करते थे। अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर उन्होंने 'कौटलीय अर्थशास्त्र' लिखा। यहअर्थशास्त्र की बहुत उत्तम पुस्तक है।

सम्राट चन्द्रगुप्त और उसके मन्त्री आचार्य चाणक्य का गुरु के समान आदर करते थे। उस जमाने में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के समान उतना बड़ा साम्राज्य और किसी राजा का नहीं था।

परिश्रमी और दृढ़ निश्चयी :

आत्म–विश्वास, दूर दृष्टि, दृढ़ निश्चय और कठोर परिश्रम ही जीवन में ऊँचा उठने की सीढ़ी है। ये ही सद्गुण मनुष्य को उन्नति के एवरेस्ट पर पहुँचा सकते हैं। आचार्य चाणक्य के अन्दर आत्म–विश्वास, दृढ़ निश्चय और कठोर परिश्रम की कमी न थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने जीवन में सफलता प्राप्त की और अपना अपमान करने वालों को उन्होंने दंडित किया। आत्म–सम्मान भी मनुष्य के लिए अत्यावश्यक है। आत्म–सम्मान रहित व्यक्ति जीवन में कदापि ऊँचा नहीं उठ सकता।

आचार्य चाणक्य अत्यन्त विद्वान थे। वे तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य

थे। उन्होंने अर्थशास्त्र की भाँति नीति–शास्त्र पर भी एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'चाणक्य नीति–दर्पण' की रचना की थी, जिसमें राजनीति–विषयक सत्तरह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में मनुष्य–मात्र के लिए जीवनोपयोगी नीति–शास्त्र विषयक श्लोक हैं।

चाणक्य नीति :

आचार्य चाणक्य के नीति–शास्त्र के श्लोक कितने उपयोगी हैं, यह दिखाने के लिए कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं :—

माता शत्रुः पिता बैरी येन बालो न पाठितः।

न शोभते सभामध्ये हंस मध्ये बको यथा।।

शिक्षा का महत्त्व बतलाते हुए आचार्य चाणक्य कहते हैंः–

'वे माता और पिता शत्रु के समान हैं जो अपने बच्चों को पढ़ाते नहीं हैं। बिना पढ़े–लिखे बालक की वही दशा होती है, जैसे हंसों में बगुला शोभा नहीं पाता।'

एकेनापि सुपुत्रेण विद्या युक्तेन साधना।

आह्लादितं कुलं सर्व यथा चन्द्रेण शर्वरी ।।

'एक ही पुत्र हो, वह विद्वान, साधुचरित्र का हो, तो सम्पूर्ण कुल ऐसा आनन्दित हो जाता है जैसे एक ही चन्द्रमा से रात्रि शोभायमान हो जाती है।'

आचार्य चाणक्य ने अपने ग्रन्थ 'चाणक्य नीति–दर्पण' में श्लोक के द्वारा जीवनोपयोगी नीति युक्त अनेक सद्शिक्षाएँ दी हैं। आचार्य चाणक्य का यह ग्रन्थ सभी को अवश्य पढ़ना चाहिए।

२६१, फेथफुलगंज कैण्ट,
कानपुर–२०८००४

सम्राट चन्द्रगुप्त

—डॉ० राष्ट्रबन्धु

एक परिवार बिहार के पिप्लवीकानन से आकर पाटलिपुत्र में रहने लगा। परिवार का मुखिया क्षत्रिय था और नरेश घननन्द के यहाँ सेनापति था। उसे लोग मौर्य कहते थे। घननन्द ने मौर्य सेनापति को किसी साधारण कारण से एक दिन बन्दी बना लिया। तब पूरा परिवार कठिनाई में पड़ गया। जीविका चलाने में सेनापति की पत्नी को बहुत कष्ट था। आशा का केन्द्र एक शिशु था। उसका नाम था चन्द्रगुप्त।

खेल–खेल में चन्द्रगुप्त अपने शिशु सखाओं के साथ राजा बनता। किसी–किसी के ऊपर सवारी करता तो कहता, घोड़े पर बैठा हूँ। चन्द्रगुप्त का व्यवहार अपनी प्रजा को अनुशासन में रखता था।

होनहार शिशु :

एक दिन चाणक्य ने शिशु चन्द्रगुप्त का यह खेल देखा। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को बहुत प्रभावित किया। उसने चन्द्रगुप्त को प्रणाम करके कहा, 'राजन! दूध के लिए एक गाय चाहिए।'

चाणक्य के निवेदन पर चन्द्रगुप्त ने बिना दीनता दिखाये तत्परता से कहा, 'सामने गायें हैं, जितनी चाहो ले लो।'

तभी चन्द्रगुप्त की माँ आ गयी। उसने दोनों की बातें सुन ली थीं। माँ ने कहा, 'विप्रवर! आप बालक के कहने में न आइये। ये गायें किसानों की हैं। चन्द्रगुप्त इन्हें कैसे दे सकता है?'

शिशु चन्द्रगुप्त ने कहा, 'मैं राजा हूँ। मेरे रहते कोई कैसे इन गायों पर अपना अधिकार बता सकता है?'

खैर, चाणक्य ने गायें तो नहीं लीं लेकिन वह स्वयं उस उदार शिशु पर न्योछावर

हो चुका था। उसने चन्द्रगुप्त की माँ को बताया कि यह शिशु बड़ा होनहार है। पास में कुछ न रहते भी माँ इसकी बहुत धनी है। यह शिशु किसी न किसी दिन अवश्य राजा बनेगा। चन्द्रगुप्त को आप राजसभा में ले जाइए।

चन्द्रगुप्त की माँ ने कहा, 'पाटलिपुत्र के राजा घननन्द ने इस शिशु के पिता को बन्दी बना दिया है। इसलिए हम यहाँ सुरक्षित हैं, वहाँ नहीं। राजा जब चाहेगा इसका वध करा देगा।'

चाणक्य ने कहा, 'जीवन की चिन्ता तुम्हें नहीं करनी चाहिए। जो जन्म देता है, वही मारता है। किसी की मृत्यु का कारण कहने भर को व्यक्ति हो सकता है, बिना ईश्वर की इच्छा के कुछ नहीं होता। मूर्खों की सभा में अभिमानी घननन्द इस बुद्धिमान शिशु का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। और, मैं तो जैसे भी होगा इस भावी राजा की रक्षा करूँगा।'

राजसभा में चतुरता :

साहसी एवं चपल शिशु चन्द्रगुप्त ने घननन्द के पास जाने का हठ किया तो माँ को मानना पड़ा। माँ चन्द्रगुप्त को लेकर घननन्द की राजसभा में पहुँची।

राजसभा में विवाद चल रहा था। एक बड़े कठघरे में एक शेर बन्द था। घननन्द ने कहा, 'बिना पिंजड़ा खोले शेर को कैसे निकाला जा सकता है।'

इस समस्या का समाधान कोई नहीं कर पा रहा था। अवस्था से अधिक बुद्धिमान शिशु चन्द्रगुप्त ने पिंजड़े को देखा और उसके अन्दर शेर को। चन्द्रगुप्त ने तत्काल कहा, 'मैं इसे बिना पिंजड़ा खोले निकाल दूँगा।'

सभासदों ने अट्टहास किया। कौतुक में राजा ने शिशु का परिचय पूछा। यह जानकर कि मौर्य सेनापति का चपल शिशु चन्द्रगुप्त यही है, राजा बहुत क्रोधित हुआ। घननन्द गरजा, 'अगर शेर न निकाल सके तो तुम्हें इस पिंजड़े में बन्द कर दिया जायगा।'

चन्द्रगुप्त भी यह जानता था कि सामने राजा के रूप में यमराज था, जिसने उसके आदरणीय पिता को बन्दी बनाया था, पूरे परिवार की सुख शान्ति छीन ली थी। अब वह उसके सामने अपने अबोधपन के बहाने से जीवित नहीं बचेगा। अतः चन्द्रगुप्त

ने सूक्ष्म निरीक्षण किया। उसने गरम शलाकाओं से शेर को तपाना शुरू किया। मोम का शेर पिघल गया और पिंजड़ा खाली हो गया।

चन्द्रगुप्त की बुद्धि की सबने प्रशंसा की। घननन्द ने भी अपने हित में बालक को संरक्षण दिया। लेकिन चन्द्रगुप्त कहीं अपने पिता का बदला न ले सके, इस आशंका में उसे राजसभा से निकाल दिया गया।

तक्षशिला में :

बीस वर्ष कि अवस्था में चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र छोड़ा। चाणक्य नें उसे सुदूर उत्तर-पश्चिम में स्थित तक्षशिला जाने का परामर्श दिया।

चन्द्रगुप्त शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला पहुँचा। तक्षशिला में प्राचीन विश्वविद्यालय था। देश-विदेश से छात्र यहाँ अध्ययन करने आते थे। देश के बाहर यूनान तक तक्षशिला की कीर्ति प्रसारित थी। भारत की सम्पन्नता को लोग लोलुप दृष्टि से देखते थे। यूनान देश का राजा सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने आ पहुँचा।

क्षेत्राधिपति पुरु ने, सिकन्दर का सामना किया। तक्षशिलाधीश्वर पुरु से अप्रसन्न है, यह जानकर सिकन्दर ने तक्षशिलाधीश्वर को १००० टेलस्ट (प्रायः चालीस लाख रुपयों) का उत्कोच दिया। तक्षशिलाधीश्वर ने रात में नगर द्वार खोलकर सिकन्दर का स्वागत किया।

चन्द्रगुप्त की देशभक्ति ने, द्रोही तक्षशिलाधीश्वर को पाठ सिखाने और मातृभूमि पर आक्रमण करने वाले सिकन्दर से लोहा लेने का निर्णय लिया। इसके लिए उसने यूनानी आक्रमकों की रणनीति जानने के प्रयत्न किये और पर्वतीय राजाओं का संगठन तैयार किया। यह सैन्य संगठन यूनानी युद्धकला में भी दक्ष था।

राजगद्दी पर :

इस पूर्ण तैयारी के बाद चन्द्रगुप्त ने अपने पिता के समय से चले आने वाले वैर-विरोध का हिसाब चुकाने के लिए पाटलिपुत्र को घेर लिया। चाणक्य उसका सहायक था। चाणक्य की चातुरी ने उसे सफलता दी। घननन्द शरणागत हो गया। शैशव का स्वप्न साकार हुआ। कुछ दिनों बाद घननन्द की हत्या हो गयी। ईसा पूर्व

३२१ में घननन्द को पराजित करने से चन्द्रगुप्त आसाम से लेकर मध्य भारत तक का शासक बन गया।

ईसा पूर्व ३२३ में सिकन्दर का देहान्त हो गया। सैल्यूकस ने सिकन्दर का स्थान ले लिया। सैल्यूकस ने भी भारत में यूनानी राज्य-विस्तार का प्रयत्न किया। लेकिन चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में उसे भारतीय सेना से हारना पड़ा। ईसा पूर्व ३०५ में सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से संधि की और तक्षशिला के आसपास का क्षेत्र उसके राज्य में मिला दिया गया। चतुर सैल्यूकस ने अपनी पुत्री कार्नेलिया का विवाह वीर चन्द्रगुप्त से करके यूनान और भारत की मैत्री का सूत्रपात किया।

सम्राट चन्द्रगुप्त की राज्य सीमा उत्तर में हिन्दकुश, दक्षिण में पांडिचेरी और कन्नानूर, पूर्व में आसाम और पश्चिम में सौराष्ट्र तक विस्तृत थी। चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। यही पाटलिपुत्र अब पटना कहलाता है।

प्रजाहित के लिए चन्द्रगुप्त ने अनेक काम किये। वह लोगों की समस्यायें सुनकर तत्काल उनका समाधान करता था। उसका गुरु चाणक्य उसका मित्र और राज्य का मन्त्री था। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी। वाणिज्य समृद्ध था। सेना संगठित थी और उसके पास यूनानी तथा भारतीय दोनों तरह के हथियार थे। नौसेना का गठन भी हो चुका था। वह चौबीस वर्ष तक सम्राट के पद पर रहा। २९७ ई० पू० में चन्द्रगुप्त का देहान्त हुआ। उसके सुशासन के समय को स्वर्ण युग कहा जाता है।

सम्पादक,
बालसाहित्य समीक्षा
१०८/३०९ रामकृष्ण नगर
कानपुर - २०८०१२

●

सम्राट अशोक

—डॉ० श्रीप्रसाद

युद्ध अच्छा है या शान्ति? इसका एक ही उत्तर है- शान्ति ही अच्छी है। युद्ध छोटा हो या बड़ा, सदा हानिकर होता है। संसार में जब-जब युद्ध हुए हैं, महाविनाश हुआ है। युद्ध में केवल धन-दौलत और भवन आदि ही नष्ट नहीं होते, अनेक लोग भी मारे जाते हैं। अब तक संसार में दो विश्व युद्ध हो चुके हैं। इनसे अनेक देश बर्बाद हुए। छोटे-छोटे युद्ध तो बहुत से हुए हैं। इनसे भी कम हानि नहीं हुई है।

अभी हाल ही में अमेरिका और इराक की लड़ाई हुई थी। इससे जान-माल की तो अपार क्षति हुई ही, तेल के कुओं में आग भी लगायी गयी। इस आग ने एक ओर तेल के भंडार को कम किया, दूसरी ओर वायुमण्डल को प्रदूषित भी किया। समुद्र में बहाये गये तेल से अनेक समुद्री जीव मर गये। युद्ध न होता तो ये घटनाएँ न घटतीं।

धरती में यह विशेषता है कि वह सभी को रहने के लिए घर, खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र देती है। वह माता की तरह हमारा लालन-पालन करती है। इसीलिए उसे धरती माता कहते हैं। धरती माता सबको सुखी देखना चाहती है। किन्तु मानव युद्ध और आपसी लड़ाइयों से एक दूसरे को कष्ट में डालता रहता है। युद्ध से साधन नष्ट होते हैं और गरीबी बढ़ती है। यही कारण है कि संत-महात्माओं से लेकर महान नेताओं, कलाकारों, साहित्यकारों और विचारकों ने युद्ध का विरोध किया है, 'जियो तथा जीने दो' का उपदेश दिया है।

विजय में दुखी :

जब युद्ध समाप्त होता है तो पराजित देश या राजा दुखी होता है और जो विजय प्राप्त करता है वह प्रसन्न होता है। किन्तु आज से दो हजार वर्ष से कुछ पहले भारत

में एक ऐसा राजा हुआ जो विजयी होकर भी दुखी हुआ। उसे अपनी विजय पर लेशमात्र भी प्रसन्नता नहीं हुई। वह था सम्राट अशोक। अशोक संसार का एक मात्र ऐसा राजा था, जो विजयी होकर भी दुखी था, जबकि ऐसा दुख किसी अन्य राजा को विजय पाकर कभी नहीं हुआ।

भारत में मौर्य वंश ने ई० पू० की चौथी शताब्दी में दूसरी शताब्दी तक शासन किया। मौर्यवंश की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के सम्राट महापद्मनाभम् को मारकर की थी। महापद्मनाभम् अत्याचारी राजा था। उसकी प्रजा अत्यंत दुखी थी। जिसे आज पटना कहा जाता है वह वास्तव में पाटलिपुत्र है। चन्द्रगुप्त मौर्य को राजधानी पाटलिपुत्र थी और उसका राज्य मगध कहलाता था।

राजगद्दी पर आसीन :

चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार था। यह भी पराक्रमी राजा था। अशोक बिंदुसार का ही पुत्र था, जो मौर्यवंश की तीसरी पीढ़ी में हुआ था। अशोक का समय लगभग सन् २७३ से २३२ ई० पू० माना जाता है। कहा जाता है कि अशोक के कई भाई थे। इसलिए पिता की मृत्यु के बाद राज्य पाने के लिए भाइयों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में अशोक ने अपने अनेक भाइयों की हत्या की। इनकी संख्या निन्यान्नबे बतायी जाती है। भाइयों को मारकर अशोक राजा बना। लेकिन कुछ विद्वान इसमें विश्वास नहीं करते। उनके विचार से अशोक भाइयों को बहुत चाहता था। फिर भी यह सत्य है कि अशोक के राज्य प्राप्त करने में बाधाएँ उत्पन्न हुईं थीं। अशोक ने चालीस वर्ष तक राज्य किया था।

अशोक का असली नाम वस्तुतः अशोक वर्धन था। अशोक उसी का संक्षिप्त रूप है। अशोक को इतिहास में देवनाम प्रिय (देवताओं का प्यारा) भी कहा जाता है। उसकी प्रशंसा में उसे यह उपाधि मिली होगी।

राज्याभिषेक के बाद अशोक ने और राजाओं की ही तरह अपना जीवन बिताया अर्थात् शिकार करना, घूमना-फिरना और सुख पूर्वक रहना। उस समय देश में बौद्धधर्म का भी प्रचार हो चुका था। भगवान बुद्ध के चलाये इस धर्म में अहिंसा को

विशेष महत्त्व दिया गया है। किसी जीव की हिंसा मत करो, न किसी जीव को सताओ– यह बौद्ध धर्म का मुख्य उपदेश है। बौद्ध धर्म में दया और करुणा कूट–कूट कर भरी है। पर अशोक इस धर्म से बिल्कुल प्रभावित न था। वह आरम्भ में इस धर्म का विरोधी ही था। यहाँ तक कहा जाता है कि उस समय उसने बौद्ध धर्म को हानि भी पहुँचायी।

कलिंग पर आक्रमण :

राज्य सिंहासन पर बैठने के आठ वर्ष बाद अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण किया। पुराने समय में उड़ीसा को कलिंग कहा जाता था। भयानक युद्ध हुआ। एक ओर शक्तिशाली राजा अशोक की विशाल सेना थी और दूसरी ओर कलिंग की जोशीली सेना। कलिंग के वीरों ने अशोक की सेना का डटकर सामना किया। फिर भी अशोक की सेना के सामने कलिंग की सेना हार गयी। यह युद्ध इतना विनाशकारी था कि चारों ओर चीख–पुकार मच गयी। माताएँ अपने पुत्रों को खोकर बिलख–बिलख कर रो उठीं, स्त्रियाँ अपने पतियों को खोकर तड़प उठीं, बहनें भाइयों को खोकर रोने लगीं, और बेटे अपने पिता से बिछुड़कर व्याकुल हो उठे। युद्ध में लगभग एक लाख लोग मारे गये, अनगिनत लोग कैद हुए और बाद में भी भारी संख्या में लोग मौत के शिकार हुए।

अशोक पर युद्ध का प्रभाव :

अशोक ने युद्ध का यह कारुणिक दृश्य देखा। उसका हृदय फटने लगा। वह अपने को धिक्कारने लगा कि उसके ही कारण यह सब हुआ है। उसकी राज्य बढ़ाने की इच्छा ही इसका कारण थी। पश्चाताप ने उसका मन बदल दिया। युद्ध भावना दया भाव में बदल गयी। उसने संकल्प किया कि अब वह कभी युद्ध नहीं करेगा। वह अब दया, प्रेम और करुणा से लोगों का हृदय जीतेगा। उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हुआ।

अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और बौद्ध धर्म के प्रचार में लग गया जिससे सबके हृदय में दया और प्रेम की भावना आ जाय। अशोक ने कलिंग युद्ध

के बाद इकतीस साल तक शासन किया, पर युद्ध नहीं किया। उसने अपने उत्तराधिकारियों को भी आदेश दिया कि वे कभी युद्ध न करें। अब उसने शिकार करना और मांस खाना भी छोड़ दिया। वह धार्मिक यात्राएँ करने लगा और बौद्ध धर्म के तीर्थ स्थलों पर गया। वह स्वयं भी धार्मिक उपदेश देने लगा और प्रजा को बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने लगा। अपने राज्य के अधिकारियों को उसने आदेश दिया कि वे केवल राज्य का ही काम न करें, धर्मप्रचार भी करें। अपने राज्य में उसने ऐसे अधिकारी भी नियुक्त किये जो केवल धर्म का प्रचार करते थे। अशोक अपनी प्रजा को संतान के समान मानता था और यही चाहता था कि प्रजा को कोई कष्ट न हो, सभी सुखी रहें।

अपने देश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के साथ ही अशोक ने पड़ोसी देशों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। सीरिया, मिस्र, श्रीलंका और बर्मा आदि में अशोक के धर्म प्रचारक गये। लंका में तो उसका पुत्र महेन्द्र स्वयं धर्म प्रचार के लिए गया। उसकी बहन संघमित्रा भी उसके साथ गयी। संघमित्रा ने वहाँ के राज परिवार की स्त्रियों को बौद्ध धर्म की शिक्षा प्रदान की।

अपने ढंग का अकेला राजा :

अब अशोक के जीवन का एक ही उद्देश्य था– बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रजा की भलाई। लोगों की भलाई के लिए उसने मार्गों के किनारे–किनारे पेड़ लगवाये और पानी के लिए कुएँ खुदवाये। मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय बनवाये। उसने उन राज्यों में भी मनुष्यों की भलाई के लिए काम किये जहाँ उसका शासन नहीं था। संसार में और कोई ऐसा राजा नहीं दिखायी देता जिसने मनुष्यों की भलाई के लिए इतना कार्य किया हो। अशोक ने पूरे संसार के सामने मानव कल्याण का एक उदाहरण रखा। उसने जन–जन तक कल्याण भावना का प्रचार किया। उसने जगह–जगह स्तम्भ खड़े करके शिलालेख लगवाये जिन पर दया और करुणा का संदेश खुदवाया। ऐसा ही एक स्तम्भ सारनाथ (वाराणसी) में भी स्थापित कराया गया। इस पर शेर की आकृतियाँ और चक्र बना है। भारत का राज

चिह्न यहीं से लिया गया है। भारत के झंडे के बीच में जो चक्र है वह भी अशोक के इसी स्तम्भ पर बना है। उसने माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा मानने, उनकी सेवा करने, पशुओं के प्रति दया दिखाने और सबके प्रति नम्र भाव रखने का भी उपदेश दिया। इस प्रकार दया, प्रेम और करुणा से अशोक ने सबका हृदय जीत लिया।

अशोक के अंतिम समय के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। उसकी मृत्यु के बाद उसका कोई पुत्र सिंहासन पर नहीं बैठा, बल्कि उसके पौत्र दशरथ और संप्रति ने राज्य को बाँट लिया। अशोक की मृत्यु सम्भवतः तक्षशिला में हुई थी।

भारत का यह महान राजा संसार के राजाओं और शासकों में बिल्कुल अलग था।

११, अध्यापक आवास
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी- २२१००२

महाकवि कालिदास

—गोपालदास नागर

कालिदास को हम मात्र संस्कृत के महाकवि के रूप में जानते हैं। स्वयं महाकवि कालिदास ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। हर्षचरित के शुरू में कवि बाण ने कालिदास का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि कालिदास बाण से पहले हुए हैं। एक स्थान पर स्वयं कालिदास ने अपने अभिभावक के रूप में "विक्रम" नाम का उल्लेख किया है। वह कौन–सा विक्रम है, इस बात का अभी पूरी तरह पता नहीं चल पाया है। फिर भी उन्हें राजा विक्रमादित्य और राजा भोज का समकालीन मानकर कितनी ही कथाओं का नायक बनाया गया है। विभिन्न भाषाओं में, पहेलियों और लोक–कथाओं में उनकी विद्वता, कविता और चमत्कारिक प्रसंगों का वर्णन मिलता है।

जन्म स्थान :

कुछ विद्वानों ने कालिदास का जन्म ३६५ ई० तथा निधन ४४५ ई० माना है। महाकवि कालिदास के जन्म–स्थान के बारे में ठीक–ठीक पता नहीं चलता। कुछ विद्वानों ने उनका जन्म स्थान उज्जयिनी (वर्तमान उज्जैन) माना है, जो सही लगता है, क्योंकि मेघदूत में स्वयं कवि ने उज्जयिनी को विशेष दर्शनीय कहा है और लम्बा रास्ता पड़ने पर भी उधर से जाने के लिए बादल से अनुरोध किया है।

उज्जयिनी में उन दिनों राजा विक्रमादित्य का राज्य था। वहाँ की प्रजा सब प्रकार से सुखी थी। साहित्य और कला की उन्नति चरम सीमा पर पहुँची थी। राजा विक्रमादित्य ने अपने नाम से ही विक्रम संवत् चलाया था। समय–समय पर उन्होंने सोने के जो सिक्के चलवाये थे, उनसे उनके राज्य काल का ठीक–ठीक पता चलता है। विक्रमादित्य के शासनकाल में जितना वैभव देश में था, जितनी साहित्य तथा कला की उन्नति हुई, उतनी कभी नहीं हुई। एक से बढ़कर एक कवि, साहित्यकार और वैज्ञानिक इस युग में उत्पन्न हुए। राजा विक्रमादित्य स्वयं साहित्य और संगीत के

अच्छे जानकार थे। संस्कृत भाषा की उन्नति भी इस काल में ही अधिक हुई।

कहा जाता है कि महाकवि कालिदास विक्रमादित्य के दरबारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ थे। कालिदास के अतिरिक्त आठ और कवि भी दरबार में थे जो सब 'नवरत्न' कहलाते थे।

रचित साहित्य :

महाकवि कालिदास के चार महाकाव्य और तीन नाटक प्रसिद्ध हैं। 'रघुवंश', 'कुमार सम्भव', 'मेघदूत' और 'ऋतु संहार' उनके महाकाव्यों के नाम हैं। एक उन्नत काव्य की जो विशेषताएँ होनी चाहिए, वे कालिदास के इन महाकाव्यों में मौजूद हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', "मालविकाग्निमित्र" तथा "विक्रमोर्वशीय", उनके तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का संसार के नाटकों में श्रेष्ठ स्थान है। इसके अतिरिक्त 'नलोदय' तथा अन्य कई छोटी-छोटी काव्य कृतियों की रचना भी महाकवि कालिदास ने की है, ऐसा कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है।

कालिदास के विषय में कहा जाता है कि वे युवावस्था तक निरक्षर थे। जिस डाल पर बैठते उसे ही काटते थे। निरक्षर होने पर भी वह इतने बड़े विद्वान और महाकवि किस तरह बन गये, इसकी भी एक बड़ी विचित्र और रोचक कहानी है।

विद्योत्तमा की शर्त :

उन दिनों शारदानन्द नाम के एक राजा थे। उनकी एक गुणवती और विद्वान पुत्री थी जिसका नाम विद्योत्तमा था। वह बहुत सुन्दर और रूपवती भी थी। उसके रूप, गुण और ज्ञान की प्रशंसा दूर-दूर के देशों तक फैली हुई थी। विद्योत्तमा को अपने रूप, गुण और ज्ञान का बड़ा घमण्ड था। अपने विवाह के सम्बन्ध में उसने एक घोषणा कर रखी थी कि जो उसे शास्त्रार्थ में हरा देगा, उसी के साथ वह अपना विवाह करेगी।

उसकी इस घोषणा की जानकारी जैसे-जैसे पास पड़ोस के देशों तक पहुँचती गयी, वहाँ-वहाँ के विद्वान तथा पंडित विद्योत्तमा से शास्त्रार्थ करने के लिए आने लगे। लेकिन कोई भी विद्वान या पंडित विद्योत्तमा से शास्त्रार्थ में जीत नहीं पाता था और हार मान कर, मुँह लटका कर या लज्जित होकर लौट जाता था। इस बात से

विद्वानों और पंडितों को बड़ी ग्लानि का अनुभव हो रहा था और वे इस का बदला लेने का उपाय सोचने लगे थे। विद्वानों और पंडितों ने मिलकर तय किया कि विद्योत्तमा का विवाह किसी मूर्ख से करा दिया जाय तो उसका घमण्ड टूट जायगा और वे अपने अपमान का बदला भी ले सकेंगे। अतः अब वे एक ऐसे मूर्ख की तलाश में रहने लगे।

संयोग से उन्हें एक दिन एक ऐसा ही मूर्ख युवक मिल गया। वह पेड़ की जिस डाल पर बैठा था, उसे ही काट रहा था। पंडितों तथा विद्वानों को लगा कि उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा? इसलिए पंडितों ने उसे पेड़ से नीचे उतारा और समझा बुझाकर तथा एक सुन्दर राजकुमारी से उसका विवाह करा देने की बात कह कर तथा लालच देकर अपने साथ चलने को राजी किया। पंडितों ने उस मूर्ख युवक को यह बात अच्छी तरह समझा दी थी कि वह वहाँ कुछ नहीं बोलेगा और गूँगा बना रहेगा, अन्यथा उसका विवाह नहीं होगा। वह मूर्ख युवक बड़ा खुश हुआ। उसने पंडितों की बात मान ली और उनके द्वारा दिये गये अच्छे-अच्छे कपड़े पहन लिये। पंडित उसे विद्योत्तमा के पास शास्त्रार्थ के लिए ले गये।

विद्योत्तमा से धोखे से विवाह :

राजकुमारी विद्योत्तमा को उस मूर्ख युवक का परिचय देते हुए पंडितों ने बताया कि ये हमारे गुरु हैं और बहुत बड़े विद्वान हैं। सारे शास्त्रों के जानकार हैं। आपके साथ शास्त्रार्थ करने यहाँ आये हैं। लेकिन इन दिनों मौन व्रत चलने के कारण ये संकेत से ही शास्त्रार्थ करेंगे।

विद्योत्तमा पंडितों की यह छल भरी बता नहीं समझ सकी और शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो गयी। उसने युवक को एक उँगली दिखायी, जिसका भाव था कि ईश्वर एक है।

उस मूर्ख युवक ने समझा कि यह मेरी एक आँख फोड़ डालना चाहती है। उसने दो उँगलियाँ दिखाते हुए उसकी दोनों आँखें फोड़ डालने का संकेत किया। पंडितों ने इस संकेत का अर्थ विद्योत्तमा को समझाते हुए कहा- 'आपके प्रश्न के उत्तर में हमारे गुरुजी का कहना है कि ईश्वर और जीव दो हैं।'

इस बार राजकुमारी विद्योत्तमा ने पाँच उँगलियाँ दिखाकर पाँचों तत्वों का संकेत

किया। उस मूर्ख युवक ने समझा कि वह मेरे मुँह पर तमाचा मारने का संकेत कर रही है। उसने मुट्ठी बाँधकर तमाचे का जवाब घूंसे से देने का संकेत किया। पंडितों ने इस बार भी विद्योत्तमा को इस संकेत का अर्थ बताते हुए कहा– 'आपने पाँच उँगलियों से पाँच तत्त्वों का संकेत किया था, लेकिन हमारे गुरुजी का कहना है कि पाँचों तत्त्वों के मिलने से ही सृष्टि बनती है, अलग–अलग रहने से नहीं।

इस तरह उपरोक्त शास्त्रार्थ में विद्योत्तमा ने उस मूर्ख युवक से अपनी हार मान ली और दोनों का विवाह धूम–धाम से पंडितों ने करवा दिया।

एक दिन की बात है, एक ऊँट की बोली सुनकर वह मूर्ख युवक अपना मौनव्रत भूलकर एकाएक बोल बैठा, 'उट्र'–'उट्र'।

'उष्ट्र' को 'उट्र' बोलते सुनकर विद्योत्तमा चौंक उठी। उसे पता चल गया कि उसका पति कोई विद्वान पंडित नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ा मूर्ख है। पंडितों की छल भरी बातों का अर्थ अब उसकी समझ में आ गया। विद्योत्तमा को बहुत मानसिक दुख पहुँचा और उसने अपने महल में कालिदास के प्रवेश पर रोक लगा दी और द्वारबंद कर लिये।

कठोर साधना :

उस मूर्ख युवक पति को यह अपमान असह्य हुआ और वह जंगल में जाकर माँ काली के एक मंदिर में बैठकर उनकी उपासना करने लगा। कठोर उपासना से उसे माँ काली का वरदान प्राप्त हुआ और उसे काली का दास होने के कारण कालिदास नाम प्राप्त हुआ। शीघ्र ही कालिदास सारी विद्याओं को सीखकर प्रवीण हो गये। राजनीति, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वेद, कर्मकाण्ड और साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर वह फिर से विद्योत्तमा के पास लौटे। द्वार तब भी बंद था। कवि ने अपने विद्वान होने के प्रमाण स्वरूप संस्कृत में द्वार खोलने के लिए विद्योत्तमा से प्रार्थना की, 'अनावृत कपाटं द्वारं देहि।'

अंदर से पत्नी विद्योत्तमा ने पूछा, 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः।'

इस पर महाकवि कालिदास ने क्रमशः – 'कुमार सम्भव', 'मेघदूत' और 'रघुवंश' की रचना विद्योत्तमा को सुनायी। विद्योत्तमा को जब उनके पंडित होने का विश्वास

हो गया तो उसने द्वार खोलकर महाकवि का स्वागत किया।

कालिदास को हर क्षेत्र का गहरा अनुभव था। प्रकृति का जैसा वर्णन उनके साहित्य में मिलता है, वैसा कहीं नहीं मिलता। उन्हें प्रकृति के बिना मनुष्य जीवन अधूरा दिखायी पड़ता था। कालिदास की उपमाएँ विश्व विख्यात हैं। उनकी कोई तुलना नहीं। उनका कोई जोड़ नहीं। चरित्र-चित्रण में भी महाकवि कालिदास की तुलना नहीं की जा सकती, उनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अपनापन लिए रहता है। हर बात बड़ी ही स्वाभाविकता से उपस्थित होती है। कालिदास अपने काव्य तथा नाटक के द्वारा बार-बार यही बताना चाहते हैं कि राजा प्रजा का शासक ही नहीं, उसका रक्षक और पिता भी है।

उन दिनों समाज में नारी का क्या स्थान था, इस बात का पता भी हमें महाकवि कालिदास की रचनाओं में मिलता है। समाज में नारी को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था और उसे नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि की शिक्षा दी जाती थी।

ग्रंथ परिचय :

महाकवि कालिदास के सात प्रमुख ग्रंथ हैं। उनमें से पहला ग्रंथ है 'ऋतु संहार'। यह एक उत्तम काव्य है। इसमें कालिदास ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। ऋतुओं का तथा प्रकृति का जितना सुंदर चित्रण इस काव्य में है, उतना कालिदास के अन्य ग्रंथों में नहीं है।

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास का दूसरा ग्रंथ और पहला नाटक है। इसमें पाँच अंक हैं और विदिशा के राजा अग्निमित्र तथा विंदर्भ की राजकुमारी मालविका की प्रेम कथा है। तीसरा ग्रंथ 'विक्रमोर्वशीय' कालिदास का दूसरा नाटक है। इसमें भी पाँच अंक हैं तथा महाराज पुरुरवा और उर्वशी की प्रेम-कथा का चित्रण किया गया है।

'कुमारसम्भव' काव्य है और इसमें शिव-पार्वती के विवाह से लेकर कुमार कार्तिकेय के जन्म और उसके द्वारा तारकासुर के वध तक की कथा का वर्णन है।

'मेघदूत' कालिदास का पाँचवाँ ग्रंथ है। यह भी एक काव्य है और इसके शुरू में कालिदास ने बादल को दूत बनाकर कुबेर की नगरी अलकापुरी तक का मार्ग बताया है। इसके उत्तरार्द्ध में यक्ष ने अपनी विरहिणी प्रिया को पहचानने के उपाय मेघ को बताये हैं और अपना संदेश दिया है। इस काव्य में वर्षाकाल और विरह का वर्णन

खूब निखरा है। इसमें भारत के भूगोल की भी अच्छी जानकारी दी गयी है।

'रघुवंश' एक महाकाव्य है। कवि कालिदास ने रघुवंश की कथा कहने से पहले ही कह दिया है– 'कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न हुआ यह वंश, कहाँ मोटी बुद्धिवाला मैं। तिनकों से बनी छोटी–सी नाव लेकर मैं अपार समुद्र को पार करने की बात सोच रहा हूँ।' सूर्यवंश के दिलीप से लेकर कुश और उनके अनेक उत्तराधिकारियों तक की कथा रघुवंश में है।

महाकवि कालिदास का सातवाँ और सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'। यह उनका तीसरा नाटक है और इसमें सात अंक हैं। महाकवि ने इस नाटक में राजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला की कथा कही है।

इस तरह महाकवि कालिदास आज भी हमारे संस्कृत साहित्य में अमर हैं। उनकी रचनाओं में तत्कालीन साहित्य, शासन और राजनीति, समाज और जन विश्वास, भूगोल, ललित कला, स्थापत्य आदि सभी की झलक मिलती है।

२६/१६,ए, चौखम्भा,
वाराणसी – २२१००१

●

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

—डॉ० हरिकृष्ण देवसरे

चन्द्रगुप्त नाम से इतिहास में कई नरेश हुए हैं और 'विक्रमादित्य' की उपाधि भी कई सम्राटों के साथ जुड़ी हुई मिलती है। इसलिए इतिहासकारों में तरह-तरह के मतभेद रहे हैं। किन्तु सभी बातों पर गम्भीरता से विचार करने के बाद साहित्यकारों ने यह माना है कि 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', गुप्त वंश का तीसरा सम्राट और समुद्रगुप्त का पुत्र एवं उत्तराधिकारी ही था। इस सम्राट का शासनकाल ३७५ ई० से ४१३ ई० तक माना जाता है।

विक्रमादित्य की उपाधि :

इस चन्द्रगुप्त ने मालवा, गुजरात और काठियावाड़ पर विजय प्राप्त की, उज्जयिनी के शक शासकों को उखाड़ फेंका और उनका राज्य गुप्त साम्राज्य में मिला लिया। अपनी इन महान विजयों के उपलक्ष में उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। 'विक्रमादित्य' का अर्थ है- 'सूर्य की तरह तेजस्वी'। इतिहासकार मानते हैं कि यह चन्द्रगुप्त वास्तव में सूर्य के समान तेजस्वी, पराक्रमी और प्रतिभावान था। इतिहासकार यह भी मानते हैं कि जिस विक्रमादित्य की न्यायप्रियता, उदारता और शौर्य-पराक्रम तथा विद्वानों का आदर करने सम्बन्धी किस्से विख्यात हैं- वह यही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। इतिहासकारों ने खोज और अध्ययन के बाद यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला कि इस चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में कला, स्थापत्य और मूर्तिकला का उल्लेखनीय विकास हुआ और इस प्रकार इसके शासन काल में भारत का सांस्कृतिक विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।

शकों पर विजय :

चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७५ ई० में गद्दी पर बैठा था। अपने पिता समुद्रगुप्त की भाँति, चन्द्रगुप्त भी पराक्रमी और वीर था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करने की योजना बनायी। वह दरअसल मालवा और गुजरात-काठियावाड़ के शक शासकों

पर विजय प्राप्त करना चाहता था। किन्तु इसमें एक बाधा थी। मालवा और गुजरात के पूर्व में वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन का राज्य था। वाकाटक बड़े शक्तिशाली थे और चन्द्रगुप्त ने सोचा कि यदि उन्होंने मेरे विरुद्ध शकों की सहायता की तो मेरा विजयी होना असम्भव हो जायगा। इसलिए आक्रमण करने से पूर्व चन्द्रगुप्त ने वाकाटक राजा रुद्रसेन को अपने पक्ष में लेने की तरकीब सोची। बस उसने अपनी बेटी प्रभावती के विवाह का प्रस्ताव रुद्रसेन को भेजा। रुद्रसेन ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और इस तरह दोनों सम्बन्धी बन गये। अब चन्द्रगुप्त के लिए रास्ता साफ था। उसने मालवा और गुजरात पर आक्रमण करके शकों को परास्त कर दिया और उनके राज्य अपने साम्राज्य में मिला लिये।

राज्य का विस्तार :

चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य विस्तार के बारे में इतिहासकारों का मानना है कि उसकी सीमा पूर्व में बंगाल तक तथा पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वत के उस पार वाल्हीक प्रदेश तक फैली हुई थी। इसके प्रमाण स्वरूप इतिहासकार, कुतुबमीनार के पास स्थित लौह-स्तम्भ पर खुदे लेख को मानते हैं जिसमें किसी चन्द्र नामक सम्राट द्वारा इन सीमाओं तक अपना राज्य विस्तार करने का उल्लेख है। अन्य प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि वह राजा चन्द्र, गुप्त वंश का चन्द्रगुप्त द्वितीय ही था।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य में गुजरात, मालवा और बंगाल जैसे उपजाऊ क्षेत्र आ जाने से, उसके राज्य में धन की वर्षा होने लगी थी। उस समय उज्जयिनी बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। अस्तु चन्द्रगुप्त ने वहाँ अपनी एक और राजधानी बना दी थी, जबकि मुख्य राजधानी उसने पाटलिपुत्र ही रखी। इसके अलावा गुजरात-सौराष्ट्र का क्षेत्र उसके अधीन आ जाने के कारण, इन राज्यों में स्थित बंदरगाहों से होने वाला समुद्री व्यापार भी चन्द्रगुप्त के नियन्त्रण में आ गया था और इससे भी उसके राज्य का कोष भरने लगा था।

फाह्यान की भारत यात्रा :

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही शासनकाल में भारत भ्रमण पर आया था। उसका काल सन् ४०५ से ४११ ई० माना जाता है। वह छः वर्षों तक भारत में रहा। हालांकि इस दौरान फाह्यान कभी चन्द्रगुप्त के दरबार में नहीं गया, फिर भी उसने चन्द्रगुप्त के गुणों और उसकी शासन-व्यवस्था का विस्तार से वर्णन

किया है।

वास्तव में फाह्यान बौद्ध भिक्षु था और वह चीन से चलकर भारत में बौद्धग्रंथों की खोज में आया था। फाह्यान पश्चिमी चीन से चलकर गोबी मरुस्थल के दक्षिण में लाप-नोर होते हुए खोतान आया। फिर वह पामीर पर्वत को पार कर, भयंकर कष्टों को सहते हुए उदयनोर पहुँचा। वहाँ से तक्षशिला होते हुए वह पेशावर पहुँचा और इस तरह उत्तरी भारत की यात्रा करते हुए वह पाटलिपुत्र पहुँचा। यहाँ वह तीन वर्ष रहा। यहाँ उसने संस्कृत भाषा सीखी और तब बौद्ध-ग्रंथों का अध्ययन किया।

फाह्यान ने उस समय भारत में जो कुछ देखा, उसका बड़ा ही रोचक विवरण लिखा है। किन्तु उसने उस समय के शासक का नाम कहीं नहीं लिखा। उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही शासन था, इसलिए फाह्यान का वर्णन, चन्द्रगुप्त की ही शासन-व्यवस्था से सम्बद्ध सिद्ध होता है।

सब धर्मों का आदर :

फाह्यान ने लिखा है कि उस समय की जनता धनी, सुखी और वैभव-सम्पन्न थी। सभी को अपना धर्म मानने की पूरी स्वतन्त्रता थी। यद्यपि चन्द्रगुप्त के समय में पौराणिक हिंदू धर्म का अधिक प्रभाव था और स्वयं चन्द्रगुप्त भी इसी धर्म को मानता था, किन्तु बौद्ध तथा दूसरे धर्म के लोगों को अपना धर्म मानने की पूरी स्वतन्त्रता थी। चन्द्रगुप्त की धार्मिक सहिष्णुता का अनुमान इसी एक तथ्य से लगा सकते हैं कि उसके दो मन्त्री ऐसे थे जिसमें से एक शैव धर्म को मानता था और दूसरा बौद्ध धर्म को।

फाह्यान लिखता है कि यहाँ के लोग बेरोकटोक कहीं भी आ-जा सकते थे। कहीं किसी को पंजीयन कराने या परिचय-पत्र दिखाने की जरूरत नहीं होती। बड़े राजमार्गों पर विश्रामगृह बने हुए थे। एक बहुत अच्छा चिकित्सालय भी था।

फाह्यान के अनुसार चन्द्रगुप्त के शासन काल में प्राणि-हत्या नहीं होती थी। कोई शराब नहीं पीता था और न कोई प्याज-लहसुन खाता था। इससे पता चलता है कि

चन्द्रगुप्त के शासन में लोग संयमी और शाकाहारी थे।

सुरक्षित जीवन – सदाचारी लोग :

फाह्यान के अनुसार उस समय अपराधों के लिए मुख्यतः अर्थ दंड दिया जाता था। भूमि के लगान से राजस्व प्राप्त किया जाता था और सभी राजकीय अधिकारियों को नियमित वेतन मिलता था। सुरक्षा का प्रबंध ऐसा था कि कोई भी व्यक्ति निर्भय होकर घूम सकता था। स्वयं फाह्यान कई बार कीमती चीजें लेकर अकेला ही सुनसान मार्गों से गया, किन्तु उसे किसी ने न लूटा, न तंग किया। हाँ, देशद्रोह जैसे अपराध के लिए सबसे बड़ा दंड यह था कि अपराधी का दाहिना हाथ काट दिया जाता था।

चन्द्रगुप्त के राज्य में सभी को अपनी पसंद का पेशा अपनाने की स्वतन्त्रता थी। राज्य में पूर्ण शान्ति थी और शासन–व्यवस्था ऐसी थी कि चोरी, बटमारी की घटनाएँ न के बराबर ही होती थीं। सबसे अच्छी बात यह थी कि जनता का चरित्र बहुत उच्चकोटि का था। लोग ईमानदार और सत्यभाषी थे।

फाह्यान ने अशोक का राजप्रासाद भी देखा था। वह लिखता है कि यह राजप्रासाद देवताओं द्वारा निर्मित लगता है। कोई मनुष्य इतना सुंदर और कलापूर्ण भवन बना ही नहीं सकता।

चन्द्रगुप्त के समय में, गुप्त–सम्राटों द्वारा चलाये गये सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के ही चलते थे। चन्द्रगुप्त अपनी प्रजा के कल्याण के लिए सदा चिंतित और तत्पर रहता था। उसने अनेक स्थानों पर यात्रियों की सुविधाओं के लिए धर्मशालाएँ बनवायी थीं। गरीबों की मुफ्त चिकित्सा के लिए स्थान–स्थान पर छोटे–छोटे चिकित्सालय खुलवाये थे। धनीमानी लोगों ने भी धर्मार्थ चिकित्सालय खुलवाये थे और वे ही उनका खर्च उठाते थे।

नवरत्न :

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जहाँ एक ओर पराक्रमी, कुशल प्रशासक और प्रजा का हितैषी था, वहीं वह साहित्य प्रेमी, कला–पारखी और विद्वानों का आदर करने वाला था। उसके दरबार में 'नवरत्न' थे जिनमें संस्कृत के महान कवि कालिदास भी एक

थे। इसके अलावा अमरकोश के रचयिता तथा महान् चिकित्सक धन्वन्तरि, आर्य भट्ट, वराहमिहिर जैसे ज्योतिषविद्, बौद्ध-विद्वान् वसुबंधु, दिग्नाग तथा अन्य कई विद्वान चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बहुमुखी प्रतिभा और सर्वगुण सम्पन्न सम्राट था। उसके शासन काल में जनता अत्यन्त सुखी थी। न कोई अभाव था, न कष्ट और न ही कोई भय। इस कारण वह बहुत लोकप्रिय हुआ। उसकी उदारता, वीरता और न्याय आदि के अनेक किस्से चल पड़े और बाद में वे अनेक कथाओं की आधार भूमि बने जैसे 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पच्चीसी' आदि।

चन्द्रगुप्त ने करीब ३९ वर्ष तक राज्य किया। सन् ४१३ में उसका निधन हो गया। लेकिन उसके शांतिपूर्ण शासन काल की प्रशंसा, इतिहास आज भी कर रहा है।

१०२, एच. आई. जी. डूप्लेक्स,
बृज विहार, पो० चन्द्रनगर,
गाजियाबाद-२०१०११

●

शंकराचार्य

—विष्णुकांत पाण्डेय

एक था लड़का। लड़के का नाम था शंकर। शंकर केरल के एक छोटे गाँव कालड़ी में ७८८ ई० में पैदा हुआ था। कालड़ी विद्वानों की बस्ती थी। लड़के के पिता शिवगुरु बड़े विद्वान थे। उसकी माँ कामाक्षी भी बड़ी भली धार्मिक विचारों की महिला थी। लड़के के माँ–बाप भगवान शंकर के भक्त थे और इसलिए उन्होंने अपने पुत्र का नाम शंकर रखा।

शंकर देखने में जितना सुन्दर था, बातचीत और व्यवहार में उतना ही सुशील, नेक, विनम्र। बचपन से ही वह बड़ा होनहार निकला। पढ़ने–लिखने में इतना तेज कि एक बार जो पढ़ लेता या सुन लेता, वह कंठाग्र हो जाता। छोटी उम्र में ही उसने अपनी मातृभाषा मलयालम पर तो अधिकार जमा ही लिया, संस्कृत भी उसकी जीभ पर जा बैठी।

संन्यासी बनने की इच्छा :

शंकर अभी अबोध बालक ही था कि उसके पिता स्वर्ग सिधार गये। शंकर के दिल–दिमाग पर इसका बड़ा ही गहरा असर पड़ा। वह उदास रहने लगा। उसी बीच एक दिन उसकी भेंट एक संन्यासी से हो गयी। संन्यासी ने शंकर से पूछा 'तुम कौन हो?' शंकर ने बड़े सहज भाव से उत्तर दिया– 'मुझे नहीं मालूम'। संन्यासी शंकर की बातों से बड़ा खुश हुआ और उसकी बड़ी प्रशंसा की। शंकर भी सँन्यासी से बड़ा प्रभावित हुआ और मन में संन्यासी बनने की इच्छा जागी। जब उसने अपने मन की बात अपनी विधवा माँ से कही तो माँ की आँखों में आँसू छलछला आये। भला कोई माँ अपने इकलौते बेटे को संन्यासी बनने देना कैसे स्वीकार कर सकती है। मातृभक्त शंकर बिना माँ की आज्ञा के कुछ कर भी नहीं सकता था। लेकिन उसके मन में संन्यासी बनने की बात गहरे जमी रही।

एक दिन शंकर अपनी माँ के साथ नाव में बैठकर कहीं जा रहा था। नाव मझधार

में थी, तभी जोरों का तूफान उठा। नाव डगमगाने लगी– अब डूबी, तब डूबी। शंकर ने कहा– माँ अगर तुम मुझे संन्यासी बनने देने पर राजी हो जाओ तो तूफान थम जायगा और तुम्हारे साथ तुम्हारा बेटा भी बच जायगा। (कहीं पर यह उल्लेख मिलता है कि शंकर स्नान करने के लिए नदी में गये थे और मगर ने उनका पैर पकड़ लिया था। माँ ने जब पुत्र को संन्यासी बनने की अनुमति दी, तभी मगर ने उनका पैर छोड़ा। —सम्पादक)

माँ की ममता पर विजय :

माँ को अपना मरना स्वीकार हो सकता है, पर बेटे का मरना कैसे स्वीकार होता? उसकी आँखें डबडबा आयीं। वह बोली– 'तुम संन्यासी बन सकते हो। पर वचन दो कि वर्ष में एक बार मुझसे अवश्य मिल लिया करोगे।' माँ ने कलेजा पत्थर किया पर वह मोम सा गल–गल कर आँखों की राह निकलता रहा। माँ ने बेटे को छाती से लगा लिया। बेटे ने माँ के पैर छू लिये। जब दोनों सचेत हुए तो तूफान टल चुका था। सारा वातावरण बिल्कुल शान्त था। शंकर संन्यासी बन गया।

अपने वचन के अनुसार शंकर हर साल अपनी माँ से मिलने आता। संन्यासी अपने गाँव आये, यह बात गाँव वालों को बुरी लगी। लेकिन वह तो माँ को दिये वचन का पालन कर रहा था। गाँव वालों ने माँ–बेटे का बहिष्कार किया पर दोनों अपनी जगह डटे रहे।

अकेले माँ का अंतिम संस्कार :

माँ बूढ़ी हो चली थी। बुढ़ापे में उसे देखने वाला कोई न था। वह जोरों से बीमार पड़ी, अंतिम साँसें गिनने लगी। उसकी अंतिम इच्छा थी कि उसका शंकर मरते समय उसके सामने होता। जाने कैसे शंकर आ धमका। माँ ने उसके सामने बड़े शान्त भाव से अन्तिम साँस ली। गाँव का एक भी आदमी दाह संस्कार में शंकर का हाथ बटाने नहीं आया। अकेले क्या करता बेचारा शंकर? लेकिन संन्यासी शंकर ने हिम्मत नहीं हारी। उसने माँ के शव के चार टुकड़े किये, उन्हें बारी–बारी श्मशान घाट ले गया और दाह संस्कार किया। आज भी उस शंकर की जाति के नम्बूदरी

ब्राह्मण किसी भी शव को सिन्दूर से चार टुकड़ों में बाँटकर दाह-कर्म करते हैं।

शास्त्रार्थ :

संन्यासी बनने के बाद शंकर अच्छे गुरु की खोज में बहुत दिनों तक भटकता रहा। एक दिन उसे एक अच्छे गुरु मिले। गुरु का नाम था आचार्य गोविन्द। आचार्य गोविन्द के आश्रम में रहकर शंकर ने काफी ज्ञान अर्जित किया। फिर वह शास्त्रार्थ के लिए देश की यात्रा पर निकल पड़ा। उसने बड़े-बड़े पंडितों को परास्त किया, वह ऐसे-ऐसे अकाट्य तर्क देता कि विद्वानों की बोलती बंद हो जाती। इस प्रकार विजय प्राप्त करते हुए वह बिहार आया। महिसी के बड़े विद्वान मंडन मिश्र से उसका शास्त्रार्थ हुआ। उस शास्त्रार्थ की निर्णायिका थी मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी भारती। उसने अपने पति को पराजित घोषित किया लेकिन स्वयं शास्त्रार्थ के लिए सामने आयी। शंकर हार गया। वह फिर अध्ययन के लिए निकल पड़ा। अध्ययन कर लौटा तो उसने भारती को परास्त किया। सारे देश में उसकी विजय की पताका फहराती रही। शंकर को जगद्गुरू शंकराचार्य की उपाधि से सम्मानित किया गया।

चार मठों की स्थापना :

जगत गुरु शंकराचार्य ने सारे देश में घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने जोशी मठ (बद्रीनाथ), पुरी (जगन्नाथपुरी), शृंगेरी (रामेश्वर के निकट) और द्वारका चार बड़े मठ (धाम) स्थापित किये और सारे देश में सौ से भी अधिक छोटे मठ बनवाये। बड़े मठों के मठाधीश आज भी जगद्गुरु शंकराचार्य के नाम से जाने जाते हैं और हिंदुओं के धर्म गुरु समझे जाते हैं।

आदि जगद्गुरु शंकराचार्य ने कई ग्रंथ लिखे। संस्कृत में रचित इनकी प्रार्थनाएँ इतनी सरल, सरस और सुगम हैं कि लोगों की जुबान पर आसानी से उतर जाती हैं और लोग उनका पाठ करते हैं।

केवल बत्तीस वर्षों की छोटी उम्र में ही उस महान दार्शनिक और धर्म नेता का केदारनाथ में देहान्त हो गया। आज भी उनके जन्म दिन को उनके जन्म स्थान कालड़ी

में धूमधाम् से मनाया जाता है। यहाँ दूर–दूर से लोग उनके प्रति श्रद्धा के फूल चढ़ाने आते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य के प्रति हम भी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं।

अरुणोदय भवन
मोतीहारी (बिहार) – ८४५४०१

●

संत कबीर

—चक्रधर नलिन

कबीर एक सिद्ध संत, स्वतन्त्र विचारक, भक्त और कवि ही नहीं, सच्चे मनुष्य-प्रेमी थे। कबीर से बढ़कर प्रेरक व्यक्ति शायद ही हुआ हो। हमारी पीढ़ियाँ उनकी वाणी से सुख-शान्ति और समता का सन्देश पाती रहेंगी। उनमें मनुष्यता की पुकार थी। वे मनुष्य में ईश्वर का वास समझते थे। उन्होंने माया पर विजय पायी और भूले -भटके मनुष्यों की दशा सुधारने का काम किया।

बचपन :

कबीर का जन्म जेठ मास की पूर्णिमा सोमवार के दिन संवत् १४५५ (लगभग १३९८ ई०) को हुआ था। कहा जाता है कि वे एक विधवा ब्राह्मण कन्या के गर्भ से पैदा हुए थे। लोक और समाज के भय से वह उन्हें काशी के लहरतारा नामक तालाब के पास फेंक आयी। संयोग से नीरू और नीमा जुलाहा दम्पत्ति उधर से गुजरे। आवाज सुनकर वे शिशु के पास गये। एक नवजात शिशु पत्तों पर लेटा खेल रहा था। उनके कोई संतान न थी। वे उसे खुदा का नूर मानकर अपने घर ले आये। इसी घर में कबीर का पालन-पोषण हुआ। नीरू ईमानदार तथा परिश्रमी व्यक्ति था। वह परिश्रम की कमाई में प्रसन्न रहता। कबीर पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा। बड़े होने पर वे भी पिता के साथ गाँव-गाँव घूमकर कपड़ा बेचने लगे।

कबीर बचपन से ही बड़े जिज्ञासु थे। पास वाली मस्जिद में सुबह-शाम एक मुल्ला जी तेज आवाज में अजान देते थे। एक दिन कबीर ने माँ से प्रश्न किया- 'मुल्ला जी इतने जोर से किसे पुकारते हैं?' माँ ने उत्तर दिया- 'बेटा, मुल्ला जी खुदा को आवाज देते हैं'। खुदा तो हर जगह मौजूद है फिर इतनी जोर से पुकारने की क्या जरूरत है'- कबीर ने कहा। इसी तरह मंदिर में बजते घंटे की आवाज पर उन्होंने कहा- 'हिन्दू लोग भगवान की पूजा चुपचाप क्यों नहीं करते?' वे बचपन से ही बड़े खोजी स्वभाव के थे तथा हर बात सत्य की कसौटी पर खरी उतरने पर ही

मानते थे।

कबीर ने घर या मदरसे में शिक्षा नहीं पायी। उनकी रुचि साधु-संतों की संगति में अधिक थी। संतों के प्रभाव से वे स्वयं भी उपदेश देने लगे। इस पर लोगों ने कहा- 'कबीर हम तुम्हारा उपदेश नहीं सुनेगें, क्योंकि तुम्हारा कोई गुरु नहीं है।'

गुरु मन्त्र :

अब कबीर गुरु की खोज में निकल पड़े। काशी में उन दिनों स्वामी रामानन्द की बड़ी ख्याति थी। कबीर ने उनको अपना गुरु बनाने का निश्चय किया। किन्तु स्वामी जी उन्हें गुरुमन्त्र देने के लिए राजी नहीं हुए, पर कबीर ने हार नहीं मानी। उनका विचार था कि सब मनुष्यों को पैदा करने वाला तो एक ही है। फिर मनुष्यों के बीच यह फर्क कहाँ से हो जाता है।

एक दिन सुबह वे काशी में पचगंगा घाट की सीढ़ियों में जाकर लेट गये। प्रतिदिन की भाँति स्वामी जी गंगा स्नान से लौट रहे थे। अँधेरे में उनका पाँव कबीर के ऊपर पड़ गया और उनके मुँह से पश्चाताप में 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। बस कबीर ने इसको गुरुमन्त्र मान लिया।

कबीर पंथी कबीर को अविवाहित मानते हैं। परन्तु अन्य लोगों का मानना है कि वे गृहस्थ साधु थे। उनकी लोई नाम की पत्नी थी।। उनके कमाल नाम का पुत्र और कमाली नाम की पुत्री भी थी। वे कमाली को बहुत प्यार करते थे। उचित इलाज के अभाव में कमाली इस संसार से चल बसी। इस पर कबीर के मुँह से निकला —

'पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।
एक दिन ऐसा छिप जायगा ज्यूँ तारा परभात।।'

देशाटन :

कबीर का मन व्यवसाय से उचट गया था। सत्य की खोज की इच्छा बलवती हो रही थी। एक दिन घर गृहस्थी की जिम्मेदारी लोई को सौंप कर वे देशाटन के लिए निकल पड़े। विभिन्न स्थानों पर जाकर उन्होंने लोगों को बुराइयों और कुरीतियों से संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

कबीर पर नाथपंथ तथा शंकराचार्य के अद्वैत का बहुत प्रभाव था। उनके समय समाज में बाहरी आचार-विचार पर बहुत ध्यान दिया जाता था। कबीर इन सबके

प्रति उदासीन रहे। उन्होंने समाज में ऊँचनीच, जाति-पाँति, छुआछूत, पाखंड आदि का डटकर विरोध किया। उनका कहना था —

'मोको कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया कर्म में, नाहि योग वैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं पल भर की तलाश में।
कहे कबीर सुनो भई साधो सब स्वासों की स्वांस में।।

वे किसी को भी खरी-खोटी सुनाने में कभी नहीं डरते थे। मुसलमानों से उन्होंने कहा —

कंकड़ पत्थर जोड़ि के मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे बहरा हुआ खुदाय।।

इसी तरह हिन्दुओं से उन्होंने कहा —

पाथर पूजै हरि मिलें तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार।।

विस्मयकारी घटनाएँ :

जैसा कि अनेक संत महात्माओं के सम्बन्ध में होता है, कबीर के सम्बन्ध में भी अनेक विस्मयकारी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि बचपन में वह बहुधा बिना कुछ खाये-पिये ही पड़े रह जाते। माँ की चिन्ता पर वे एक अनब्याही बछिया के नीचे मिट्टी का कोरा बर्तन रख दिया करते। उनके देखते-देखते वह लबालब भर जाता और वे प्रतिदिन दूध पी लिया करते थे। इसी प्रकार उन्होंने एक बार जगन्नाथपुरी के पंडे का जलता हुआ पैर काशी में जल गिराकर शीतल कर दिया।

कबीर अपने जीवन काल में ही प्रसिद्ध हो गये थे। बनारस का काजी उनकी प्रसिद्धि से बहुत जलता था। कहते हैं, एक दिन उसने बादशाह सिकन्दर लोदी से यह झूठी शिकायत की कि कबीर अपने को खुदा बतलाता है तथा हिन्दू-मुसलमानों के मजहबों को बुरा कहता है। कबीर को बादशाह के सामने पेश किया गया। क्रोध

में बादशाह ने आदेश दिया– पैरों में बेड़ी डालकर कबीर को नदी में डुबाकर मार दिया जाय। जब उन्हें नदी में डाला गया तो उनकी बेड़ियाँ टूट गयी और वे तैरते हुए नदी के घाट पर आ गये। आग में जलाकर मारने की कोशिश की गयी तो आग बुझ गयी। पागल हाथी से कुचलने की कोशिश में हाथी ने सूँड से ऊपर उठाकर उन्हें आदर के साथ नीचे उतार दिया।

कथनी –करनी समान :

कबीर की कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था। वे अपनी बात साफ–साफ कह देते थे। वे जन्मजात कवि थे। उनकी रचनाएँ साखी, शबद और रमैनी के रूप में मिलती हैं। साखी दोहों में, शबद पदों में और रमैनी चौपाइयों में हैं। उनके नाम पर अब तक छह दर्जन पुस्तकें उपलब्ध हैं।

अगहन सुदी एकादशी संवत १५७५ (१५१८ ई०) में कबीर इस संसार से विदा हो गये। उस समय लोग मानते थे कि काशी में प्राण त्यागने से मुक्ति मिलती है और जो लोग मगहर (जिला बस्ती) में मरते हैं, वे नरक में जाते हैं। कबीर ने इस अंध विश्वास पर भी चोट की। वे जीवन भर काशी में रहकर कपड़ा बुनते और हरि भजन करते रहे। जब मृत्यु का समय निकट आया तो यह कहते हुए काशी छोड़कर चले गये कि —

जो कबिरा काशी मरै रामहु कौन निहोरा

कहा जाता है कि उनकी मृत्यु पर शव को लेकर हिन्दु मुसलमानों में विवाद हो गया। जब चादर उठाकर देखी गयी तो वहाँ पर केवल फूल मिले। उन पुष्पों को हिन्दू और मुसलमानों ने बाँट लिया और अपने–अपने ढंग से उनका अंतिम संस्कार किया।

२४६, प्रभुटाउन
रायबरेली

●

गुरु नानक

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सिक्खों के आदि गुरु नानक दिव्य पुरुष और अलौकिक संत थे। उनका जन्म १५ अप्रैल १४६९ ई० को लाहौर के निकट राई गोई तलवंडी नामक ग्राम में हुआ था। यह स्थान अब ननकाना साहब के नाम से सिक्खों का पवित्र तीर्थ है। उनके पिता मेहता कालू गाँव के पटवारी थे। माता का नाम तृप्ता था।

नानक के जन्म के समय की कई बातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, जिस समय नानक पैदा हुए दौलतन नाम की मुसलमान धाय यह देख कर चकित रह गयी कि नवजात शिशु रोने के स्थान पर वयस्कों की तरह हँस पड़ा। जब परिवार के ज्योतिषी श्री हरदयाल आये तो उन्होंने बालक को प्रणाम किया और कहा कि आगे चलकर यह सारे संसार में आदर पाएगा। हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से इसका सम्मान करेंगे।

बचपन :

बालक का नाम नानक रखा गया। इनकी एक बड़ी बहिन थी। ननिहाल में पैदा होने के कारण वह नानकी कहलाती थी।

नानक की विलक्षण प्रतिभा बचपन से ही प्रकट होने लगी थी। सात वर्ष की उम्र में पिता उनको गुरु के पास अक्षरारम्भ कराने के लिए ले गये। बालक पूछता है– गुरु जी आप मुझे क्या पढ़ाएँगे? गुरु ने उत्तर दिया– मैं तुम्हें हिसाब की और दूसरे विषयों की पुस्तकें पढ़ाऊँगा। इस पर नानक बोले– 'ऐसी पढ़ाई मेरे किस काम की? यह तो संसार में ही रह जायगी। मैं तो ऐसी पढ़ाई पढूँगा जो अत समय में भी मेरे काम आये।' ऐसी ही बातें उन्होंने संस्कृत के पंडित जी और फारसी के मौलवी साहब से कहीं।

यह देखकर कि उनका मन पढ़ने में नहीं लगता, पिता ने उन्हें भैंसे चराने के

काम में लगा दिया। नानक ने भैंसे छोड़ दी और स्वयं ध्यान लगा कर बैठ गये। भैंसों ने किसी का खेत उजाड़ दिया। उसकी शिकायत पर जब गाँव के मुखिया ने नानक से पूछा तो नानक का उत्तर था– उजाड़ने और रखने वाला तो ऊपर वाला है।

हर समय ध्यान में लगे रहने वाले नानक की दशा देखकर पिता ने उन्हें वैद्य को दिखाया। वैद्य ने कुछ दवाएँ लेने की राय दी। इस पर नानक ने वैद्य से पूछा– 'आप दवा देकर मुझे तो निरोग करना चाहते हैं, पर क्या आपने अपने भीतर की काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसी व्याधियों का उपचार करके स्वयं को स्वस्थ कर लिया है? वैद्य जी से कुछ उत्तर देते न बना। उन्होंने नानक को प्रणाम किया और घर वालों से बोले– आपने मुझे बुलाकर और असाधारण व्यक्ति के दर्शन का अवसर देकर मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है।

सब कुछ ईश्वर का :

पिता ने खेती के काम में लगाया, दुकानदारी की सलाह दी। पर नानक का मन इन कार्यों में कहाँ रमता। बहिन नानकी उन्हें अपने ससुराल ले गयी। कह–सुन कर एक नवाब के यहाँ नियुक्त कराया। काम था, नवाब के कर्मचारियों को तोल कर अनाज देना। यहाँ भी तोल की गिनती बारह तक तो ठीक चलती, जब तेरह पर आते तो 'तेरा तेरा–मैं तेरा' कहते रह जाते। इस दुनियाँ में मेरा क्या है, सब कुछ तेरा, ईश्वर का है। ऐसी स्थिति में सही तौल का ज्ञान उन्हें क्या रहता।

नवाब ने जब यह सुना तो नानक को नौकरी से हटा दिया। लेकिन जब उसने देखा कि उसके भंडार में कोई कमी नहीं है तो वह अपने किये पर बहुत लज़्जित हुआ। उसने नानक से क्षमा माँगी। पर नानक ने फिर उसके यहाँ काम करना स्वीकार नहीं किया।

यह सोचकर कि शायद गृहस्थी में पड़ कर नानक दुनिया के कामों में रुचि ले, पिता ने १८ वर्ष की उम्र में सुलक्षणा देवी के साथ उनका विवाह कर दिया। इस विवाह से उनके श्रीचन्द्र और लक्ष्मीदास नाम के दो पुत्र भी हुए। लेकिन नानक का मन तो गृहस्थी से अधिक लोक-कल्याण में लगता था। वे सब कुछ छोड़कर लोगों को सही मार्ग दिखाने के लिए देशाटन पर निकल पड़े। नानक ने अपने शिष्य बाल और मरदाना के साथ भारत के प्रमुख तीर्थों की यात्रा की। वे श्रीलंका,

तिब्बत, भूटान, बिलोचिस्तान, ईरान, काबुल, बगदाद भी गये।

महान समाज सुधारक :

उन्होंने लोगों के बीच बैर–भाव मिटाने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि न कोई हिन्दू है, न मुसलमान। सभी एक ही ईश्वर के बंदे हैं। हमें दूसरे के अन्दर की बुराइयों को न देखकर अपने अंदर देखना और अपनी बुराइयों कों दूर करना चाहिए। उन्होंने समाज-सुधार के क्षेत्र में भी बहुत काम किया। छुआछूत, अंध विश्वास, पाखंड का वे सदा विरोध करते रहे। मानव की एकता का पाठ पढ़ाना उनके जीवन का मुख्य ध्येय था। लोग मिल जुल कर, सुख और शान्ति के साथ रहें, यही वे चाहते थे। ऊँच–नीच के भेदभाव को उन्होंने कभी नहीं माना। एक बार भ्रमण करते हुए वे ऐबटाबाद पहुँचे तो वहाँ लालो नाम के बढ़ई क़े घर पर ठहरे। जब ऊँची जाति के अधिकारी भागो ने उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रण दिया तो नानक बोले– तुम स्वयं कोई काम नहीं करते, लोगों को डरा कर धन ऐंठते हो। तुम्हारा भोजन खून से सना है।

सब तरफ अल्लाह :

नानक सभी धर्मों के तीर्थ स्थानों में जाते थे। मुसलमानों के पवित्र तीर्थ मक्का की बात है। नानक एक रात वहाँ काबे की ओर पैर करके लेट गये। यह देखकर वहाँ का मुल्ला क्रोध में आकर उन पर बिगड़ पड़ा। इस पर गुरु नानक ने बड़े शान्त भाव से कहा– 'जिधर अल्लाह न हो, उधर मेरे पैर घुमा दो'। मुल्ला ने घसीट कर उनके पैर दूसरी तरफ कर दिये। लेकिन उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि जिधर वह उनके पैर करता, उधर ही काबा नजर आता था। तब उसकी समझ में आया कि ईश्वर सब जगह विद्यमान है। नानक यही शिक्षा देना चाहते थे।

इसी तरह की एक और किंवदंती प्रसिद्ध है। एक बार नानक घूमते हुए पंजाब के हसन अब्दाल नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ के पानी से सोते पर बली कंधारी नाम के एक दंभी फकीर का कब्जा था। जब मरदाना की प्रार्थना पर उसने गुरु नानक के लिए पानी देना मंजूर नहीं किया तो गुरु ने जमीन फोड़ कर अपने लिए पानी निकाल लिया। इससे दंभी फकीर का सोता सूख गया। क्रोध में जब उसने गुरु के सोते पर पहाड़ का टुकड़ा लुढ़काया तो गुरु नानक ने अपने पंजे से उसे रोक लिया। उनके पंजे का निशान पत्थर पर बन गया। इस समय वहाँ पर 'गुरुद्वारा पंजा साहब' नाम का

एक विशाल गुरुद्वारा है।

गुरु नानक के उपदेश बड़ी सरल भाषा के होते थे। वे अच्छे कवि थे और पदों की रचना करते थे। उनका शिष्य मरदाना साथ में बाजा बजाया करता था। एक बार किसी ने उनसे पूछा 'हिन्दू मुसलमान में कौन बड़ा है,' नानक ने उत्तर दिया 'वह जो भलाई करता है और परमात्मा में ही रमा रहता है।' वे नारी को भी पूरा सम्मान देते थे।

गुरुनानक देव ने सन् १५३८ ई० में करतारपुर में देह का त्याग किया। जैसा कि कबीर के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है, इनके अंतिम संस्कार के लिए भी शिष्यों में विवाद हो गया था। कहते हैं जब चादर उठा कर देखा तो वहाँ केवल कुछ फूल थे। नानक आज नहीं हैं, लेकिन उनके उपदेश लोगों को सदा सही मार्ग दिखाते रहेंगे।

२३४, राजेन्द्रनगर,
लखनऊ-४

भक्त मीराबाई

—डॉ० शकुन्तला सिरोठिया

जोधपुर के रेगिस्तान में १६वीं सदी में एक ऐसा सुगंधित फूल खिला था जिससे प्रदेश ही नहीं, पूरा भारत महक उठा। यह सुन्दर फूल था भक्त मीराबाई जिसके मधुर गीतों ने सूखी मरुभूमि में भी भक्ति रस की धारा बहाकर सरस बना दिया। मीराबाई का जन्म राठौर वंश में जोधपुर के कुड़की गाँव में संवत् १५५९ में हुआ था। इनके पिता राव रत्नसिंह तथा पितामह राव दादूजी बड़े वैष्णव भक्त और कुशल संगीतज्ञ थे। मीराबाई को भक्ति और संगीत के संस्कार उन्हीं से मिले थे। माँ का निधन मीरा के बचपन में ही हो गया था और पिता युद्ध में व्यस्त रहते थे। अतः दादा ने ही पोती मीरा का लालन-पालन और शिक्षा का भार संभाला।

मीरा अत्यन्त रूपवान, प्यारी और भोली बालिका थी। कंठ भी बहुत मीठा था। बचपन से ही वह बहुत लगन से पूजा–पाठ करती थी। दादा राव दादूजी के साथ वे भजन और कीर्तन करती थीं। संगीत की शिक्षा उन्हें उन्हीं से मिली थी।

कृष्ण की मूर्ति का आकर्षण :

एक बार एक साधु मीरा के यहाँ आया। उसके पास कृष्ण जी की मूर्ति थी। बालिका मीरा की भक्ति भावना देखकर, उसके भजन सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। बालिका को कृष्ण की मूर्ति की ओर एकटक देखते हुए देखकर साधु ने पूछा– 'बेटी तुझे क्या यह श्याम कन्हैया अच्छे लगते हैं?' मीरा ने ललचाई दृष्टि से मूर्ति की ओर देखकर कहा– 'हाँ बाबा, मुझे यह साँवरे कृष्ण बहुत अच्छे लगते हैं।' साधु ने मूर्ति मीरा को पकड़ा दी। बालिका ने उसे दोनों हाथों से पकड़कर छाती से लगा लिया और घर के अन्दर भाग गयी।

इस प्रकार उसे अपने भगवान मिल गये। कुछ दिन बाद पड़ोस में एक शादी

पड़ी। बारात में दूल्हे को देखकर छोटी सी मीरा ने पूछा- माँ मेरा दूल्हा कौन है?' माँ ने आले में रखी कृष्ण की मूर्ति को दिखाकर कहा 'यही है तेरा दूल्हा।'

इस प्रकार अभी तक जो कृष्ण मीरा के भगवान थे, वही अब उनके दूल्हा भी बन गये। वह उनकी पत्नी बन गयी। जीवन भर मीरा उन्हें पति और सखा के रूप में भजती रहीं। उनके अधिकांश गीतों में भी यही भाव झलकता है-

"माई म्हानें सपना में परण्या गोपाल।'

कृष्ण की मूर्ति को देखकर मीरा निहाल हो गयीं। वह दिन रात उन्हीं में मगन रहती, उनकी सेवा में लगी रहती। सखी-सहेलियों से हँसना-बोलना, उनके संग गुड़िया खेलना आदि उसे अच्छा नहीं लगता। वह तो उसी मूर्ति के साथ खेलती। उसे नहलाती, वस्त्र पहनाती, बातें करती, उनकी पूजा करती। रात को अपने पास सुलाती। लोग इतनी छोटी उम्र की लड़की का पूजा-पाठ और उसकी भक्ति देखकर दंग रह जाते थे।

भोजराज से विवाह :

मीरा का १४ वर्ष की उम्र में मेवाड़ के राणा कुम्भा के बड़े पुत्र युवराज भोजराज से विवाह कर दिया गया। बड़ी धूमधाम से मीरा मेवाड़ राजवंश की कुलवधू बनकर विदा हुईं। किन्तु दहेज के साथ वह अपने आराध्य देवता कृष्ण को ले जाना नहीं भूलीं। डोली में वह कृष्ण की मूर्ति को भी गोद में लेकर ही चढ़ी थी। नव वधू मीरा को साज-शृंगार, रत्न-आभूषणों, मूल्यवान वस्त्रों आदि किसी से लगाव नहीं था। ससुराल में भी वह दिन-रात अपने भगवान साँवरिया की सेवा में ही लगी रहती। पति भोजराज के प्रति भी उदासीन रही। महलों के रीति-रिवाज तथा वहाँ के कार्यों से भी मीरा को कोई मतलब नहीं था।

पति का देहांत :

विवाह के सात वर्ष भी नहीं बीते थे कि मीरा विधवा हो गयी। किन्तु वह तो इन सांसारिक सुख-दुखों से परे थी। हाँ, अब उसे साज शृंगार करने की आवश्यकता नहीं थी। पति भोजराज की मृत्यु से उसके जीवन में जैसे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। उसका सुहाग तो जगत के स्वामी मोर मुकुट वाले गिरधारी के संग बँधा था।

उसका सुहाग अमर था। वह गाती थी —

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई,
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

साधु संगति :

धीरे–धीरे मीरा सास, ननद, देवर, देवरानी सभी से कटती गयी। सभी उससे रुष्ट थे और वह सभी के प्रति उदासीन थी। पति की मृत्यु के बाद उनका देवर राणा विक्रमाजीत गद्दी पर बैठा। अभी उसकी उम्र केवल२० वर्ष की थी। वह दुष्ट स्वभाव का था। चरित्र भी उसका अच्छा नहीं था। मीराबाई को उसने अनेक कष्ट दिये। अनेक प्रकार के अत्याचार उन पर किये और उनके रहने के लिए अलग महल में प्रबंध करा दिया। अलग महल में रहने से भी मीरा को कोई कष्ट या चिंता नहीं हुई। उन्हें तो पूजा–पाठ की और सुविधा मिल गयी। भजन–कीर्तन के लिए स्वतन्त्रता मिल गयी। दूर–दूर से साधु–संत आते। मीराबाई के महलों में अब दिन–रात भजन–कीर्तन होने लगे। राज परिवार और समाज की झूठी मर्यादा से वे बाहर निकल आयीं। घूँघट का बंधन तोड़कर अब वे संतों के बीच आ जातीं। उनके साथ ढोलक–मंजीरे की ताल और धुन पर भजन गातीं। पैरों में घुँघरू बाँध कर वे अपने कन्हैया को रिझाने के लिए नृत्य करतीं —

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे
लोग कहें मीरा भई री बावरी
सासु कहे कुलनासी रे।

मीरा के इस प्रकार साधु–संतों के साथ भजन, कीर्तन और नाचने का लोगों ने विरोध किया। परिवार वालों ने भी उन्हें मना किया किन्तु मीरा तो जैसे दीवानी हो गयी थी। भला प्रभु से प्रेम करने, उसकी पूजा करने और रिझाने के लिए गाने और नृत्य करने में क्या बुराई? अपने ऊपर किये जा रहे अत्याचारों की उन्हें चिंता नहीं थी। उन्हें अपने प्रिय गिरधर नागर का वियोग ही सबसे बड़ा दुख था। अपने साँवले कृष्ण को अपने प्रेम और भक्ति के भावों को सुनाने के लिए वे जो कुछ गुनगुनातीं या गातीं वे सब उनके अनूठे गीत बन जाते थे।

पिता के यहाँ तो उन्हें संगीत की शिक्षा मिल ही चुकी थी। उनकी ससुराल में

भी संगीत के मर्मज्ञ और प्रेमी लोग थे। उनके मधुर कंठ से निकले भक्ति और प्रेम के गीत सुनकर लोग मुग्ध हो जाते। मीरा के यहाँ साधु-सन्तों का जमाव बिना किसी बाधा के होने लगा। दिन-रात कीर्तन-भजन होने लगे और मीराबाई उनके बीच बैठतीं, इकतारे पर गातीं और नाचतीं। अब वे बाहर भी निकलने लगीं। मंदिर, बागों और राजमार्गों पर भी कीर्तन करने लगीं।

राणा द्वारा विरोध :

राणा विक्रमाजीत को जब पता लगा तो उसने मना किया और कड़ाई से विरोध भी किया। लेकिन मीरा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब राणा ने उनके महल पर पहरा लगवा दिया। जासूसों को भी लगा दिया। लेकिन मीरा की भक्ति-भावना, कीर्तन, भजन आदि में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वे तो 'असुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई' गातीं और अब उनकी यह प्रेमलता बहुत फैल चुकी थी और बहुत ऊँची चढ़ गयी थी। उन्हें अपने खाने-पीने की भी सुधि नहीं रहती। रात की नींद भी गायब हो जाती। एक दिन इसी प्रकार रात को वे कृष्ण के सम्मुख रो-रोकर अपना प्रेम निवेदन कर रही थी प्रभु तुम अब कब मिलोगे, 'तुम बिन रहा न जाय। तुम मुझे क्यों इतना कष्ट दे रहे हो।' इत्यादि।

पहरेदार ने सुना तो समझा कि महल में कोई बाहर का व्यक्ति घुसा है और मीरा उससे प्रेम की बातें कर रही हैं। उसने तुरन्त इसकी सूचना राणा को जाकर दी। राणा सुनकर क्रोध से भर गया और नंगी तलवार लेकर महल में आया लेकिन वहाँ देखा कि मीरा कृष्ण जी की मूर्ति के सामने अकेली बैठी प्रेम निवेदन कर रही हैं। आँसुओं की धारा बह रही है। उन्हें अपना होश नहीं है। राणा ने देखा तो झेंप गया और खिसिया कर चुपचाप लौट गया।

विष का प्याला :

उधर मीरा ने गाया- 'मीरा प्रभु के हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी'। राणा फिर भी उनके पीछे पड़ा रहा। अब उसने निश्चय किया कि मीरा का अंत ही कर देना चाहिए। राणा स्वभाव का क्रूर और अत्याचारी था। वह अपने सुख और स्वार्थ के लिए कुछ भी करने से नहीं हिचकता था। उसने चरणामृत में विष मिला कर मीरा के पास भेजा। भक्त मीरा भला अपने प्रभु के नाम से भेजा गया चरणामृत पीने से कैसे इन्कार कर सकती थीं। उसने प्रभु का ध्यान लगा कर आँखें बन्द कर लीं और जहर

भरा चरणामृत का प्याला ओंठ से लगा लिया–

'विष का प्याला राणाजी भेज्या, मीरा हँस पी जाखी।' मीरा के ऊपर विष का कुछ असर नहीं हुआ। राणा अपनी इस हार से और चिढ़ गया। उसने एक जहरीले साँप को पिटारे में रखकर भेजा कि सालिग्राम की पूजा के लिए फूलों का हार है। मीरा हँस दी। राणा के षडयन्त्रों का उसे पता चल गया था। बेझिझक उसने पिटारा खोला तो उसमें सचमुच फूलों का हार निकला और उसने उसे अपने प्रभु को पहना दिया।

राणा तो मीरा का एक ही दुश्मन था किन्तु मीरा पर श्रद्धा और भक्ति रखने वाले राज्य में बहुत थे। राणा मीराबाई को मारना चाहता था। लेकिन वहीं ऐसे भी अनेक लोग थे, जो मीरा के जीवन की रक्षा करना चाहते थे। जहर को मारने की औषधि भी उन्हें आती थी। राणा मीराबाई को कष्ट देने के लिए क्या करने जा रहा है, यह सब उसके शुभचिंतकों को पता लग जाता था। पिटारे में हार नहीं मीराबाई को मारने के लिए जहरीला साँप भेजा जा रहा है इसका भी उन्हें पता लग गया था।

मीराबाई को अपने प्राणों का कोई मोह नहीं था। उन्हें तो पता था कि राणा ने उन्हें मारने को जहर भरा चरणामृत और जहरीला साँप भेजा है। लेकिन उसके शुभचिन्तकों ने उसकी रक्षा कर दी। लोग समझते थे कि भगवान ही भक्त की रक्षा कर रहें हैं। मीरा के प्रति जनता की श्रद्धा और बढ़ गयी।

मीरा की शांति राणा के विरोध और दुश्मन के कारनामों से भंग होने लगी। उसके पास आने वाले भक्तों को भी तरह–तरह से तंग किया जाने लगा। वे मन से बहुत दुखी हो गयीं। उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करना चाहिए। अतः उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी को पत्र भिजवा कर पूछा–

'हमको कहा उचित करिबो है, सो कहिए समुझाई।'

तुलसीदास जी ने उत्तर भिजवाया —

जाके प्रिय न राम वैदेही,

तजिए ताहि कोटि बैरी सम

जद्यपि परम सनेही।।

वृन्दावन में निवास :

इस पत्र से मीराबाई को स्पष्ट संकेत था कि जिसके मन में ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं है, जिसे राम और सीता (परमात्मा) से प्रेम नहीं है उसका तुरन्त त्याग कर देना चाहिए चाहे वह कितना ही अपना सगा-सम्बन्धी क्यों न हो। बस मीरा को अपना मार्ग मिल गया और वे मेवाड़ त्याग कर वृन्दांवन चली आयीं। मीराबाई का वहाँ खूब स्वागत हुआ। गली-गली में उनके मधुर कृष्ण प्रेम के गीत गूँजने लगे।

उन दिनों वृन्दावन में चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों की परम्परा के प्रसिद्ध सिद्ध संत जय गोस्वामी रहते थे। वे परम कृष्ण भक्त थे। मीरा उनसे मिलने गयी तो उन्होंने कहलाया —

"मैं किसी स्त्री से नहीं मिलता।"

मीरा ने कहा- "अभी तक मैं एक ही पुरुष को जानती थी वे हैं मेरे मुकुट धारी कृष्ण। आप भी पुरुष हैं, यह आज ही जाना है।"

जय गोस्वामी यह सुनकर बहुत लज्जित हुए और अपने शिष्यों के साथ बाहर आकर मीराबाई को दंडवत किया।

मीराबाई ने अपने कृष्ण को सदैव पति और सखा माना।

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।।
अंसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई,
अब तो बेलि फैल गयी, क्या करेगा कोई।'

अपने स्वामी वंशी वाले श्याम से मिलने के लिए वे दिन रात बेचैन रहतीं और उनसे निवेदन करतीं —

'मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे
थे बिन रह्यो न जाय।'

वैसे तो मीरा वृन्दावन में शान्ति से जीवन बिता रहीं थीं किन्तु मेवाड़ का त्याग करने के बाद राणा के राज्य में अशांति फैल गयी थी। अनेक विपत्तियाँ घिरने लगीं। प्रजा राणा के शासन से संतुष्ट नहीं थी। बहादुर शाह ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। लोगों ने अनुभव किया कि मीरा जैसी साध्वी और भक्त महिला का अपमान करके तथा उस पर अत्याचार करके राणा ने ठीक नहीं किया। उसी का परिणाम है कि अनेक प्रकार से संकट उत्पन्न हो रहे हैं। स्वयं राणा भी ऐसा ही अनुभव कर रहा था। उसने राज्य के ब्राह्मण और पुरोहित को मीराबाई को मनाकर पुनः घर लौटाने के लिए भेजा।

रणछोड़ के चरणों में :

जाल से छूटा हुआ पक्षी फिर जाल में नहीं फँसना चाहता। मीरा ने लौटने से इन्कार कर दिया और वे वृन्दावन छोड़कर दूर द्वारका चली गयीं। लेकिन राणा के आदमी उन्हें मनाने और मेवाड़ लौटाने के लिए वहाँ भी पहुँच गये। फिर भी जब उन्होंने वापस लौटना अस्वीकार किया तो ब्राह्मणों और पुरोहितों ने उनके निवास पर अन्न-जल छोड़ कर धरना दे दिया। मीराबाई को इससे बहुत दुख हुआ। वे धर्मसंकट में पड़ गयीं। हारकर उन्होंने कहा —

'आप लोग थोड़ा रुकिये। मैं मंदिर में अपने प्रभु से आज्ञा ले आऊँ। तब आपके साथ चलने का निर्णय लूँ।'

वे रणछोड़ जी के मंदिर में गयीं और प्रभु की मूर्ति के सम्मुख बैठकर रो-रोकर कहने लगीं —

'मेरे प्रभु अब मुझसे तुम से अलग नहीं रहा जाता। मुझे अपनी शरण में बुला लो मेरे गोपाल! तुम्हारे बिना अब एक पल भी जीना नहीं चाहती। मुझे इस मायाजाल से मुक्ति दे दो।'

यह कहती-कहती मीरा रणछोड़ जी की मूर्ति के सम्मुख दंडवत होकर उन्हें आंसुओं से भरे नेत्रों से निहारने लगीं और निहारते-निहारते ही उनके प्राण छूट

गये। आँखें खुली की खुली अपने प्यारे प्रभु को देखती रहीं।

जब लोग मंदिर के पट खोल कर अंदर गये तब मीरा वहाँ नहीं थीं। उनका निष्प्राण शरीर ही वहाँ पड़ा था। उनके नेत्र अभी भी खुले एकटक प्रभु की ओर निहार रहे थे। उनके प्राणों का पंछी उड़ गया था।

१०९, बाई का बाग
इलाहाबाद-३

●

महाकवि तुलसीदास

—डॉ० श्यामलाकान्त वर्मा

एक बालक था। वह निर्धन था और अनाथ था। राम-राम कह कर वह लोगों के यहाँ जाता और खाने के लिए कुछ माँगता। जो कुछ मिलता उसे खाकर वह अपना पेट भर लेता। फटा-पुराना पहन कर वह अपना शरीर ढँक लेता। कभी मंदिर में, कभी मस्जिद में और कभी किसी दूसरे ठिकाने पर सो कर रात बिता लेता था। उसे सब लोग रामबोला कहकर पुकारते। इसी से उसका नाम रामबोला पड़ गया। यही बालक बाद में तुलसीदास नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तुलसीदास का जन्म संवत् १५८९ वि० में राजापुर नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव उत्तर-प्रदेश के बाँदा जिले में हैं। उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का नाम 'हुलसी'। तुलसीदास का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था। ज्योतिष विद्या के अनुसार इस नक्षत्र में पैदा होने वाला बालक परिवार के लिए अच्छा नहीं माना जाता है। इनके जन्म के बाद ही इनकी माँ की मृत्यु हो गयी। इनके पिता ने इनको त्याग दिया। कुछ बड़ा होने पर यह बालक राम का नाम ले-लेकर अपना पेट पालने लगा।

तुलसीदास ने अपनी कविताओं में अपनी बाल्यावस्था का परिचय दिया है —

'मातु-पिता जग जाय तज्यो बिधिहू न लिखी कुछ भाल भलाई।'

(अर्थ है- माता-पिता ने संसार में मुझे जन्म देने के बाद त्याग दिया। ब्रह्मा ने भी मेरे भाग्य में कुछ अच्छा नहीं लिखा।)

२- **'बारें ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,**

जानत हों चारि फल चारि ही चनक को।'

(अर्थ है- बचपन से ही दीन-निर्धन रूप में ललचाया हुआ रोता-कलपता लोगों के द्वार पर जाता रहा। यदि चार चना (थोड़ा सा भी) खाने को मिल

जाता तो उसे चार फल मानकर लेता था।)

'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम।'

(अर्थ है– राम का मैं सेवक था, राम ने मेरा नाम रामबोला रख दिया।)

रामबोला से तुलसीदास :

बालक रामबोला इधर–उधर घूमता रहा। उसकी भेंट संत–साधुओं से हो गयी। संत नरहरि दास ने उसे अपना शिष्य बना लिया। इसी संत से रामबोला ने विद्या प्राप्त की। रामबोला का नाम तुलसीदास हो गया। तुलसीदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रामचरितमानस' में अपने गुरु के चरणों की वंदना करते हुए कहा है–

'बन्दौ गुरु–पद–कंज, कृपा–सिन्धु नर रूप हरि।

महामोह तम–पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।।'

उन्होंने कृपा के सागर गुरु नरहरि दास के कमलवत चरण की वंदना की है। गुरु की वाणी सूर्य की किरणों के समान प्रकाश देती है और अज्ञान के अंधकार को मिटा देती है।

पत्नी का उलाहना :

तुलसीदास ने अपने गुरु से वेद, शास्त्र, पुराण, साहित्य आदि की शिक्षा प्राप्त की। उनसे ही उन्होंने राम की कथा सुनी। राम के प्रति तुलसीदास में भक्ति जागी। वे राम के भक्त बने, पर संसार के सुख की चाह भी उनके मन में बनी रही। उनका विवाह 'रत्नावली' से हुआ। वह दीनबन्धु पाठक नाम के एक ब्राह्मण की पुत्री थी। तुलसीदास अपनी पत्नी से बहुत प्यार करते थे। कहा जाता है कि जब वे कहीं गये हुए थे तब उनकी पत्नी अपने मायके चली गयी थी। श्रावण का महीना था। घनघोर वर्षा हो रही थी। उफनती नदी पार कर तुलसीदास अपनी ससुराल पहुँच गये। अचानक अपने पति को उस भयंकर रात में अपने घर आया देख रत्नावली चकित रह गयी। बिना बुलाये ससुराल में इस तरह तुलसीदास का आना उसे अच्छा नहीं लगा। उसने उलाहना देते हुए कहा —

'अस्थि चर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।

तैसी जो श्रीराम मँह, होति न तो भवभीति'।।

अर्थात् हाड़–माँस की मेरी देह पर जैसा तुम्हारा प्रेम है वैसा प्रेम यदि श्री राम

में होता तो संसार की सारी भय–बाधा मिट जाती।

रचनाएँ :

तुलसीदास पर पत्नी के इस कथन का गहरा प्रभाव पड़ा। वे वैरागी हो गये। उनका सारा प्रेम राम को समर्पित हो गया। वे महान रामभक्त हो गये। कविता लिखने की महान प्रतिभा उन्हें प्राप्त थी। गुरु से उन्होंने अपार ज्ञान प्राप्त किया था। वे राम की भक्ति और काव्य की रचना में लग गये। उन्होंने अपनी रचनाएँ साधारण बोलचाल की भाषा–अवधी और ब्रजबोली में कीं। उनकी लिखी बारह पुस्तकों के शीर्षक हैं–

१–रामचरित मानस

२–गीतावली

३–कवितावली

४–वैराग्य संदीपनी

५–रामाज्ञा–प्रश्न

६–दोहावली

७–पार्वती–मंगल

८–रामलला–नहछू

९–जानकी मंगल

१०–श्रीकृष्ण गीतावली

११–बरवै रामायण

१२–विनय–पत्रिका

रामचरित मानस :

महाकवि तुलसीदास की रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है– 'रामचरित मानस'। इसमें कवि ने दशरथ–पुत्र रामचन्द्र के जीवन की पूरी कथा का वर्णन किया है। राम मर्यादा–पुरुषोत्तम हैं। ईश्वर की १६ कलाओं में से १२ कलाएँ उनमें उपस्थित थीं। इन्हीं राम के आदर्श चरित्र को प्रमुखता देकर महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' शीर्षक महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य को कवि ने सात काण्डों में बाँटा। प्रत्येक काण्ड के प्रारम्भ में संस्कृत में मंगलाचरण लिखा है।

रामचरित मानस के सात खण्ड हैं —

१-बालकाण्ड

२-अयोध्याकाण्ड

३-अरण्यकाण्ड

४-किष्किंधाकाण्ड

५-सुन्दरकाण्ड

६-लंकाकाण्ड

७-उत्तरकाण्ड

मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अतिरिक्त भरत, लक्ष्मण, सीता, हनुमान्, कौशल्या, दशरथ, कैकेयी, सुमित्रा, शत्रुघ्न, रावण अन्य पात्रों का चरित्र इस महाकाव्य में आया है। इस महाकाव्य में सभी पात्रों का बड़ा ही सजीव वर्णन है।

रामचरितमानस की रचना अवधी भाषा में हुई है। इस महाकाव्य को मुख्य रूप से दोहा और चौपाई जैसे छन्दों में लिखा गया है! कहीं-कहीं अन्य प्रकार के भी छन्द आ गये हैं। इस रचना में भगवान के रूप में राम को देखा गया है। इसीलिए इसमें भक्ति का भाव अधिक है। राम ने मनुष्य का रूप लेकर सारा कार्य किया है। उनका यह चरित्र अत्यन्त उच्चकोटि का है। साधु-संतों की उन्होंने रक्षा की। माता-पिता की आज्ञा मानकर वे राज्य छोड़कर वन को चले गये। राम और सीता के आदर्श चरित्र ने वन में रहने वाले अशिक्षित, असभ्य लोगों का जीवन सुधारा। सीता-हरण के बाद राम ने नर-लीला करते हुए सीता के लिए अपने अपार दुख का परिचय दिया। वानरों की संगठित सेना लेकर उन्होंने लंका पर चढ़ाई की। लंका के अनेक वीर मारे गये। रावण मारा गया। सीता मुक्त हुईं। राक्षसों, आततायियों का संहार हुआ। बुराई पर अच्छाई की विजय हुई। राम राजा बने, रामराज्य स्थापित हुआ। अवधपुरी में नित्य नये उत्सव होने लगे। सभी लोग हर्षित रहने लगे। रामराज्य में सारी प्रजा सुखी हो उठी। आज भी हम चाहते हैं कि वैसा ही राज्य हो, रामराज्य हो और सब लोग सुखी हों।

कुछ सूक्तियाँ :

इस महाकाव्य में कई प्रकार की घटनाएँ हैं और कई तरह के चरित्र हैं। इनके वर्णन में कहीं वात्सल्य भाव आ गया है तो कहीं क्रोध, उत्साह, आश्चर्य, शृंगार,

करुणा। कहीं वीभत्स (घृणायुक्त) दृश्य आ गये हैं तो कहीं हँसी की गूँज सुनायी पड़ती है। इस प्रकार कविता के नौ रसों का इस रचना में बड़ा ही सुन्दर प्रयोग है। सम्पूर्ण रामचरित मानस इतना रसपूर्ण, आनंदमय और महत्त्वपूर्ण है कि इसे बार-बार- पढ़ने की इच्छा होती है। इसके पढ़ने से हमें ज्ञान मिलता है, आनंद मिलता है और भक्ति मिलती है। इसीलिए यह ग्रंथ सारे भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। रामचरित मानस की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं। सूक्ति में ये पंक्तियाँ समय-समय पर हमें मार्ग दिखलाती रहती हैं -

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा समय नहिं अधमाई।।

* * *

जहाँ सुमति तहँ सम्पत नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना।।

* * *

खल सन कलह न भल, नहिं प्रीती।

* * *

मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलिहिं बिरंचि सम।

* * *

का वर्षा जब कृषि सुखाने।
समय चूकि पुनि का पछिताने।।

* * *

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

* * *

जो जस करइ सो तस फल चाखा।

समाज सुधारक :

तुलसीदास महान भक्त और महाकवि तो थे ही, वे एक समाज सुधारक भी थे। उनकी रचनाओं में आये विचार व्यक्ति और समाज को सुधारने में सफल रहे हैं।

उनकी सूक्तियों तथा शिक्षाप्रद उक्तियों ने समाज का बड़ा हित किया है। माता-पिता के और गुरु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। भाई-भाभी, मित्र वर्ग और परिजन-पुरजन के साथ कैसा आचरण करना चाहिए, यह शिक्षा 'रामचरित मानस' से ही हमें मिलती है।

तुलसीदास के मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं था। उनका विरोध करने वाले तो थे, पर वे उनका भी अहित नहीं चाहते थे। वे बड़े दयालु थे। कहा जाता है कि एक गरीब ब्राह्मण को अपनी कन्या के विवाह के लिए धन की आवश्यकता थी। उसने अपनी दुख-व्यथा तुलसीदास से कही। वे द्रवित हो उठे। उन्होंने आधा दोहा लिखकर इसे अपने मित्र कविवर रहीम के पास भेज दिया। रहीम सम्राट अकबर के वजीर थे। उन्होंने उस दोहे को पढ़ा —

"सुरलिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय।"

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत कुछ धन देकर और दोहे की दूसरी पंक्ति लिखकर उसे तुलसीदास के पास वापस भेज दिया। यह दूसरी पंक्ति थी —

"गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय"।

इसी पंक्ति से तुलसी की माँ का नाम (हुलसी) ज्ञात हो सका।

एक अत्यंत निर्धन, अनाथ रामबोला अपने कर्म, श्रम और शक्ति से ज्ञानी विद्वान, भक्त, महाकवि तुलसीदास बन गया। वृद्धावस्था में तुलसीदास महामारी के शिकार हो गये। इक्यात्रबे वर्ष की अवस्था प्राप्त कर संवत् १६८० में वे काशी में दिवंगत हुए। उनकी मृत्यु-तिथि का परिचय इस दोहा से लगता है -

'संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर,
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तजे सरीर।'

इस महापुरुष की काया समाप्त हो गयी, पर अपनी रचनाओं के कारण वह अमर है।

सी-२३/२८, कबीर चौरा,
वाराणसी

●

महाराणा प्रताप

—डॉ० विद्याविन्दु सिंह

मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ न्यौछावर करने वाले देशभक्तों में महाराणा प्रताप का नाम सदैव आदर के साथ लिया जायगा। वे मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए शत्रु की बड़ी से बड़ी शक्ति से निरंतर लोहा लेते रहे, किन्तु कठिन से कठिन परिस्थिति आने पर भी हार नहीं मानी।

वे महाराणा संग्राम सिंह जैसे शूर–वीर, साहसी, देशभक्त के पौत्र थे, जिन्होंने बाबर के साथ युद्ध किया था।

राणा प्रताप के पिता मेवाड़ के राणा उदय सिंह थे। पन्नाबाई धाय के त्याग के बारे में सब लोग जानते हैं। पन्नाबाई ने उदय सिंह के प्राणों की रक्षा के लिए उसके स्थान पर अपने शिशु पुत्र को सुला दिया था। शत्रु ने उसे राणा संग्राम सिंह का पुत्र समझकर उसका वध कर दिया था। पन्नाबाई उदय सिंह को टोकरी में छिपाकर बचा लायी थी।

उदय सिंह के शासन काल में मुगल बादशाह अकबर ने १५६७ ई० में मेवाड़ पर चढ़ाई करके चित्तौड़ को जीत लिया था। पर राणा उदय सिंह ने चित्तौड़ को पुनः प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया। राजस्थान में उदयपुर नगर राणा उदय सिंह का ही बसाया हुआ है। उदय सिंह ने १५७२ ई० तक उदयपुर पर राज्य किया।

उदय सिंह विलासी स्वभाव के व्यक्ति थे। राणा प्रताप उनके पुत्रों में सब से तेजस्वी थे। किन्तु उदय सिंह ने ज्येष्ठ पुत्र प्रताप को अपनी राज गद्दी का उत्तराधिकारी न बना कर विलासी पुत्र जगपाल को गद्दी सौंप दी। मेवाड़ की जनता उदयसिंह के कारनामें देख चुकी थी, जिसने शत्रु से अपने हारे हुए दुर्ग जीतने का प्रयत्न न करके उदयपुर में विलासी जीवन बिताया था। वह और अपमान सहन करने के लिए तैयार नहीं थी। उसने जगपाल को स्वीकार नहीं किया और ३ मार्च १५७२ ई० को महाराणा प्रताप को गद्दी पर आसीन कर दिया। महाराणा प्रताप का जन्म ३१ मई १५३९ ई०

को हुआ था। वे जीवन भर संघर्ष करते हुए १९ जनवरी १५९७ तक गद्दी पर रहे।

बादशाह अकबर उस समय सबसे दौलतमंद बादशाह था। उसने चढ़ाई करके उदयसिंह से चित्तौड़ गढ़ पहले ही ले लिया था। राजपूतों की शक्ति को समाप्त करने के लिए अकबर ने बड़ी कूटनीति से काम लिया। उनमें से किसी के साथ शादी–विवाह के सम्बन्ध स्थापित किये और कुछ को अन्य तरीकों से अपनी ओर मिलाया। एक प्रसिद्ध इतिहासकार सेंट स्मिथ ने लिखा है– मुगल अकबर ने प्रताप के विरुद्ध उसी के सहधर्मियों को खड़ा कर दिया। यहाँ तक कि मारवाड़, आमेर, बीकानेर और बूँदी जो कल तक प्रताप के पक्के मित्र थे, उन्होंने भी अकबर के पक्ष का समर्थन किया। किन्तु इस पर भी राणा प्रताप ने अपने छोटे राज्य के साधनों से संसार के उस समय के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य से लोहा लिया।

हल्दी घाटी का युद्ध :

जब महाराणा प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की तब अकबर ने आमेर के राजा मानसिंह तथा आसफ खाँ के नेतृत्व में सन् १५७६ में अपनी बहुत बड़ी सेना राणा प्रताप को परास्त करने के लिए भेज दी। यह युद्ध जून १५७६ की भयंकर गर्मी में गोलकुण्डा के निकट हल्दीघाटी के मैदान में हुआ। हल्दीघाटी युद्ध में मंहाराणा के प्रिय और बहादुर घोड़े चेतक की वीरता की गाथा अमर है। वीर रस के सुप्रसिद्ध कवि स्व० श्री श्यामनारायण पाण्डेय का खण्ड काव्य "हल्दी घाटी" पढ़कर हमें इस युद्ध की सजीव झाँकी मिल सकती है।

हल्दीघाटी युद्ध में महाराणा प्रताप ने अत्यन्त बहादुरी के साथ शत्रु सेना का सामना किया। किन्तु शत्रु के अच्छे हथियारों और अधिक सैनिकों के कारण उन्हें हारना पड़ा। राणा को पहाड़ों के छाँओद नामक दुर्ग में शरण लेनी पड़ी। शाही सेना ने उनके कई किलों पर अधिकार कर लिया। इसके बाद भी राणा प्रताप ने बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की और मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए मृत्युपर्यन्त लड़ते रहे। १९ जनवरी १५९७ ई० को उनकी मृत्यु हुई। तब तक उन्होंने अपने कई गढ़ों पर वापस अधिकार प्राप्त कर लिया था। वे अकेले राजपूत थे जो सदा स्वतन्त्र रहे और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तिशाली सेना से टक्कर लेते रहे।

महाराणा के चरित्र से छत्रपति शिवाजी ने प्रेरणा ली। स्वतन्त्रता संग्राम के

सेनानियों के लिए भी महाराणा प्रेरणा के स्रोत थे।

वे कभी हार न मानने वाले योद्धा तो थे ही साथ ही बड़े उदार मानव भी थे। वे अपने राज्य के सभी लोगों के प्रति स्नेह और आदर का व्यवहार करते थे। सबके सुख-दुख में साथ देते थे। वे इतने लोकप्रिय थे कि कोल-भीलों ने राणा के संकट के क्षणों में अपने प्राणों की परवाह न करते हुए उनका साथ दिया। जब वे अपने परिवार और मित्रों के साथ जंगलों की खाक छान रहे थे तब वहाँ की जन-जातियों ने उनकी तन-मन-धन से सेवा करने का संकल्प लिया।

महाराणा प्रताप के जीवन की तीन मुख्य घटनाओं से उनके उदार चरित्र-हृदय की विशालता और त्यागमय जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है।

महिलाओं का सम्मान :

शहंशाह अकबर के सेनापति थे अब्दुल रहीम खानखाना। उन्होंने महाराणा प्रताप के ऊपर चढ़ाई कर दी। पर महाराणा और उनके वीर साथियों की वीरता के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा। अकबर के सेनापति का रनिवास और उनकी सेविकाएँ पीछे छूट गयीं। महाराणा के पुत्र अमरसिंह ने सेनापति की पत्नी और उनकी परिचारिकाओं को बन्दी बना लिया और महाराणा जी के सामने प्रस्तुत किया।

महाराणा को पुत्र के इस कार्य से बड़ा दुःख पहुँचा। उन्होंने पुत्र को इस कार्य के लिए धिक्कारा और डाँटा। उन्होंने कहा कि हमारी लड़ाई शत्रु से है, न कि इन नारियों से। पुत्र को आदेश दिया कि इन्हें ससम्मान वापस इनके पति के पास पहुँचा कर आइये। हम आज इस स्थिति में नहीं हैं कि इन्हें बहुमूल्य उपहार देकर भेज सकें, इसका दुख है। पर यथा सम्भव जो भी मूल्यवान वस्तुएँ उनके पास थीं उनका उपहार देकर महाराणा ने उन महिलाओं से क्षमा माँगी और उनको ससम्मान वापस भेजा। यही सेनापति अब्दुल रहीम खानखाना हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि थे। महाराणा की इस उदारता ने उनके हृदय को बहुत प्रभावित किया।

वीर धर्म का सम्मान :

महाराजा के उदात्त चरित्र की झलक एक अन्य घटना से मिलती है। जहाँगीर के चाचा थे सेनापति सेरिमा सुल्तान। युद्ध के दौरान महाराजा के पुत्र अमरसिंह ने उन्हें बरछी से मारा। सेरिमा सुल्तान बहुत बहादुर सेनापति था। उसने कहा- मैं उस बहादुर को देखना चाहता हूँ, जिसने मुझे आहत किया। उसने अन्य किसी के हाथ का पानी

पीना स्वीकार नहीं किया और कहा वह मुझे गंगा जल लाकर पिलाये ऐसा संदेश भेज दीजिए।

महाराणा प्रताप ने सुना तो कुछ चिंतित हुए। उनके साथियों ने भी कहा कि इसमें दुश्मन की कोई चाल हो सकती है। किन्तु महाराणा ने कहा कि मरते हुए व्यक्ति की इच्छा अवश्य पूरी करनी चाहिए। वे अमर सिंह के साथ गंगाजल लेकर गये।

सेरिमा सुल्तान ने गंगाजल पीकर कहा कि मेरी बरछी अमर सिंह निकाल दें, मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है।

अमर सिंह बरछी निकालने में जोर लगाने के लिए पैर से सेरिमा की देह दबाने के लिए प्रस्तुत हुए, किन्तु तत्काल राणा ने उन्हें रोक दिया। वे पुत्र से बोले कि इस समय यह तुम्हारा शत्रु नहीं एक वीरगति को प्राप्त होने जा रहा योद्धा है, उसे पैर से स्पर्श करना वीर धर्म का अपमान है।

अमर सिंह ने पिता के आदेश का पालन किय।

भामाशाह का योगदान :

महाराणा प्रताप की लोकप्रियता का दूसरा उदाहरण है– उनके एक मन्त्री भामाशाह का राणा को अपना सर्वस्व समर्पण। पहाड़ों–जंगलों में भटकते हुए जब राणा धनाभाव के कारण सैन्यबल और हथियार जुटा पाने में अपने को असमर्थ और असहाय पा रहे थे, उसी समय भामाशाह ने अपनी सम्पूर्ण जमापूँजी देकर उन्हें हिम्मत बँधाई और कहा कि इस धन से अब आगे की योजना बनायें और शत्रु पर विजय प्राप्त करें। महाराणा ने उन्हें बहुत समझाया कि यह सम्पत्ति आप के परिवार के लिए है। पर भामाशाह ने अपना दृढ़ निश्चय सुना दिया। तब महाराणा ने उसे संकट की घड़ी में दैवी वरदान समझ कर उस धन का उपयोग सैन्यबल जुटाने और उसे संगठित करने में किया। यह घटना उनकी लोकप्रियता और उनकी देशभक्ति के प्रति जननिष्ठा का प्रमाण है।

घास की रोटी भी छिन गयी :

उनके जीवन की एक और घटना सबकी आँखें भिगो जाती है। राणा के परिवार को पहाड़ों और वनों में निर्वाह करते हुए कई दिन हो गये थे। जीवन की अनिवार्य

आवश्यकताओं को पूरा करने के साधनों के अभाव में भी कठिन संघर्ष करते हुए स्वाभिमान के साथ वे दिन काट रहे थे। छोटी बच्ची को कई दिनों से केवल पानी पीकर रहना पड़ा था। कहाँ सुख सुविधाओं में पली वह राजकुमारी और कहाँ यह अभाव भरा जीवन। वह भूख से बेहाल हुई जा रही थी। स्वयं राणा और महारानी ने कई दिनों से कुछ नहीं खाया था, पर बच्ची की भूख से व्याकुलता उनसे देखी नहीं जा रही थी। पर वे क्या करते? स्वाभिमान छोड़ देते तो सारा सुख वैभव चरणों पर न्योछावर होता लेकिन वीर पुरुष कठिन से कठिन परिस्थिति में भी झुकना नहीं जानते। स्वाभिमान उनके लिए प्राणों से भी अधिक मूल्यवान था। महारानी से बच्ची का रोना नहीं देखा जा रहा था। वे क्या करें कुछ समझ नहीं पा रहीं थीं।

इतने में उन्होंने देखा एक मृग-शावक हरी-हरी घास चर रहा है। घास खाकर वह कुलाँचें भरते हुए भाग गया। अचानक रानी के मन में एक विचार उठा और उन्होंने मुलायम-मुलायम घास तोड़करउसे पत्थर पर पीस लिया और उसी की रोटी बनाकर बच्ची के हाथ में थमा दी। रोती बच्ची चुप हो गयी। वह घास की रोटी का कौर मुख में डालने जा ही रही थी कि एक जंगली बिलाव अचानक झपट्टा मारकर बच्ची के हाथ से रोटी छीनकर भाग गया। बच्ची जोर-जोर से चीख उठी। एक क्षण को महाराणा का हृदय काँप गया। पुत्री और पत्नी की आँखों के आँसू उनका संकल्प डगमगा दें इसके पहले ही महारानी ने उन्हें ढाँढ़स बँधाया। बच्ची भी पिता की मुखमुद्रा देखकर स्तब्ध होकर चुप हो गयी। महाराणा का दृढ़प्रतिज्ञ मन फिर से स्थिर हो गया और स्वाभिमान की रक्षा का अपना संकल्प उन्होंने पुनः पूरे विश्वास के साथ दुहराया। अंत में सत्य और साहस की विजय हुई। महाराणा के शौर्य की गाथाएँ अमर हुईं।

महाराणा प्रताप का जीवन उनके उज्ज्वल चरित्र, उनके अविचल धैर्य और महान स्वतन्त्रता प्रेम की कहानी कहता है।

४५, गोखले विहार मार्ग,
लखनऊ

सम्राट अकबर

—श्रीराम श्रीवास्तव 'कमलेश'

प्राचीन काल से भारत में समय–समय पर बहुत से छोटे–बड़े राज्यों की स्थापना होती रही। इन राज्यों में हिन्दू राजाओं का ही राज्य रहा। सन् ११९२ ईसवी में तराइन के युद्ध में दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान गोरे देश के सुल्तान मुहम्मद गोरी से युद्ध में हार गये। तब यहाँ हिन्दू राजाओं के स्थान पर मुसलमान सुल्तानों का शासन आरम्भ हुआ। इन्हीं में लोदी वंश का अन्तिम सुल्तान इब्राहिम लोदी था। उसे मुगल वंश के सुल्तान बाबर ने पानीपत के रणक्षेत्र में सन् १५२६ ई० में परास्त कर मुगल वंश के राज्य की नींव डाली। इसी मुगल वंश का तीसरा सम्राट अकबर था।

अकबर के पिता का नाम हुमायूँ तथा माता का नाम हमीदा बेगमं था। हुमायूँ का जीवन बड़े संघर्षो में व्यतीत हुआ। जिस समय हुमायूँ शेरशाह सूरी से युद्ध में परास्त होकर काबुल की ओर जा रहा था तो अमर कोट के किले में सन् १५४३ में अकबर का जन्म हुआ।

हुमायूँ काबुल जा पहुँचा किन्तु वहाँ शान्ति से नहीं बैठा। उसे अपने भारत का राज्य छिन जाने का बड़ा दुःख था। वह वहाँ अपनी शक्ति बढ़ाता रहा। जब दिल्ली के शासक शेरशाह सूरी का देहान्त हो गया तो हुमायूँ ने उस वंश के निर्बल शासक पर आक्रमण करके दिल्ली तथा पूरे राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। किन्तु वह अधिक दिन राज्य नहीं कर सका। सन् १५५६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

तेरह वर्ष में सम्राट :

उस समय अकबर की आयु केवल १३ वर्ष की थी। किन्तु उसे राजगद्दी पर बिठा दिया गया। सम्राट अकबर के पालन–पोषण तथा देख–रेख का कार्य बैरम खाँ नाम के योग्य सरदार ने सम्भाला।

अकबर यद्यपि अधिक लिखा–पढ़ा नहीं था किन्तु बड़ा बुद्धिमान, साहसी

और शूरवीर था। युवक होने पर जब उसने शासन अपने हाथ में लिया तो बड़ी बुद्धिमता से अपने राज्य को संगठित तथा विस्तृत किया। उसके गद्दी पर बैठते ही सन् १५५६ ई० में ही हेमू नाम के पठान सरदार ने आक्रमण करके दिल्ली, आगरा पर अधिकार करना चाहा। पानीपत के रणक्षेत्र में शाही सेना से घमासान युद्ध हुआ। इसमें हेमू की पराजय हुई, अकबर विजयी हुआ।

राज्य का विस्तार :

शासन अपने हाथ में लेने के पश्चात् सम्राट अकबर की अभिलाषा भारत में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने की हुई। उसने समय-समय पर चारों दिशाओं में सेनाएँ भेजकर साम्राज्य विस्तार का प्रयत्न किया। उत्तर में पंजाब, कश्मीर पर अधिकार किया। पश्चिम में भारत वर्ष के बाहर अफगानिस्तान के कंधार पर अधिकार जमाया। पूरब में बिहार, उड़ीसा, बंगाल प्रदेश अपने राज्य में सम्मिलित किये। ग्वालियर, अजमेर, जौनपुर मालवा, चित्तौड़ पर भी अधिकार किया।

मेवाड़ के राणा प्रताप स्वाभिमानी थे। उन्हें अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं थी। इसलिए उन पर आक्रमण कर हल्दीघाटी के युद्ध में उन्हें परास्त किया तथा रणथम्भौर पर भी अधिकार कर लिया। गुजरात पर भी उसका अधिकार हो गया। इससे उसके साम्राज्य की सीमा अरब सागर के तट तक फैल गयी। कई बन्दरगाह सम्राट अकबर के अधिकार में आ गये जिससे पश्चिमी देशों से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने में सुविधा हुई। उसने दक्षिण में गोदावरी नदी तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। इस प्रकार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना का अपना संकल्प पूर्ण किया।

अकबर की शासन व्यवस्था :

शासन की सुविधा के लिए पूरे साम्राज्य को पन्द्रह सूबों में बाँटा गया था। केन्द्र में ऊँचे अधिकारी वजीर, बक्शी और कोतवाल थे। वजीर शासन प्रबन्ध, बक्शी सेना प्रबन्ध और कोतवाल नगर प्रबन्ध के विशेष अधिकारी थे। काजी न्याय करता था। अपराधियों को दंड दिया जाता था, किन्तु हाथ-पैर आदि काटने का दंड नहीं दिया जाता था। केन्द्र में एक स्थायी विशाल सेना थी।

नौ रत्न :

सम्राट अकबर विद्वानों तथा कलाकारों का बड़ा आदर सम्मान करता था।

राज–काज में सहायता तथा सलाह देने के लिए नौ अनुभवी व्यक्तियों की एक समिति बनायीथी जो इतिहास में अकबर के 'नौ रत्न' नाम से विख्यात है। इन नौ रत्नों में राजा मानसिंह, राजा टोडरमल, राज बीरबल, अबुल फजल, फैजी, अब्दुल रहीम खानखाना तथा तानसेन प्रमुख थे।

फैजी ने फारसी में "अकबरनामा" की रचना की इसमें अकबर से सम्बन्धित घटनाओं का विस्तृत वर्णन है। अबुल फजल ने इसी पुस्तक अकबरनामा से कायदे कानून सम्बन्धी एक पुस्तक "आइने–अकबरी" लिखी। सम्राट अकबर संगीत का भी बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में महान संगीतज्ञ तानसेन थे। राजा टोडरमल ने भूमि की नाप कराकर खेतों की सीमा निश्चित करके खेती की उपज बढ़ाने का प्रबन्ध किया।

अकबर बड़ा विनोद प्रिय था। राजा बीरबल नौ रत्नों में अधिक बुद्धिमान और हाजिरजवाब थे। बीरबल तथा सम्राट अकबर के चुटकुले अधिक रुचिकर होने से प्रसिद्ध हैं। सम्राट अकबर के समय में चित्रकला का भी बड़ा विकास हुआ।

सब धर्मों का सम्मान :

सम्राट अकबर हिन्दुओं का भी आदर सम्मान करता था। उसने उन्हें ऊँचे–ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। हिन्दुओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी किया। जोधाबाई उनकी हिन्दू रानी थी। जजिया नाम का धार्मिक कर जो हिन्दुओं पर ही पहले के मुसलमान सम्राटों ने लगाया था, सम्राट अकबर ने हटा दिया। गो-हत्या पर भी प्रतिबन्ध लगाया। अकबर ने समाज-सुधार पर भी ध्यान दिया।

अकबर सभी धर्मों का आदर करता था। वह धार्मिक भेदभाव तथा धर्म के नाम पर झगड़े समाप्त करने का पक्षपाती था। इसीलिए उसने फतेहपुर सीकरी में एक इबादतखाना (पूजागृह) भी बनवाया। इसमें हिन्दू, इस्लाम, जैन, पारसी, ईसाई, सिख आदि धर्मों के विषय पर आचार्य आपस में चर्चा करते थे। अकबर सबकी बातें ध्यानपूर्वक सुनता था।

सभी धर्मों की उत्तम बातें लेकर अकबर ने एक नया धर्म भी चलाया जिसका नाम "दीन–ए–इलाही" था। इस धर्म की दीक्षा सम्राट स्वंय देता था। अकबर ने इस धर्म की सभा में गोस्वामी तुलसीदास को भी बुलाया था। किन्तु गोस्वामी जी ने इसमें

आना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा "मौसो कहा सीकरी सों काम"।

भवनों का निर्माण :

अकबर को इमारतें बनवाने की रुचि थी। फतेहपुर सीकरी में सूँफी संत सलीम चिश्ती थे। अकबर ने इनसे बहुत प्रभावित होकर फतेहपुर सीकरी में रहना पसन्द किया। इसीलिए यहाँ इबादतखाना, पंचमहल, रंगमहल, बुलन्द दरवाजा, सलीम चिश्ती की दरगाह आदि इमारतें बनवायीं। बुलन्द दरवाजा के निर्माण की कला देखने योग्य है। अकबर को पुस्तकें पढ़वा कर सुनने का बड़ा शौक था।

अकबर एक कुशल शासक था। उसे सच्चाई, ईमानदारी प्रिय थी। संगीत साहित्य, चित्रकला का प्रेमी था। कला का पारखी था, कलाकारों, विद्वानों का आदर करता था। उसमें धार्मिक उदारता थी। उसने प्रजा को सुखी, सम्पन्न रखने का प्रबन्ध किया। वह चाहता था कि समस्त प्रजा आपस में मिलजुल कर शान्ति से प्रेमपूर्वक रहे। इन्हीं गुणों के कारण वह इतिहास में "अकबर महान" के रूप में याद किया जाता है।

२/६०, विकास खंड,
गोमती नगर,
लखनऊ।

●

शिवाजी

—रामेश्वर दयाल दुबे

भारत वह पुण्य भूमि है जिसमें समय–समय पर युग की आवश्यकता के अनुसार महान वीर पुरुष पैदा होते रहे हैं। इन गौरवशाली महिमामय शक्तिशाली पुरुषों की नामावली में छत्रपति शिवाजी का नाम एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है।

जहाँ अन्याय और अत्याचार करना पाप माना जाता है, वहीं अन्याय और अत्याचार को सहन करना भी पाप माना गया है। श्री शिवाजी एक अत्यन्त साधारण और साधनहीन व्यक्ति थे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि निरकुंश शासन द्वारा निरीह प्रजा पर अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं, वे उसके प्रतिकार में खड़े हो गये। डटकर उसका उन्होंने मुकाबला किया और जनता में एक नये जीवन का संचार किया। केवल जनता का संगठन कर भारतीय इतिहास के एक बड़े सम्राट को उन्होंने नाकों चने चबवा दिये।

शिवाजी के पिता का नाम शाहजी भोंसले था, जो अपने पिता मालोजी को अहमदनगर के मुस्लिम राज्य की ओर से प्राप्त एक जागीर में रहकर जीवन व्यतीत कर रहे थे। जब दिल्ली के सम्राट शाहजहाँ ने अहमदनगर की बादशाहत समाप्त कर दी, तब उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से बीजापुर राज्य की शरण में जाना उचित समझा। शाहजी की पत्नी जीजाबाई उस समय गर्भवती थीं, अतः शाहजी ने शिवनेर के पहाड़ी दुर्ग में कुछ रक्षकों के साथ उन्हें छोड़ दिया और स्वयं बीजापुर चले गये। यहीं पर १६ अप्रैल १६२७ को शिवाजी का जन्म हुआ।

बचपन का संकट :

ये बड़े ही संकट के दिन थे। साहसी और स्वामिभक्त अनुचरों ने बालक शिवाजी की रक्षा की। वे आवश्यकतानुसार उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर रखते रहे। बीच में बालक शिवा को कुछ समय के लिए माता जीजाबाई से

पृथक भी रहना पड़ा।

समय बीतता रहा और घटनाएँ घटती रहीं। युद्धों का अन्त सन्धि में ही होता है। जब मुगालों की बीजापुर राज्य से सन्धि हो गयी, तो शाह जी ने अपनी पत्नी जीजाबाई और पुत्र शिवाजी को बीजापुर बुला लिया। सुखमय जीवन बीतने लगा।

शिवाजी की उम्र इस समय मात्र ९ वर्ष की थी, परन्तु वह प्रत्येक घटना को पैनी दृष्टि से देखता था। गो–हत्या का प्रकरण उपस्थित हुआ। गाय मात्र एक पशु ही नहीं है, वह भारतीय संस्कृति का एक प्रतीक भी है। उसकी उपयोगिता सभी को विदित है, इसीलिए हिन्दू लोग उसकी पूजा करते हैं। बालक शिवाजी गो–हत्या को सहन न कर सका और उसने अपनी शक्ति भर उसका विरोध किया और जनता द्वारा भी विरोध करवाया। शाहजी के सामने एक समस्या खड़ी हो गयी।

शाहजी ने सोच–विचार के पश्चात् निश्चय किया कि पत्नी जीजाबाई और पुत्र शिवाजी को अपनी पुरानी जागीर पर भेज दिया जाय। वैसा ही किया गया। सन् १६३७ में, जब शिवा जी की उम्र मात्र १० वर्ष की थी उन्हें माता जीजाबाई के साथ अपनी पुरानी जागीर पर भेज दिया गया। इस समय शाहजी द्वारा एक अच्छा कार्य हुआ। शिवाजी के साथ एक धर्मनिष्ठ और कर्मठ ब्राह्मण दादा जी कोंडदेव को भेजा और उन्हें शिवाजी के संरक्षण और शिक्षा–दीक्षा का काम सौंपा गया।

योग्य गुरु का संरक्षण :

बड़े भाग्य से ही किसी योग्य विद्यार्थी को योग्य शिक्षक और योग्य शिक्षक को योग्य विद्यार्थी मिला करता है। शिवाजी और कोंडदेव का मणिकांचन योग हो गया। शिक्षक और संरक्षक कोंडदेव के साथ शिवाजी पूना पहुँचे।

आदिल शाह के एक मराठा सरदार ने पूना को वीरान बना दिया था। लोगों को डराने के लिए गधों को जोतकर लोहें का हल चलवाया था। श्री कोंडदेव ने पूना की जो बुरी दशा देखी, तो उन्हें रोना आ गया। परन्तु वे हिम्मत न हारे और पूना को फिर बसाने का प्रयत्न करने लगे। सबसे पहले उन्होंने गणेश का एक मन्दिर बनवाया। शिवाजी के लाल महल की नींव डाली। काम–काज होते देख कारीगर और व्यापारी आने लगे। जनता में उत्साह बढ़ाने के लिए दादा जी ने एक नाटकीय आयोजन किया। उन्होंने एक हल में सोने का फल लगवाया और शिवाजी के हाथों पूना की

धरती को जुतवाया। जनता पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा और वे आशावान होने लगे। पूना पुनः बसने लगा।

अब दादा कोंडदेव ने अपने विद्यार्थी शिवाजी को राज्य शासन की शिक्षा देना शुरू किया। वे शिवाजी को मात्र एक सरदार नहीं, योग्य राजा बनाना चाहते थे। राजा को शक्तिशाली, बलशाली होना ही चाहिए। इसलिए दादा जी ने अपने विद्यार्थी को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी। फिर सेना का संगठन करने, टुकड़ियाँ बनाने, कठिन पहाड़ों पर चढ़ने, छापामार युद्ध करने की शिक्षा दी। शिवाजी ने दादा की शिक्षा से पूरा लाभ उठाया और उन्होंने मानवों की अपनी एक सेना खड़ी कर ली। युद्ध सामग्री भी इकट्ठी कर ली और उसी के बल पर वे शत्रु से लोहा लेने लगे।

माँ का प्रभाव :

दादा कोंडदेव के अतिरिक्त एक और प्रेरणा काम कर रही थी, वह थी उनकी माँ जीजाबाई। माँ जीजाबाई अपने पुत्र को वीर पुरुषों की प्राचीन कहानी सुनाकर उन्हें वैसा ही बनने की प्रेरणा देती थी। इस दुहरी प्रेरणा का फल यह हुआ कि शिवाजी ने अपनी छोटी-सी अवस्था में ही पूना से २५ मील दूर खूब ऊँचाई पर स्थित तोरण के किले को जीत लिया और वे निकट भविष्य में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे।

शिवाजी के चरित्र और व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी उनका अपूर्व साहस, स्थिर विचार और लक्ष्य प्राप्ति की निष्ठा। मानव सेवा को वे सबसे बड़ा धर्म मानते थे। उन्हें यह बिल्कुल सहन न था कि कोई राजा भोली-भाली जनता पर अन्याय-अत्याचार करता रहे। जब उन्होंने देखा कि देश की हिन्दू जनता पर धर्म-कट्टरता के नाम पर दिल्ली का सम्राट अन्याय और अत्याचार कर रहा है, तो उन्होंने उसका विरोध करना अपना जीवन-कार्य बनाया। उस समय स्थिति ऐसी थी कि निर्दयी शासक औरंगजेब के अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाने की किसी की हिम्मत न थी। यह कठिन काम युवक शिवा जी ने अपने हाथ में लिया। इसके पीछे अपनी किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का प्रश्न न था। अत्याचार और अन्याय का विरोध कर भयग्रस्त राष्ट्र को निर्भय बनाने और उसका उद्धार करने की पावन प्रेरणा काम कर रही थी।

तोरण नामक दुर्ग पर अधिकार कर लेने पर शिवाजी का उत्साह विशेष बढ़ा। धीरे-धीरे उन्होंने अपनी सेना को बढ़ाया। वफादार सैनिकों के बल पर शिवाजी ने

फिर तो एक के बाद एक किलों को जीता। पुरन्दर और सिंहगढ़ को जीतकर शिवाजी ने अपनी धाक जमा दी। सेना के संगठन और संचालन के लिए धन की आवश्यकता होती है। जब धन की कमी दिखायी दी, तो उन्होंने कल्याण के खजाने को लूटने का आदेश दिया। किन्तु साथ ही सेना नायकों को यह आदेश भी दिया कि बदले की भावना से किसी के साथ, खासकर मुसलमानों के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न किया जाय। शिवाजी ने कहा कि मुसलमान स्त्रियों और बेगमों के साथ किसी भी प्रकार के दुर्व्यवहार को वह सहन न करेंगे और ऐसी गलती करने वाले को कड़ी से कड़ी सजा दी जायगी।

विजय अभियान :

अब शिवाजी की विजय का डंका बजने लगा था। उन्होंने अनेक दुर्ग जीत लिये। औरंगजेब ने इस बढ़ती हुई शक्ति को दबाने के लिए अपने एक सेना नायक शाइस्ता खाँ को सेना के साथ दक्षिण भेजा। जिस किसी विधि से हो शत्रु का नाश करना शिवाजी उचित समझते थे। अतः बड़ी चालाकी से उन्होंने शाइस्ता खाँ का काम तमाम किया और सेना को पराजित किया। फिर तो विजय पर विजय होती गयी। छापामार युद्ध नीति के बल पर शिवाजी की देश में धाक जम गयी।

एक बार औरंगजेब ने जय सिंह द्वारा फुसला कर धोखा दे उन्हें आगरे के किले में कैद कर लिया था। तब अपनी चतुराई के बल पर ही सब की आँखें में धूल झोंकते हुए कैद से उन्होंने अपने को मुक्त कर लिया था।

इतिहास को विकृत करने वाले कुछ इतिहासकारों ने शिवाजी को मुसलमानों से घृणा करने वाला और उनका शत्रु माना है, जो बिल्कुल असत्य है। शिवाजी घृणा करते थे अन्याय और अत्याचार से। वे अत्याचारी और अन्यायी शासक के शत्रु थे, मुसलमानों के नहीं। उनकी सेना में बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान सिपाही थे। शिवाजी अपनी सेना के मुसलमान सेनानायकों पर पूरा विश्वास करते थे।

औरंगजेब को परामर्श :

शिवाजी औरंगजेब को भी पाप कर्म से बचाना चाहते थे। इसीलिए जब औरंगजेब ने हिन्दुओं पर "जजिया कर" लगाना चाहा, तब शिवाजी ने उन्हें एक लम्बा–पत्र लिखकर समझाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था– "आपके

पूर्वज सम्राट अकबर ने ५२ वर्ष, सम्राट जहाँगीर ने २२ वर्ष और सम्राट शाहजहाँ ने ३२ वर्ष राज्य किया था। ये भी मुसलमान थे, पर आपकी तरह कट्टर मुसलमान नहीं थे। आपके पूर्वज हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं रखते थे। यही कारण था कि सारी जनता उनका आदर करती थी। आपने हिन्दू–द्रोह का गलत रास्ता अपनाया है। खुदा के नाम पर उसे छोड़ दें। आपकी धर्म पुस्तक कुरान शरीफ में साफ–साफ लिखा है कि ईश्वर सबका मालिक है, केवल मुसलमानों का ही मालिक नहीं है। जितने भी धर्म हैं, खुदा के, ईश्वर के पास पहुँचने के रास्ते हैं। अच्छा हो कि आप इस बात को समझें और गलत रास्ते को छोड़ दें।"

जो लोग अपने ही विचारों को कट्टरता से पकड़ते हैं और जो दूसरों के सद्विचारों को सुनना भी पसन्द नहीं करते, वे कभी अच्छे मार्ग के पथिक नहीं बन सकते और अन्त में उन्हें अपनी करनी का फल भुगतना पड़ता है। औरंगजेब के साथ यही हुआ। मुगल राज्य का सूरज औरंगजेब के जीते जी डूबने लगा।

शिवाजी धर्म मार्ग के पथिक थे। वे जनता के, मानवता के सेवक थे। सौभाग्य से उन्हें समर्थ गुरु रामदास का आशीर्वाद प्राप्त था। समर्थ रामदास जी ने शिवाजी को राष्ट्र–भक्ति की दीक्षा दी थी जिसे हृदय में रख कर शिवाजी ने अन्याय और अत्याचार का विरोध कर न्याय और सदाचार का समर्थन किया था। उन्होंने मानव जाति की सेवा कर अपना जीवन धन्य बनाया था।

जब शिवाजी महाराज को विजयश्री ने वरण कर लिया, तब उनका विधिवत राज्याभिषेक किया गया। सन् १६७४ में दो जून के शुभ दिन वेदमूर्ति गामा भट्ट के पुनीत पावन हाथों से शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ और बड़ी धूमधाम से यह समारोह सम्पन्न हुआ।

जन सेवा का व्रत :

इस शुभ अवसर पर शिवा जी महाराज ने अपनी प्रजा को सम्बोधित करते हुए जो कुछ कहा था वह कथन उन्हीं के अनुकूल था। उन्होंने कहा था– "एक पवित्रीकृत नरेश के रूप में मैं सिंहासन पर आरूढ़ हो रहा हूँ। मुझे अपने इस कर्त्तव्य का बोध है कि मुझे देश के पवित्र नियमों के अनुसार जनता की सेवा करनी है। मेरे श्रद्धेय समर्थ गुरु रामदास का आशीर्वाद मेरे साथ है। मैंने भगवे रंग की ध्वजा इसलिए

स्वीकार की है क्यों कि वह संन्यासियों के वस्त्रों के रंग की है और समर्पण, त्याग और अपरिग्रह का प्रतीक है।"

शिवाजी महाराज ने राष्ट्रभक्ति का जो बीज बोया था, वह यद्यपि उनके जीवन-काल के बाद विशेष रूप से प्रकट न हो सका था, पर वह अपना अस्तित्व बनाये रहा। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के उद्घोष में कि "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" वही राष्ट्रभावना वर्तमान समय में मुखरित हुई और उसी का परिणाम है कि भारत आज स्वतन्त्र है। भारत की जनता राष्ट्रभक्त राष्ट्रीय नेता, शक्ति पुरुष, शिवाजी महाराज को कभी भुला नहीं सकती।

चित्रकूट सी-२५४,
निराला नगर,
लखनऊ

●

गुरु गोविन्दसिंह

—रामवचन सिंह 'आनंद'

गुरु गोविन्दसिंह नानक-सम्प्रदाय के दसवें और अन्तिम गुरु थे। वे भक्ति, शक्ति और साहित्य की त्रिमूर्ति थे।

उनका जन्म पटना (बिहार) में २२ दिसम्बर १६६६ ई० को हुआ था। उनके पिता गुरु तेग बहादुर नवें गुरु थे। पुत्र के जन्म के समय वे ढाका (अब बंगला देश) में गुरुमत के प्रचार के लिए दौरे पर थे। उन्होंने अपने बेटे का नाम गोविन्द राय रखा।

गोविन्द राय का बचपन पटना में गंगा नदी में नाव चलाने, कुश्ती लड़ने, तीर चलाने, घुड़सवारी और शिकार खेलने में बीता। अपने साथियों को दो टोलियों में बाँटकर झूठमूठ की लड़ाइयाँ लड़ना उनका प्रिय खेल था।

बाल लीलाएँ :

बचपन में श्रीकृष्ण की तरह गोविन्द राय भी अनेक लीलाएँ करते थे। एक दिन वे अपने साथियों के साथ खेल रहे थे वहीं से पटना का नवाब गुजरा। नवाब के नौकरों ने कहा, "बच्चों, नवाब साहब को झुक कर सलाम करो।" उन्होंने कहा, 'यह कैसा नवाब है जो मुँह माँग कर सलाम कराता है।" नवाब क्या करते? क्रोधित हो चलते बने।

गोविन्द राय अपनी गुलेल से पानी भरने आयी स्त्रियों के घड़े फोड़ देते, कभी उन्हें छेड़ते। स्त्रियों की शिकायत पर माता गुजरी घड़ों के दाम भरतीं और गोविन्द को झिड़क कर मना करतीं – "मेरे श्याम, तू ऐसा न किया कर।"

पटना में शिवदत्त नामक एक प्रकांड पंडित रहते थे। उनका मन अशान्त रहा करता था। वे गंगा तट पर समाधि लगाकर बैठे रहते थे। एक दिन, धीरे-धीरे उनके पास जाकर गोविन्द ने कहा "पंडित जी।" पंडित जी की आँखें खुल गयीं। उन्हें

लगा, बाल गोविन्द उनके सामने खड़े हों। उन्हें शान्ति मिल गयी। वे गोविन्द के भक्त बन गये।

पटना के राजा फतहचंद मेणी वर्षों से संतान के लिए तरस रहे थे। एक दिन उनकी रानी आँखें मूँद कर भगवान की प्रार्थना में लीन थी। बालक गोविन्द अपनी बाँहें उसके गले में डालकर गोद में बैठ गये और मीठी आवाज में बोले, "माता मैं आ गया हूँ, आँखें तो खोलो।" राजा-रानी को ऐसा लगा जैसे उन्हें पुत्र मिल गया हो। वे गदगद हो गये। बालक गोविन्द ने कहा, "माता, भूख लगी है। पूरियाँ और छोले खाऊँगा।" आनन्द विभोर रानी ने भोजन परोसा जिसे उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक खाया। फिर तो वे प्रतिदिन अपने साथियों के साथ राजा-रानी को अपनी बाल-लीलाएँ दिखाते रहे।

एक दिन उनके पड़ोसी ने उनकी कलाइयों में सोने के कंगन पहना दिये। खेलते-खेलते उन्होंने एक कंगन गंगा में फेंक दिया। मामा कृपाल जी ने पूछा, कंगन कहाँ फेंका? उन्होंने दूसरा कंगन निकाला और उसे गंगा में फेंकते हुए बड़ी सरलता से कहा, यहाँ फेंक दिया।

बालक गोविन्द राय को लोग बालक राय, कृष्ण, बुद्ध या नबी रसूल के रूप में पाते।

अभी वे पाँच वर्ष के थे कि तभी उनके पिता ने उन्हें अपने पास आनन्दपुर पंजाब बुला दिया। यहाँ गोविन्द राय ने संस्कृत, फारसी और गुरुमुखी सीखी, साथ ही घुड़सवारी एवं शस्त्र विद्या में दक्षता प्राप्त की।

नौ वर्ष के गुरु :

वे नौ वर्ष के थे तब गुरु तेग बहादुर ने उन्हें गुरु-गद्दी सौंप दी और हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उन्होंने दिल्ली में अपना बलिदान दे दिया।

गुरु पदवी को प्रतिष्ठित एवं गौरवान्वित करने के लिए गुरू गोविन्द राय राजसी ठाठ से रहने लगे। उन्होंने 'निशान साहब' नामक अपना झंडा तथा 'रणजीत नगाड़ा' नामक नगाड़ा तैयार किया। लोग उन्हें सच्चा पातशाह कहते।

किन्तु वे पिता के बलिदान को भूले नहीं। उन्होंने यह भी देखा कि मुट्ठीभर विदेशी लुटेरे भारत पर धावा बोलते और लूट-खसोट कर शहरों को नष्ट कर जाते।

यहाँ की स्त्रियों एवं बच्चों को बन्दी बनाकर अपने देश ले जाते और उन्हें बाजारों में बेच देते। इसे देख, उन्होंने लोगों में वीरता, साहस और देशभक्ति भरने की ठानी।

गुरु जी ने लोगों को बहादुर बनाने के लिए स्वयं वीर-रस की रचनाएँ लिखीं। उनके दरबार में बावन कवि एवं अनेक विद्वान थे। उनसे भी देशभक्ति एवं वीरता का भाव जाग्रत करने वाला साहित्य लिखवाया। साथ ही संस्कृत शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने भक्तों को काशी भेजा। लोगों को आदेश दिया कि लोग शिकार खेलें, व्यायाम करें, कुश्ती लड़ें और घुड़सवारी करें। शस्त्र एवं शास्त्र दोनों में पारंगत बनें।

गुरु के प्रयत्नों से, थोड़े ही समय में, आनन्दपुर शस्त्र और शास्त्र विद्याओं का केन्द्र बन गया। उनके पास एक शक्तिशाली सेना तैयार हो गयी।

खालसा पंथ की स्थापना :

सन् १६९९ ई० की वैशाखी संक्रान्ति के दिन गुरु जी ने केसरगढ़ में एक बड़ा भारी यज्ञ किया। इसमें उन्होंने कठिन परीक्षा के बाद 'पाँच प्यारे' का चुनाव किया जो देश के सभी भागों एवं जातियों के थे। लाहौर का क्षत्रिय दयाराम, दिल्ली का जाट धर्मदास, द्वारका (गुजरात) का छीना दर्जी मोहक्रम चन्द, विदर (दक्षिण) का नाई साहिब चन्द और जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) का झीवर (मल्लाह) हिम्मतराम पहले 'पंच प्यारे' हुए। गुरु जी ने उन्हें 'खंडे का अमृत' पान कराया कि वे अमर हो जायँ। उनके नाम के आगे सिंह शब्द लगाया ताकि वे शेरों की तरह निडर रहें। स्वयं भी गोविन्द राय से गोविन्द सिंह हो गये। उन्हें पाँच ककारों- केश, कंघ, कटारी, कड़ा और कच्छा (जाँघिया) से सुसज्जित किया। उन्होंने आदेश दिया कि वे तम्बाकू नहीं पियेंगे, वे जाति-पाँति के भेद को नहीं मानेंगे, कमजोर, शरणागत तथा धर्म की रक्षा करेंगे, एक-दूसरे से मिलते समय 'वाहे गुरु जी का खालसा, वाहे गुरु जी की फतह' कहेंगे। यानी ईश्वर सत्य है और सदैव ईश्वर के नाम की विजय है। इन शूरवीरों को उन्होंने सिक्ख कहा और खालसा का नाम दिया। खालसा अर्थात् विशुद्ध, निर्मल, या बिना मिलावट का। यानी वह व्यक्ति जो खालिस ईश्वर की ज्योति में लीन हो जाता है, जिसका रूप कृत्रिम नहीं। वह अकाल पुरख या ईश्वर का अपना रूप है।

इसके बाद, गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपने 'पाँच प्यारों' से खंडे का अमृत पिलाया

और कहा, आप मेरा विशेष रूप हो। मैं आपका गुरु हूँ और आप मेरे गुरु हैं। आज से खालसा गुरु है और गुरु खालसा है। अबं सिक्खों में कोई देहधारी गुरु नहीं कहलायेगा।

त्यागमय जीवन :

गुरु गोविन्द सिंह जी का जीवन बड़ा करुण और रोमांचकारी रहा है। वह कष्ट–क्लेश और बलिदानों से भरा पड़ा है। मुगल सम्राट औरंगजेब की मनोवृत्ति और गुरु मत तथा संगत की विरोधी शक्तियाँ उन्हें, मरते दम तक, बार–बार परेशान करती रहीं। किन्तु वे अपने त्याग, तपस्या और आत्मविश्वास के बल पर आनन्दपुर, चमकौर, मुक्तिसर आदि अनेक स्थानों की घमासान लड़ाइयों को जीतते रहे। युद्ध के क्रम में ही उनकी पत्नी तथा उनके चारों पुत्रों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। उनके दो पुत्र तो जीते जी दीवार में चुनवा दिये गये थे। पर वे धर्म रक्षा से विचलित न हुए। अंतिम दिनों में वे नदेड़ (अविचल नगर हैदराबाद दक्षिण) में थे जहाँ एक हत्यारे के हाथों घायल होने के कारण ७ अक्टूबर १७०८ ई० को 'अकाल पुरख' में लीन हो गये।

गुरु गोविन्द सिंह जी उच्चकोटि के साहित्यिक भी थे। अपनी ओजस्वी भाषा एवं विविध छंदों में उन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें 'दशम ग्रंथ', 'गोविन्द गीता' और 'प्रेम बोध' प्रसिद्ध हैं। 'चंडी दी वार' इनकी एक मात्र पंजाबी की कविता है। 'जफरनामा' फारसी में लिखा औरंगजेब के नाम वह पत्र है जिसने उसका हृदय बदल दिया। शेष सम्पूर्ण साहित्य हिन्दी में है यथा 'जाय साहब', 'अकाल उस्तुत', 'चौपई', 'वार स्त्री भगौती (भक्ति रस की), 'विचित्र नाट्य' (आत्म चरित्र) 'चौबीस अवतार' और 'शस्त्र नाम माला' (वीर रस की)।

चक्रधरपुर
सिंहभूम
पश्चिमी (बिहार)

●

महारानी अहिल्याबाई

—डॉ० सरोजिनी अग्रवाल

महारानी अहिल्याबाई भारतीय इतिहास की उन प्रातः स्मरणीया वीरांगनाओं में से हैं जिन्होंने देश की मान–मर्यादा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक जिन्होंने कर्म को ही पूजा समझा। बड़े से बड़े संकट के समय भी वे अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं हुईं।

इनका जन्म महाराष्ट्र के होल्कर वंश के श्री माणुकोजी शिन्दे के यहाँ सन् १७३५ ई० में हुआ था। उनका रंग सांवला था किन्तु चरित्र बहुत उज्ज्वल था। इनकी माँ बहुत धार्मिक विचारों की थीं। शैशव काल से ही धर्म और पूजा में इनका झुकाव था। यह जब मात्र ६–७ साल की थीं तो मन्दिर में पूजा करने जाया करती थीं।

एक दिन जब ये अपने गाँव चौंड़ी में शिव–मन्दिर में पूजा करने गयीं तो वहाँ आये हुए सूबेदार मल्हार राव होल्कर की दृष्टि उन पर पड़ी। अहिल्या के मुख पर कुछ ऐसा अनोखा तेज और लावण्य था कि वे देखते ही रह गये। उन्होंने उसे अपने इकलौते पुत्र की वधू बनाने का निश्चय कर लिया।

पति का सुधार :

विवाह के बाद अहिल्याबाई जब अपने ससुराल आयीं तो उन्होंने देखा कि उनके पति श्री खंडेराव की आदतें अच्छी नहीं थीं। वे बुरे व्यसनों के शिकार थे। अहिल्या ने बड़े धीरज एवं हिम्मत से काम लिया। अपने विवेक एवं व्यवहार कुशलता से उन्होंने धीरे–धीरे अपने पति को भी बुरी आदतों और बुरी संगति से बचा लिया। उनके एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम मालीराव रखा गया। कन्या पैदा होने पर उनका नाम उन्होंने मुक्ताबाई रखा।

उन दिनों मराठे राज्य का विस्तार करने में लगे हुए थे। मल्हार राव की आँख कुम्भेरी के किले पर लगी थी। वहाँ का सरदार सूरजमल बहुत साहसी था। मल्हार

राव ने अपने पुत्र खंडेराव और सुसंगठित सेना लेकर कुम्भेरी को सब आरे से घेर लिया। इस युद्ध में सन् १७५४ ई० में अहिल्याबाई के पति खंडेराव शत्रु की गोली से मारे गये। दुखी अहिल्याबाई अपने पति के साथ सती हो जाना चाहती थीं। किन्तु उनके श्वसुर मल्हार राव ने समझा-बुझा कर उन्हें ऐसा करने से रोक लिया। किन्तु ६ महीने बाद ही मल्हार राव की भी मृत्यु हो गयी।

अब राज्य का अधिकारी इनका पुत्र मालीराव हुआ किन्तु उसकी आदतें और संगत भी अच्छी नहीं थीं। वह अत्याचारी था और सज्जनों को यातना देता था। ९ महीने राज्य करने के उपरान्त बीमारी से उसकी भी मृत्यु हो गयी। उसकी दोनों पत्नियाँ भी उसके साथ सती हो गयीं।

घर के भेदी की चाल :

रानी इस संकट के समय में एकदम अकेली हो गयीं। मौका पाकर वहाँ के सरदारों ने राज्य हड़पने का षड्यन्त्र रचा। सरदार चन्द्रचूड़ गंगाधर राव जो कि परम विश्वासी सरदार समझा जाता था, घर का भेदी हो गया। उसने पूना में सरदार राघोवा को इन्दौर पर आक्रमण करने का गुप्त निमन्त्रण भेजा। रानी को इस षड्यन्त्र का पता चल गया। उन्होंने कहा– "मैं एक वीर शासक की पुत्रवधू हूँ– एक की पत्नी हूँ– एक ही माता हूँ– मेरा परम कर्त्तव्य है कि मैं इस संकट की घड़ी में राजकाज सम्भाल कर शत्रु का घमंड चूर कर दूँ।"

रानी का साहस :

प्रजा उन्हें बेहद चाहती थी। उसने उनका साथ दिया। सरदार तुकोजी से सम्मति करके अहिल्याबाई ने तुरन्त माधवराव पेशवा, महादजी शिन्दे आदि को साँडनी सवारों द्वारा संदेश भेजे। उन्होंने इनका पक्ष लिया। अहिल्याबाई ने महिलाओं की भी एक अच्छी सेना तैयार की। इनकी जबर्दस्त तैयारी देखकर राघोवा सहम गया और लज्जित होकर चुप बैठ गया। रानी ने अपनी चतुराई और हिम्मत से अपना राज्य बचा लिया। दूर–दूर तक रानी के शौर्य और बुद्धि की ख्याति फैल गयी। उन्होंने इन्दौर से अपनी राजधानी उज्जैन में परिवर्तित की।

अपने राज्य की रक्षा के लिए उन्होंने घोषणा करवायी कि जो वीर राज्य से चोर–डाकुओं, लुटेरों को भगा देगा, उसी से वे अपनी पुत्री मुक्ताबाई का विवाह

करेंगी।

एक साहसी युवक यशवन्त राव सामने आया। जब वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके लौटा तो मुक्ताबाई का विवाह उससे करके अहिल्याबाई ने अपना वचन पूरा किया। इस प्रकार जनहित में रानी ने अपनी प्यारी बेटी का सुख भी दाँव पर लगा दिया था।

जब मल्हार राव जीवित थे तो उन्होंने चन्द्रावत राजपूतों से रामपुरा छीन लिया था। अब रानी को निर्बल समझकर चन्द्रावत राजपूतों ने रानी के राज्य पर आक्रमण किया। पर अहिल्याबाई के साहस और सूझबूझ के आगे उनकी एक न चली। उन्होंने चन्द्रावत सरदार सौभाग सिंह को पकड़ लिया और राजपूतों को हरा दिया। इससे रानी की यश–गाथा दूर–दूर तक फैल गयी। महाराष्ट्र में नाना फड़नवीस ने विजयोत्सव मनाया और तोपें दगवायीं।

पारिवारिक संकटों में भी दृढ़

पर रानी के संकटों का अभी अन्त नहीं हुआ था। उनकी बेटी मुक्ताबाई का बेटा नत्थू ईश्वर को प्यारा हो गया। उसके दुःख में थोड़े समय बाद उसके पिता यशवन्तराव भी स्वर्ग सिधार गये और अहिल्याबाई के बहुत मना करने पर भी मुक्ताबाई अपने पति के साथ सती हो गयी। रानी के लिए यह दुःख असह्य हो गया। वह बार–बार अचेत हो जातीं। संसार से, राजपाट से उन्हें विरक्ति होने लगी। तभी एक वृद्धा अपनी बेटी पर अत्याचार की फरियाद लेकर रानी के पास आयी। उसका रुदन सुनकर रानी का कर्मठ और न्यायी मन जाग उठा। उसने वृद्धा की फरियाद सुनकर अपराधी को दण्ड दिया। उनका शोकावेग थम गया और पुनः प्रजा के दुःख दूर करने में जुट गयीं।

साठ वर्ष की उम्र में अहिल्याबाई का निधन हुआ। रानी ने लगभग ३० वर्ष तक अत्यन्त सफलतापूर्वक राज्य किया। वे प्रातः जल्दी उठती थीं और हर तरफ निगाह रखती थीं। उनके शासन काल में प्रजा सुखी थी और न्याय का बोलबाला था। लोग उन्हें देवी की भाँति पूजते थे। उन्होंने प्रजा की भलाई के लिए अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। रानी अहिल्याबाई एक आदर्श वधू, एक आदर्श

माता और एक आदर्श शासक थीं। वे धार्मिक विचारों की बचपन से ही थीं। अपने शासन काल में उन्होंने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। पवित्र नदियों के किनारे घाट बनवाये। ये सब आज भी अहिल्याबाई के नाम से प्रसिद्ध हैं। नारी होकर उन्होंने जिस हिम्मत और कौशल से शासन चलाया वह अद्वितीय है। इतिहास में उनका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों मे लिखा रहेगा।

'अभिवादन'
बाल्दा कॉलोनी, निशातगंज,
लखनऊ- २२६ ००७

●

राजा राममोहन राय

—लीलाधरशर्मा'पर्वतीय'

सामाजिक बुराइयों और अंध विश्वासों से जकड़ा हुआ कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता। दासता के दिनों में भारत की स्थिति ऐसी ही थी। स्वामी दयानंद, राम कृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद जैसे महापुरुषों और समाज सुधारकों ने हमें इस दशा से निकालने का प्रयत्न किया। इन्हीं के प्रयत्नों से समाज में जागृति आयी और आज हम अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करने में समर्थ हैं। समाज सुधारकों की इस महत्त्वपूर्ण कड़ी में पहला कदम राजा राममोहन राय का है।

राममोहन राय का जन्म १७७४ ई० में बंगाल के राधानगर गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रामकांत राय और माता का नाम तारिणी देवी था। बालक राममोहन की स्मरणशक्ति असाधारण थी। वे किसी भी सुने हुए वाक्य को ठीक वैसा ही याद रख सकते थे। उनकी शिक्षा–दीक्षा घर पर ही हुई। अपनी मातृभाषा बंगला के अतिरिक्त उन्होंने छोटी उम्र में ही अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। १२ वर्ष की उम्र में संस्कृत का अध्ययन करने के लिए वे वाराणसी गये। वहाँ उन्होंने वेदांत और उपनिषदों का गहन अध्ययन किया। इस अध्ययन से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि केवल ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और उसी की उपासना करनी चाहिए।

घर लौट कर १६ वर्ष के राममोहन राय अपने विचार खुलकर प्रकट करने लगे। उन्होंने मूर्ति पूजा आदि को अनावश्यक बताया। इससे तत्कालीन समाज में उनका बड़ा विरोध हुआ। इससे घबरा कर उनके माता–पिता ने भी राममोहन राय को घर से निकाल दिया। घर से निकलने के बाद इतनी छोटी उम्र में ही वे बंगाल से चल कर तिब्बत जा पहुँचे। परन्तु वहाँ धर्म का जो रूप था, उसमें भी उन्हें दोष ही नजर आये। परिणामस्वरूप तिब्बत में भी उन्हें घोर विरोध का सामना करना पड़ा। यदि कुछ दयालु महिलाओं ने बचाया न होता तो वहाँ के लोग उन्हें मार डालने की तैयारी

कर चुके थे।

छोटी उम्र में ही उन्होंने पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे निर्गुण ब्रह्म या एकेश्वरवाद का समर्थन करते थे और शास्त्रों के आधार पर मूर्ति पूजा को अनावश्यक बताते थे। उनके अनुसार ब्रह्मवाद में पैगबरों का कोई स्थान न था। पंडित और मुल्ला समाज उनका विरोध तो करता था, किन्तु उनके आकाट्य प्रमाणों का उत्तर किसी के पास नहीं था। फिर भी उन्हें नास्तिक और धर्मविरोधी कह कर बदनाम किया गया।

सती प्रथा का विरोध :

जब राममोहन राय सती-प्रथा के विरोध में प्रचार करने लगे तब तो उनके विरोधियों की संख्या और भी बढ़ गयी। तिब्बत से लौटने पर वे अपने गाँव में रहने लगे थे। विरोध की इस नयी आँधी को देख कर पिता ने फिर उन्हें घर से निकाल दिया। बात यहीं तक नहीं रुकी। पिता की मृत्यु के बाद माँ की ओर से उन पर मुकदमा चलवाया गया। उन्हें धर्म से भ्रष्ट घोषित करके पिता की सम्पत्ति के अधिकार से वंचित करने की माँग की गयी। मुकदमा गलत था जीत राम मोहन राय की हुई। पर जीत के बाद उन्होंने सारी सम्पत्ति अपनी माँ को ही दे दी। समाज की बुरी और अनावश्यक प्रथाओं के विरोध में आवाज उठाने वालों को इसी प्रकार संकटों का सामना करना पड़ता है।

संस्कृत, अरबी और फारसी का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद राममोहन राय ने २२ वर्ष की उम्र में अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया और शीघ्र ही इसमें भी पारंगत हो गये। उन्होंने अनुभव से देखा कि जो व्यक्ति सरकारी पद पर है, लोग उसका सम्मान करते हैं, विरोध नहीं करते। अतः उन्होंने भी ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक पद प्राप्त कर लिया। १४ वर्ष तक वे इस पद पर काम करते रहे। परन्तु समाज सेवा के लिए कम समय मिलने के कारण बाद में उन्होंने यह पद छोड़ दिया।

अब तो वे अपना पूरा समय समाज-सेवा में देने लगे। वे गाँव से कलकत्ता आ गये। उन्होंने बँगला और अंग्रेजी में वेदांत और उपनिषद ग्रन्थों का अनुवाद किया। धार्मिक ढकोसलों के खंडन में अनेक पुस्तकें लिखीं। उन्हें आधुनिक बंगला गद्य साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। फ़ारसी भाषा में भी उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों

की रचना की।

ब्रह्मसमाज की स्थापना :

समाज सुधार के क्षेत्र में राममोहन राय का सबसे बड़ा योगदान "ब्रह्मसमाज" की स्थापना है। इस समाज का आरम्भ उन्होंने १८२८ ई० में किया। इसमें संप्रदाय के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं माना जाता था। ईश्वर एक है, इस बात का प्रचार किया जाता। सामाजिक सुधार जैसे जाति–पाँति का उन्मूलन, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, महिलाओं का उत्थान, सती प्रथा का विरोध, बहुविवाह का विरोध आदि ब्रह्म समाज के मुख्य कार्य थे। राममोहन राय के इन प्रयत्नों से लोगों का ध्यान इन सामाजिक कुरीतियों की ओर गया और समाज में नयी जागृति आयी। उनके प्रयत्न से सरकार ने भी कानून बना कर सती–प्रथा पर रोक लगा दी।

राममोहन राय स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। उनका मानना था कि जाति, धर्म या क्षेत्र के आधार पर किसी पर प्रतिबंध नहीं लगना चाहिए। देश में नये सिरे से राजनीतिक चेतना पैदा करने का श्रेय भी उनको है। उन्होंने संवैधानिक तरीकों से राजनीतिक आंदोलन चलाने का मार्ग बताया। सरकार के ऐसे कदमों के विरोध में भी वे आवाज उठाते रहे, जो उनकी दृष्टि में जनता के लिए अहितकर थे।

राममोहन राय ने प्राचीन भारतीय साहित्य का गहन अध्ययन किया था। वे चाहते थे कि लोग अपनी संस्कृति के असली रूप को भली भाँति समझें। साथ ही वे अनुभव करते थे कि हमें अपनी बुद्धि के दरवाजे बंद नहीं रखने चाहिए। पश्चिम की भाषाओं का ज्ञान और विज्ञान की जानकारी भी देश की उन्नति के लिए आवश्यक मानते थे।

लंदन प्रवास :

राममोहन राय का नाम चारों और फैल गया था। उस समय तक भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का कब्जा लगभग पूरा हो चुका था। दिल्ली का मुगल बादशाह अकबर (द्वितीय) ईस्ट इंडिया कंपनी की कृपा के सहारे नाम मात्र का बादशाह था। उसने कम्पनी के साथ अपने झगड़े के सिलसिले में विलायत भेजने के लिए राममोहन राय को तैयार किया। उन्हें "राजा" की उपाधि दी और वे "राजा राममोहन

राय" के रूप में १८३० ई० में लंदन गये।

लंदन में राजा राममोहन राय ने बादशाह का पक्ष तो प्रस्तुत किया ही, उन्होंने पश्चिम को नये विकसित हो रहे भारत का परिचय दिया। उनके लेखों और भाषणों से वहाँ के विद्वानों को भारत की संस्कृति और प्राचीन सभ्यता की जानकारी मिली। इस काम के लिए विलायत जाने वाले वे पहले भारतीय थे। इंग्लैंड से वे कुछ समय के लिए फ्रांस भी गये। वहाँ भी उन्होंने विद्वानों के सामने भारत के सम्बन्ध में अनेक भाषण दिये। फ्रांस से लौटने के बाद वे इंग्लैंड के ब्रिस्टल नगर में रह रहे थे। वहीं पर २७ सितम्बर १८३३ ई० को उनका देहांत हो गया।

राजा राममोहन राय के निधन से एक महान समाज सुधारक उठ गया। किन्तु अनेक बाधाओं का सामना करते हुए तथा कष्ट उठाते हुए उन्होंने जो कार्य किये उनका पूरा-पूरा लाभ देश को आने वाले समय में मिला।

२३४, राजेन्द्र नगर,
लखनऊ-४

तात्या टोपे

—रामस्वरूप दुबे

हमारी भारत–भूमि को यह गौरव प्राप्त है कि यहाँ जन्म लेने और इसकी पावन माटी में लोट–लोटकर बड़े होने वाले अनेक बालक–बालिकाओं ने अपने असाधारण गुणों के प्रति सबका ध्यान आकर्षित किया। ऐसे ही महापुरुषों में एक थे तात्या टोपे। तात्या प्यार का पारिवारिक नाम था और प्रसिद्ध भी वही हुआ, किन्तु वास्तविक पूरा नाम था रामचन्द्र पाण्डुरंग येवलेकर। तात्या मराठा थे, महाराष्ट्र के निवासी। उनका जन्म १८२५ ई० में पुणे (पूना) में हुआ था और उनके पिता का नाम था पाण्डुरंग येवलेकर। पिता अण्णा साहब कहलाते थे और पेशवा बाजीराव द्वितीय के गृह विभाग का काम देखते थे।

पुणे से ब्रह्मावर्त :

अंग्रेजों की दुष्टता से भरी हुई नीति थी– पहले मित्रता करना और फिर धोखा देकर रियासत पर अधिकार कर लेना। इस प्रकार वे भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अपने साम्राज्य का विस्तार करते चले जाते थे। बाजीराव पेशवा अत्यन्त शक्तिशाली थे। उनके साथ ही वही कुटिल नीति अपनायी गयी। मित्रता के पश्चात् समर्थकों को प्रलोभन देकर शक्ति क्षीण करने का षडयन्त्र किया गया। झगड़ा बढ़ा और अन्त में पहली जून १८१८ को पेशवा तथा अंग्रेजों की सरकार के बीच संधि हुई, जिसके अनुसार पेशवा को पूना की गद्दी छोड़कर कानपुर के निकट ब्रह्मावर्त (बिठूर) जाकर रहने के लिए बाध्य होने पर आठ लाख रुपये की पेंशन निश्चित हुई। उनके साथ स्वामिभक्त सामंत, कर्मचारी तथा सहयोगी भी सपरिवार जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर पेशवा ने एक सुव्यवस्थित किला बनवाया, जहाँ दरबार भी लगता था। मातृहीन बालक तात्या की अवस्था उस समय केवल तीन वर्ष की थी।

शिक्षा :

दुबले–पतले दिखलायी देने के कारण वे ताँत जैसे तात्या अवश्य थे किन्तु शैशव में ही यह स्पष्ट हो गया था कि वे मन से दुर्बल नहीं थे। पुरनी कहावत है

कि होनहार विरवान के होत चीकने पात। यही कारण है कि उनके सुलक्षण देखकर पाण्डुरंग अपनी नौ सन्तानों में रामचन्द्र का ही विशेष ध्यान रखते थे। पेशवा बाजीराव के किले में रहने वाले बच्चों में मुख्य थे–पेशवा के तीन दत्तक पुत्र नाना साहब (धुंधू पंत), बाजाली और बाबा भट्ट तथा पाण्डुरंग के तात्या (रामचन्द्र) मोरोवंत ताम्बे की चपल बेटी मनूबाई (जो आगे चलकर झाँसी के राजा गंगाधर राव से विवाहित होकर रानी लक्ष्मीबाई कहलायी) बाद में आयी पेशवा ने सभी के लिए समान शिक्षा की व्यवस्था की। उन्हें तलवार चलाने, धनुर्विद्या, घुड़सवारी और छापामार गोरिल्ला युद्ध में भी प्रशिक्षित किया गया।

पेशवा ने एक बार अपने तीनों गोद लिये पुत्रों और तात्या की लक्ष्यभेद की परीक्षा ली। ये सभी साथ–साथ खेलते–पढ़ते और एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र थे। प्रत्येक को पाँच–पाँच बाँण दिये गये थे। उनमें एक मात्र तात्या ही ऐसे थे जिन्होंने पाँचों बाँण लक्ष्य पर मारकर स्वयं को सर्वश्रेष्ठ निशानेबाज सिद्ध कर दिया। फिर भी, न तो तात्या घमंड से फूला और न उसके मित्रों को ही उससे ईर्ष्या हुई।

टोपी का पुरस्कार:

बचपन के दुबले पतले दिखलायी देने वाले युवा तात्या का शरीर सुगठित हो गया था, मुखमण्डल रोबीला, कपोल उभरे हुए, मूँछे नुकीली और आँखें बड़ी–बड़ी तथा तेजस्वी थीं। कुल मिलाकर उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। वे कभी भी हतोत्साहित न होने वाले, सोच समझकर काम करने वाले, धैर्यवान, कुशाग्र बुद्धि, संगठन–दक्ष और युद्ध कला–कुशल शूर–वीर थे। बाजीराव पेशवा के वे स्नेह–पात्र थे। पेशवा ने उन्हें अपना मुंशी बना लिया था। हिसाब–किताब की जाँच करते हुए तात्या को एक कर्मचारी द्वारा किया बड़ा घोटला पकड़ में आया। पेशवा उनकी ईमानदारी और स्वामिभक्ति से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कर्मचारी को दंडित किया और दरबार में अपने स्वामिभक्त सामन्तों के सामने तात्या की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए रत्नजटित टोपी के उपहार–पुरस्कार से सम्मानित किया। टोपी चर्चा का विषय बनी और तभी से वे तात्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

बाजीराव के बाद :

अस्वस्थता के कारण २८ जनवरी, १८५१ ईसवी को पेशवा बाजीराव का स्वर्गवास हो गया। अंग्रेज कमिश्नर मैन्सन, जो पेशवा की गतिविधि पर दृष्टि रखता था, ने

३१ जनवरी को दाह–संस्कार शान्तिपूर्वक होने की सूचना शासन को भेज दी। धन–सम्पत्ति और आश्रितों के भार सम्बन्धी विवरण भी प्राप्त हो जाने के पश्चात गवर्नर लार्ड डलहौजी ने १५ सितम्बर १८५१ ई० को अपना निर्णय दिया। निर्णय पेशवा परिवार को अविलम्ब सूचित किया गया कि जीवित रह गये उत्तराधिकारियों का शासन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं, आठ लाख रुपये की पेंशन समाप्त और सार्वजनिक राजस्व में से अंश भर की अनुमति नहीं।

निर्णय पढ़कर नाना साहब को घोर असंतोष हुआ और उनके मुख से निकल गया कि अंग्रेजों और उनकी मेमों की जो आवभगत की गयी और उपहार दिये गये उनके बदले में यह अन्याय मिला। फिर भी उन्होंने शान्त और संयत रहकर न्याय माँगने का प्रयत्न किया। दीवान अजीमुल्ला खाँ को अपना वकील बनाकर लन्दन भेजा, किन्तु विनय स्वीकृत नहीं हुई। तात्या नाना साहब के बालसखा ही नहीं थे वरन् सच्चे हितैषी थे। डलहौजी की अपहरण नीति उन्हें सहन नहीं हुई। भारतीय लोगों के स्वभाव के सम्बन्ध में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने बहुत ठीक लिखा है–

त्याग हमारा धर्म, किन्तु हम हरण कभी न सहेंगे।

दानवत्व से मानवता का वरण कभी न सहेंगे।।

जब न्याय के लिए उठायी गयी, तर्क पूर्ण और शिष्ट गुहार अनसुनी हो जाय और उच्च आसन पर बैठे हुए व्यक्ति भी स्वार्थ में अन्धे होकर अन्याय का समर्थन करें तो अन्यायी से मुक्ति पाने की चेष्टा के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता।

व्यापक क्रान्ति की योजना :

किसी भी महान कार्य को करने के लिए एक जुटता की आवश्यकता होती है। तात्या ने भी यही किया। उसने नाना साहब और दीवान अजीमुल्ला के साथ बैठकर क्रान्ति की व्यापक योजना बनायी। पैरवी में असफल होने पर अजीमुल्ला लन्दन से कुछ ऐसे योरोपीय देशों में भी हो आये थे, जो इंग्लैण्ड के विरुद्ध थे। मार्च १८५७ में नाना साहब, अजीमुल्ला और बाला साहब तीर्थ यात्रा के बहाने दिल्ली, अम्बाला, लखनऊ आदि स्थानों में हो आये। दूतों को ज्योतिषी, मौलवी, मदारी, भिखारी, साधुबाबा, कठपुतली वाला आदि के वेश में छावनियों में और ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा

गया। दूतियाँ मिस्सी, चूड़ी और टिकुली वाली बनकर गयीं। इस प्रकार चारों ओर क्रान्ति का मंत्र फूँका गया। विश्वसनीय गुप्तचरों का जाल फैला दिया गया, जिनसे देश के कोने-कोने से समाचार मिलते रहे। जनता और सैनिकों को जहाँ कमल और रोटी के द्वारा क्रान्ति के लिए प्रेरित किया गया, वहीं क्रान्तिकारियों के बीच पत्र व्यवहार के लिए बिन्दुओं की सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया। क्रान्ति का शुभारम्भ क्रान्ति में सम्मिलित मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर के नाम पर ही ३१ मई, १८५७ ई० को होना निश्चय था।

सभी कुछ योजना के अनुसार ठीक चल रहा था, किन्तु चर्बी लगे कारतूसों और ९० सैनिकों को १० वर्ष तक के कारावास के कारण मेरठ छावनी के सैनिक १५ मई को ही विद्रोही हो गये। उसके पूर्व मंगल पाण्डेय २९ मार्च को ही शहीद हो चुके थे। समय से पूर्व हुई इन घटनाओं के कारण योजना अस्त-व्यस्त हो गयी।

क्रान्ति के प्रारम्भ के समय नाना साहब, तात्या और अजीमुल्ला के साथ जो मुख्य रूप से सक्रिय थे, उनके नाम थे ब्रिगेडियर ज्वाला प्रसाद, सूबेदार बन्टू सिंह, टीका सिंह, बख्तावर खाँ, वीरांगना तवायफ अजीजन आदि। ५ जून १८५८ को नाना साहब ने कानपुर पर अधिकार कर लिया था। जुलाई में नाना साहब के राज्याभिषेक के बाद ही जनरल हैव लाक बढ़ता हुआ जब पांडुनगर तक बढ़ आया और विजयी हुआ तो तात्या ने अपनी क्रान्तिकारी सेना पुनः संगठित कर ली। तात्या टोपे में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे विपरीत परिस्थितियों में हतोत्साहित न होने वाले असाधारण वीर थे। उन्होंने कालपी के मार्ग पर अपना नियन्त्रण निरन्तर बनाये रखा और ग्वालियर से अपना सम्पर्क बनाये रखा। सितम्बर में रामपुर, गुरसराय और जालौन पर अधिकार किया। जगदीशपुर के बाबू कुँवर सिंह की सेना के साथ वे बाँदा होते हुए १९ अक्टूबर को कालपी जा पहुँचे और उस पर अधिकार किया। नवम्बर में कानपुर के तीसरे युद्ध में विंडम को पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। अंग्रेजों के समर्थक चरखारी के राजा को परास्त करके उसके दो हजार सैनिकों को क्रान्तिकारियों में सम्मिलित कर लेने में सफलता प्राप्त की। झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई के सहायता के लिए बाइस हजार सैनिकों और २८ तापों के साथ बेतवा पार की किन्तु फँस जाने और परास्त होने के कारण कालपी लौटना पड़ा।

ग्वालियर के सैनिकों को सम्मिलित कर लेने में सफलता पायी, सिंधिया को आगरा भागना पड़ा और अपार युद्ध-सामग्री हाथ आयी। तात्या, राव साहब और रानी लक्ष्मीबाई ने विजय की प्रसन्नता के साथ ग्वालियर में प्रवेश किया। किन्तु, ह्यूरोज

दलबल सहित आ गया। रानी मारी गयी और ग्वालियर हाथ से निकल गया।

अज्ञातवास :

दिल्ली, कानपुर, बरेली, लखनऊ, झाँसी और ग्वालियर भी क्रान्तिकारियों के हाथ से निकल जाने के बाद छापामार युद्ध करने का ही एक मात्र मार्ग रह गया। उनका पीछा किया जाता रहा। जयपुर की ओर जाने के विचार से तात्या डाँसा पहुँचे, वहाँ राबर्ट से मुकाबला हुआ। सीकर से कर्नल होम्स से सामना हुआ। सहायकों और साथियों से अलग होकर तात्या अपने दो समान सूरत-शक्ल वाले सहायकों के साथ पैरोण के जंगल में जाकर छिप गये। पैरोण के राजा मानसिंह के साथ सम्पर्क किया, किन्तु मानसिंह ने जनरल मेजर मीड के प्रस्ताव के लोभवश विश्वासघात किया। तथाकथित तात्या की ८ अप्रैल, १८५९ को गिरफ्तारी हुई और कोर्ट मार्शल की कार्यवाही शीघ्रता से करके १८ अप्रैल को फाँसी दे दी गयी।

वास्तविक तात्या टोपे निकल जाने में सफल हुए। साधु के वेश में वे अनेक स्थानों पर अज्ञातवास करते रहे। टोपे परिवार के अनुसार पिता की मृत्यु के समय वे उनके पास काशी में थे और प्रत्येक श्राद्ध-दिवस पर बिठूर आकर, प्रसाद लेकर शीघ्रता से लौट जाते थे। विश्वास किया जाता है कि वे बाबा टहलदास के रूप में नवसारी के जंगल में रहे और ३० जनवरी १९०२ को उनका देहान्त हुआ।

तात्या टोपे के भतीजे नानाराव टोपे ९० वर्षीय हैं और बिठूर में रहते हैं। कानपुर के प्रसिद्ध नानाराव पार्क में १८ अक्टूबर १९९२ ई० को शहीद उपवन की स्थापना हुई, जहाँ क्रान्तिकारियों की मूर्तियों में तात्या टोपे की मूर्ति भी है।

१०/३५, शिवकुंज, शुक्लागंज,
उन्नाव- २०९ ८६१

●

पंडित मोतीलाल नेहरू

—कुमारी विमला उप्रेती

पंडित मोतीलाल नेहरू उस परिवार के मुखिया थे जिसने भारत को तीन कर्मठ प्रधानमन्त्री दिये। देश के स्वतन्त्रता संग्राम में भी पूरे परिवार के साथ उन्होंने आगे बढ़कर हिस्सा लिया और पूरा परिवार जेल गया।

जन्म और बचपन :

मोतीलाल जी का जन्म ६ मई १८६१ ई० को आगरा में हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित गंगाधर और माता का नाम जियोरानी था। पंडित गंगाधर दिल्ली में पुलिस अधिकारी थे। वहाँ नहर के किनारे मकान होने के कारण यह परिवार नेहरू कहलाया। सन् १८५७ की उथल-पुथल में वे परिवार लेकर आगरा आ गये। आगरा में जम भी न पाये थे कि ३४ वर्ष की उम्र में इनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के तीन माह बाद मोतीलाल जी का जन्म हुआ।

मोतीलाल नेहरू ने कानपुर से हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसके बाद इलाहाबाद के सेन्ट्रल म्योर कालेज में दाखिला लिया। परन्तु वे विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं ले पाये। डिग्री परीक्षा में उन्हें एक पर्चा खराब होने का संदेह हुआ इसलिए उन्होंने परीक्षा छोड़ दी। अब उनका ध्यान कानून के पेशे की ओर गया। उन दिनों इसके लिए 'हाईकोर्ट वकालत' की परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती थी। उन्होंने यह परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली और स्वर्ण पदक प्राप्त किया।

वकालत :

मोतीलाल जी ने १८८३ में कानपुर में वकालत आरम्भ की। तीन वर्ष बाद वे इलाहाबाद हाईकोर्ट में चले आये। हाईकोर्ट में पहले मुकदमें में मोतीलाल जी को पाँच रुपया मेहनताना मिला। लेकिन उन्नति के शिखर पर पहुँचने में उन्हें लम्बा संघर्ष नहीं करना पड़ा। चालीस वर्ष की अवस्था तक वे दस हजार प्रतिमाह से भी अधिक

कमाने लगे थे। उनमें बड़ी प्रतिभा थी। वे बहस में गहरे जाते थे। उनकी दलीलें तेज और दमदार होती थीं। मोतीलाल जी दीवानी के वकील थे।

गृहस्थ जीवन :

मोतीलाल जी का विवाह छोटी उम्र में ही हो गया था। बीस वर्ष की उम्र में वह पिता बन गये। परन्तु शीघ्र ही उनकी पत्नी और पुत्र की मृत्यु हो गयी। दूसरी पत्नी स्वरूप रानी से इनकी पाँच सन्तानें हुईं। पंडित जवाहर लाल जी का जन्म १४ नवम्बर १८८९ को हुआ। पं० जवाहर लाल जी का एक बड़ा और एक छोटा भाई और था। पर दोनों ही बालमृत्यु के शिकार हो गये। जवाहर लालजी की दो छोटी बहनों सरूप (नन्नी, बाद में विजय लक्ष्मी) और कृष्णा का जन्म बाद में हुआ।

स्वरूप रानी ठेठ कश्मीरी परिवार में पली थीं। उनमें परम्परागत संस्कार गैहरे बैठे थे। वे पूजा–पाठ, उपवास करतीं, हिन्दू धर्म ग्रथों को पढ़तीं, हरिद्वार, बनारस की तीर्थ यात्रा करतीं। मोतीलाल जी का रहन–सहन अंग्रेजों की तरह का था। पर स्वरूप रानी ने इस पर कभी टोकटाक नहीं की। इसी तरह मोतीलाल जी ने भी पूजा–पाठ में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। वे दीपावली में लक्ष्मी पूजा में उपस्थित रहते। इसी प्रकार होली के रंग भरे पर्व की प्रतीक्षा किया करते थे। बेटे के जन्म दिन पर दावत पार्टियों के साथ ही 'तुलादान' जैसे संस्कारों में खर्च करते। धार्मिक भेदभाव उनमें बिल्कुल नहीं था।

स्नेही पिता :

मोतीलाल जी ने अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए अंग्रेज शिक्षक और संरक्षिकाएँ रखी थीं। अपने भतीजों की देखभाल भी वे अपनी संतान के समान ही करते। मोतीलाल एक स्नेही पिता थे, पर क्षमाशील नहीं। एक बार जवाहरलाल ने पिता की मेज में दो पेन रखे देखे। उन्हें अच्छे लगे तो एक उठा लिया। घर में पेन की खोज हुई। जवाहर डर के मारे चुप रहे। इसके लिए उन्हें ऐसी सजा मिली कि कई दिन मरहम पट्टी करानी पड़ी।

मोतीलाल जी जवाहर लाल को बहुत प्यार करते थे। उन्हें आई० सी० एस० की परीक्षा में केवल इसलिए नहीं बैठने दिया कि फिर वे इलाहाबाद में उनके साथ नहीं रह पाते। १३ मई १९०५ को वे सपरिवार विदेश यात्रा पर गये। इंग्लैंड जाकर

उन्होंने जवाहरलाल का दाखिला हैरो पब्लिक स्कूल में करवाया। जब भारत वापस आने लगे तो होटल में उन्होंने अपने पुत्र को लिखा – "मैं संसार का अपना सबसे कीमती खजाना तुम्हारे रूप में यहीं छोड़े जा रहा हूँ।"

कुछ समय बाद पिता-पुत्र के पत्रों में धीरे-धीरे राजनैतिक चर्चा होने लगी थी। भारत में कदम-कदम पर गुलामी का अनुभव और इंग्लैंड में आजादी की हवा। छोटी उम्र में जवाहरलाल पर इसका प्रभाव पड़ने लगा। जवाहरलाल के पत्रों का असर मोतीलाल जी पर भी हो रहा था। वे अपने पुत्र की उग्र राष्ट्रीयता से चिन्तित हो उठते। वह स्वयं नरम विचारधारा के अनुयायी थे। अतः उन्होंने पुत्र को ऐसी बातों से दूर रहने की सलाह दी।

इंग्लैंड से लौटकर जवाहरलाल इलाहाबाद में वकालत करने लगे। उन्हें पहले मुकदमें में पाँच सौ रुपया मेहनताना मिला। इस पर मोतीलाल जी ने कहा- "मुझे पहले मुकदमें में पाँच रुपया मिला था। तुम मुझसे सौ गुना आगे हो।"

राजसी ठाट-बाट :

मोतीलाल जी आमदनी के अनुपात में खर्च करने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने सारे ठाट-बाट अपने कठोर परिश्रम से जुटाये थे। पहले वे मीरगंज मोहल्ले में रहते थे, जहाँ जवाहरलाल जी का जन्म हुआ। सन् १९०० में उन्होंने भारद्वाज आश्रम के सामने एक चर्च रोड का मकान मुरादाबाद के कुँवर परमानन्द से खरीदा। मकान का पुनःनिर्माण करके उसे अधिक सुविधाजनक बनाने में उन्होंने अथाह धन खर्च किया। इस मकान का नाम उन्होंने 'आनन्द भवन' (वर्तमान स्वराज्य भवन) रखा। १९०४ में उन्होंने एक कार मँगाई जो उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रांत) में आने वाली पहली कार थी। मोतीलाल जी अच्छे घुड़सवार और निशानेबाज थे। उन्होंने बच्चों को भी घुड़सवारी सिखायी थी। वे फारसी के अच्छे ज्ञाता और उर्दू कविता के शौकीन थे। उन्हें किताबी कीड़ा बनना पसन्द नहीं था। व्यायाम और कुश्ती में उनकी विशेष रुचि थी। कठोर परिश्रम के साथ वे जिन्दगी का आनन्द भी भरपूर लेते।

उनकी वेश-भूषा, रंग-ढंग पश्चिमी शैली के होते गये, परन्तु मन से वे पूरे भारतीय थे। उन्होंने बिरादरी की कट्टरता का विरोध किया। यूरोप यात्रा से लौटने के बाद प्रायश्चित करने से इन्कार कर दिया। उन्हें जाति बहिष्कार की धमकी दी गयी।

पर वे अपने निश्चय से नहीं डिगे। उन्होंने जाति प्रथा, पर्दा प्रथा के विरोध में आवाज उठायी। इसे समाज का कलंक बताया। उन्होंने कहा– "मैं भारतीय पहले हूँ ब्राह्मण बाद में। यदि कोई रिवाज या चलन सच्चे भारतीय के कर्त्तव्यों में आड़े आता है तो वे उसका पालन नहीं करेंगे।"

राजनीति की ओर :

मोतीलाल जी का राजनैतिक जीवन सन् १८८८ से आरम्भ होता है। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। सन् १८८८ के कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में वे सम्मिलित हुए। १८९२ के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने स्वागत मन्त्री के रूप में कार्य किया। वे गोपाल कृष्ण गोखले से बहुत प्रभावित थे। महात्मा गाँधी उम्र में उनसे आठ साल छोटे थे, पर वे उनको बहुत सम्मान देते थे। १९०७ में मोतीलाल जी पुनः राजनीति में सक्रिय हुए और सात वर्ष तक उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। अंग्रेजों से मित्रता होते हुए भी उनको अंग्रेजों की नेकनियती पर विश्वास नहीं रहा। उन्होंने प्रान्तीय कौंसिल का चुनाव लड़ा और विजयी हुए। कौंसिल में वे प्रश्नों से कोंच–कोंच कर प्रशासन की नाक में दम किये रहते थे।

अब मोतीलाल जी को अपने पुत्र की चिन्ता होने लगी थी क्योंकि जवाहरलाल जी स्वतन्त्रता संग्राम में अधिक सक्रिय हो रहे थे। इससे जेल जाना निश्चित था। वहाँ पुत्र को कितना कष्ट होता, इसका अंदाजा लगाने के लिए वे चुपचाप नंगे फर्श पर सोने लगे थे।

महात्मा गाँधी जी ने "रौलट एक्ट" के विरोध में सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ दिया तो जवाहरलाल उनके साथ हो गये। मोतीलाल जी के लिए यह बड़े मानसिक संघर्ष के क्षण थे। परन्तु "जलियाँवाला बाग" काण्ड का उन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। नरम तरीकों से उनका विश्वास उठ गया। वे गाँधी जी के साथ स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े।

देश के लिए फकीरी :

१९१९ की अमृसर काँग्रेस की उन्होंने अध्यक्षता की। काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गाँधी जी के असहयोग प्रस्ताव तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का समर्थन किया। रातोंरात उनकी जिन्दगी बदल गयी। उन्होंने वकालत छोड़ दी। घर

का कीमती सामान बेच दिया। घर के विदेशी वस्त्रों की होली जलायी। आनन्द भवन खद्दर धारियों की सराँय बन गया। उन्होंने देशहित में शाही रहन-सहन त्यागकर स्वयं खुशी–खुशी फकीरी अपना ली। १९२१ में इंग्लैंड के राजकुमार की भारत–यात्रा का बहिष्कार करने के अपराध में पिता–पुत्र दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया। दोनों को छः माह की जेल, पाँच सौ रुपया जुर्माना हुआ। जुर्माना अदा न करने पर पुलिस जुर्माने से अधिक मूल्य का कीमती सामान उनके घर से ले गयी।

इसी बीच उत्तर प्रदेश के चौरी–चौरा की घटना के कारण गाँधी जी ने आन्दोलन वापस ले लिया। राजद्रोह के अपराध में गाँधी जी गिरफ्तार कर लिये गये। मोतीलाल जी छः माह बाद जेल से छूटे। उन्होंने अपने साथियों के साथ "स्वराज्य पार्टी" नामक नये दल का गठन किया। इसकी ओर से १९२३ में वे केन्द्रीय असेम्बली के लिए चुने गये। वहाँ उन्होंने देश का पक्ष बड़े जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया।

कुछ वर्ष बाद साइमन कमीशन भारत आया। इसके विरोध में जगह–जगह प्रदर्शन होने लगे। इनको पुलिस ने बुरी तरह से कुचला। लाला लाजपतराय, पं० गोविन्द बल्लभ पंत और जवाहरलाल नेहरू को भी बहुत चोट आयीं। लाला लाजपतराय की तो कुछ ही दिनों में मृत्यु हो गयी। १९२८ में काँग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। पंडित मोतीलाल जी अध्यक्ष थे। १९२९ में पं० जवाहरलाल नेहरू काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। पिता ने काँटों का ताज पुत्र के सर पर रख दिया। ३१ दिसम्बर १९२९ को आधी रात में पंडित ज़वाहरलाल जी ने पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इसके लिए अहिंसात्मक आन्दोलन का रास्ता अपनाया गया।

नमक कानून तोड़ने के लिए जिस समय गाँधी जी ने 'डांडी मार्च' किया, उसी समय मोतीलाल जी ने अपनी आलीशान कोठी 'आनन्द भवन' राष्ट्र को समर्पित कर दी।

देश के भाग्य का निर्णय मेरे सामने :

नमक कानून तोड़ने के अपराध में दमा से सख्त पीड़ित होने पर भी पुलिस मोतीलाल को पकड़ ले गयी। जवाहरलाल जी पहले से बंद थे। उनके घर की सारी महिलाएँ स्वरूप रानी, कमला, विजयलक्ष्मी, कृष्णा, नन्हीं इन्दू तक आन्दोलन में

कूद पडीं।

जेल में पुत्र ने पिता की बड़ी सेवा की। परंतु स्वास्थ्य में निरन्तर गिरावट आने से मोतीलाल जी के जीवन के लिए खतरा दिखायी देने लगा था। सितम्बर १९३० को उन्हें बिना शर्त रिहा कर दिया गया। उनका शरीर कमजोर था, पर इच्छा शक्ति प्रबल थी। जब गाँधी जी आदि नेता इलाहाबाद में उनसे मिलने गये तो पंडित मोतीलाल जी ने कहा– “भारत के भाग्य का निर्णय स्वराज्य भवन में करो, मेरे सामने करो, मेरी मातृभूमि के अंतिम सम्मानपूर्ण समझौते में मुझे भी भाग लेने दो – मैं लड़ूँगा – रोग से लड़ूँगा – मृत्यु से लड़ूँगा और सबसे ऊपर दासता रूपी राक्षस से लड़ूँगा।”

४ फरवरी को डॉक्टरों की सलाह पर एक्सरे आदि की सुविधा के कारण वे लखनऊ लाये गये। यहीं पर ६ फरवरी १९३१ की प्रातः ६ बजे भारत का चमकता हुआ यह नक्षत्र हमेशा के लिए अस्त हो गया।

प्रवक्ता,
राजकीय बालिका इण्टर कॉलेज
सिंगारनगर, लखनऊ।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

—श्रीमती सावित्री शर्मा

साधारण से कपड़े पहने हुए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर स्टेशन पर ट्रेन से उतरे। वहीं पर एक विद्यार्थी अपना सामान उठवाने के लिए कुली खोज रहा था। उस छोटे स्टेशन पर कोई कुली नहीं था। विद्यासागर विद्यार्थी के पास पहुँचे। उनकी सादी वेश-भूषा देखकर विद्यार्थी ने उन्हें कुली समझा और सामान उठवा लिया। सामान उसके स्थान पर पहुँचा कर वे बिना कुछ लिये चुपचाप चले गये। वह विद्यार्थी एक समारोह में भाग लेने के लिए आया था। सायंकाल उसने देखा, जो व्यक्ति उसका सामान उठाकर लाया था वही उस समारोह का मुख्य अतिथि है। अपने व्यवहार पर उसे बड़ी ग्लानि हुई। वह विद्यासागर के पैरों पर गिर पड़ा। उन्होंने प्रेमपूर्वक उसे गले से लगा लिया और कहा- हमें अपना काम स्वयं करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उनके जीवन की एक और घटना है। एक व्यक्ति को विद्यासागर ने एकांत में आँसू बहाते देखा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह अपना पुराना ऋण नहीं चुका पाया है और उसका मकान नीलाम होने वाला है। उन्होंने उसका नाम, पता पूछ लिया और ऋण की रकम चुपचाप कचहरी में जमा कर दी। नीलामी रुक गयी। जब पता लगा कर वह आदमी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए विद्यासागर जी के पास पहुँचा तो उन्होंने उससे केवल इतना कहा- इसकी चर्चा भूल कर भी किसी ने न करें। ऐसे परोपकारी थे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

असाधारण प्रतिभा :

ईश्वरचन्द्र का जन्म २६ सितम्बर १८२० ई० को पश्चिम बंगाल के भेदनापुर जिले के बीरसिंह नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता ठाकुरदास वंद्योपाध्याय दो रुपये मासिक वेतन पर कलकत्ता में काम करते थे। माँ भगवती देवी अत्यन्त उदार स्वभाव की थी और गरीबी में किसी तरह गृहस्थी चलाती थीं। ईश्वरचन्द्र में असाधारण प्रतिभा थी। उनके गुण गाँव की पाठशाला से ही प्रकट होने लगे थे। उन्हें एक बार

पढ़ने पर पाठ याद हो जाता। गणित के कठिन से कठिन प्रश्न वे आसानी से समझ लेते। ६ वर्ष की पढ़ाई ३ वर्ष में ही पूरी करके ९ वर्ष की उम्र में अपने पिता के साथ वे कलकत्ता चले गये। मार्ग में बिना किसी सहायता के, मील के पत्थरों पर लिखे अंकों को देखकर उन्होंने अंग्रेजी अंक सीख लिये थे।

कलकत्ता में ईश्वरचन्द्र संस्कृत विद्यालय में भर्ती हुए। वहाँ भी उन्होंने असाधारण योग्यता का परिचय दिया। सदा प्रथम आते और छात्रवृत्ति प्राप्त करते हुए संस्कृत व्याकरण में निपुणता प्राप्त कर ली। १६ वर्ष की उम्र में उन्होंने संस्कृत में अलंकार की परीक्षा पास कर ली। विद्वान उनके पांडित्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें 'विद्यासागर' की उपाधि प्रदान कर दी। तभी से वे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम से प्रसिद्ध हुए। उस समय उनकी उम्र केवल १९ वर्ष थी।

संस्कृत में प्रवीण होने के बाद विद्यासागर ने अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया और उसमें कानून की परीक्षा पास कर ली। किन्तु पारिवारिक संस्कारों और स्वयं अपने विचारों के कारण विद्यासागर ने वकालत न करके अध्यापक का कार्य करना पसंद किया। उनकी पहली नियुक्ति फोर्ट विलियम कॉलेज में प्रधान पंडित के रूप में हुई। कुछ समय बाद संस्कृत कॉलेज के अध्यापक बने और कुछ ही दिन बाद वहाँ के प्रधानाचार्य बना दिये गये। उस समय विद्यासागर केवल ३१ वर्ष के थे।

सिद्धान्त पर दृढ़ :

विद्यासागर बड़े दयालु और परोपकारी व्यक्ति थे। ये संस्कार उन्हें माता-पिता से प्राप्त हुए थे। परन्तु अनुशासन के मामले में वे बड़े कठोर भी थे। जिस समय वे संस्कृत विद्यालय के प्रिंसिपल थे, छात्रों ने किसी अध्यापक का अपमान किया। इस पर विद्यासागर ने उस कक्षा के सब छात्रों को विद्यालय से निकाल दिया। जब अधिकारियों ने इस सम्बन्ध में उनसे पूछा तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मैं आजीविका के लिए तरकारी बेचना पसंद करूँगा, परन्तु सिद्धान्त के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करूँगा। अंत में छात्रों द्वारा क्षमा याचना के बाद यह मामला समाप्त हुआ।

ईश्वरचन्द्र को कई जिलों में स्कूलों का इंसपेक्टर भी नियुक्त किया गया। उन्होंने शिक्षा के प्रसार के लिए अथक प्रयत्न किया। बड़ी संख्या में स्कूल खोले गये। बालिकाओं की शिक्षा की बड़ी उपेक्षा होती थी। विद्यासागर ने इसके लिए विशेष व्यवस्था की। संस्कृत विद्यालयों के द्वार निम्न वर्ग के समझे जाने वाले लोगों के लिए

भी खोले, किन्तु ज्यों ही शिक्षा निदेशक से सैद्धान्तिक मतभेद हुआ, उन्होंने तुरन्त सरकारी नौकरी छोड़ दी।

साहित्य और समाज सेवा :

अब ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पूरी शक्ति से साहित्य, शिक्षा और समाज-सुधार के क्षेत्र में जुट पड़े। उन्होंने संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी भाषा में ५० से अधिक पुस्तकें लिखीं। "सरल सुबोध संस्कृत व्याकरण" तो उन्होंने एक ही रात में लिख डाली थी। उन्हें हिंदी भाषा का भी ज्ञान था। यह भाषा उन्होंने १८४१ई० में ही सीख ली थी। वे बंगला भाषा के प्रथम गद्य लेखक के रूप में विख्यात हैं। बालिकाओं की शिक्षा के लिए और बंगला भाषा की शिक्षा के लिए १०१ विद्यालय उन्होंने अपने साधनों से चलाये।

समाज-सुधार के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत कार्य किया। जब भी अवसर आया, बाल-विवाह का विरोध करते रहे। विधवाओं की दयनीय दशा सुधारने के लिए उन्होंने शास्त्रों के प्रमाण देकर विधवा विवाह का समर्थन किया। इतना ही नहीं, अपने इकलौते पुत्र का एक विधवा से विवाह करके समाज के सामने उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

विचारों में इतने प्रगतिशील विद्यासागर का रहन-सहन पूर्णतः भारतीय और अत्यन्त साधारण था। वे अपने ऊपर बहुत कम व्यय करते थे। स्वयं गरीब होते हुए भी विद्यार्थी जीवन में छात्रवृत्ति में से कुछ बचाकर गरीब छात्रों की सहायता किया करते थे। उनका यह क्रम जीवन भर चलता रहा। उनके सामने छोटे-बड़े या ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं था। कष्ट में पड़े किसी भी व्यक्ति की सहायता के लिए वे सदा तैयार रहते। वे विद्यासागर ही नहीं, दया के भी सागर थे।

अपने कार्य और व्यवहार से समाज को ऊपर उठाने में जीवन भर लगे इस महापुरुष की जीवन लीला २१ जुलाई १८९१ ई० को समाप्त हो गयी, पर उनकी कीर्ति अमर है।

सी १०, सेक्टर जे, अलीगंज,
लखनऊ।

महर्षि दयानंद सरस्वती

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

महर्षि दयानंद सरस्वती प्रसिद्ध समाज सुधारक, राष्ट्रवादी, भारतीय संस्कृति के समर्थक और 'आर्य समाज' के संस्थापक थे। उनका जन्म गुजरात की छोटी सी रियासत मोरवी के टंकारा नामक गाँव में संवत् १८८१ विक्रमी (१८२४ ई०) में शिवरात्रि के दिन हुआ था। उनके पिता पंडित कर्शणलाल त्रिवेदी बड़े शिवभक्ति थे। माता का नाम यशोदा था। मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण उनका नाम मूलशंकर रखा गया।

बालक मूलशंकर बड़ा प्रतिभाशाली था। पाँच वर्ष की उम्र में उसका विद्यांरभ और आठ वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। शीघ्र ही उसने संध्या, गायत्री, रुद्री आदि को कंठस्थ कर लिया। १४ वर्ष की उम्र में उसे सारा यजुर्वेद तथा दूसरे वेदों के कुछ अंश भी कंठस्थ थे। व्याकरण का भी उसे अच्छा ज्ञान हो गया था।

आस्था पर चोट :

इसी समय की बात है। शिवरात्रि का दिन आया। पिता के कहने पर मूलशंकर ने भी व्रत रखा। आधी रात तक मंदिर में भजन-कीर्तन होता रहा। फिर लोग एक-एक करके थक कर सोने लगे। मूलशंकर को नींद नहीं आयी थी। उन्होंने देखा कि सन्नाटा होते ही एक चुहिया शिवजी की मूर्ति पर चढ़ी और प्रसाद खाने लगी। मूल जी को यह देखकर आश्चर्य हुआ और बड़ा धक्का लगा। उन्होंने अपने पिता से सुन रखा था कि शिव जी सारे संसार के स्वामी हैं और शत्रुओं से अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। वे सोचने लगे कि जो शिव अपनी मूर्ति पर कूद रही चुहिया को नहीं हटा पाये, वे अपने भक्तों की रक्षा कैसे करेंगे? उनके हृदय में यह बात जम गयी कि यह मूर्ति सर्वशक्तिमान शिव नहीं हो सकती। और, मूर्ति पूजा पर से उनका विश्वास हट गया।

पिता को जब पुत्र के इन विचारों का पता चला तो वे बहुत क्रुध हुए। पर इससे

बालक के मन की शंका तो नहीं मिट सकती थी। इसी बीच मूलशंकर की बहन और चाचा की मृत्यु हो गयी। इससे उन्हें बहुत दुख हुआ। वे समझ गये कि जीवन का कोई ठिकाना नहीं। इसलिए मनुष्य को दुनियादारी के चक्कर में न पड़कर समाज की भलाई का कोई काम कर जाना चाहिए। वे हर समय विचारों में डूबे रहने लगे। उनकी यह दशा देखकर पिता को आशंका होने लगी कि पुत्र कहीं संन्यासी न हो जाय। उन्होंने उनके विवाह की तैयारी आरम्भ कर दी। पर मूलशंकर इसके लिए कहाँ तैयार थे। ज्यों ही उन्हें विवाह की तैयारी का पता चला, वे घर से भाग गये। उन्होंने सिर मुँड़ा लिया और गेरुए वस्त्र धारण कर लिये। पता चलने पर जब पिता उन्हें वापस लाने के लिए गये तो वे उनके हाथ नहीं आये। मूलशंकर अब दयानंद सरस्वती बन चुके थे।

सच्चे ज्ञान की खोज में वर्षों इधर-उधर घूमने के बाद स्वामी दयानंद मथुरा में प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद के पास पहुँचे। विरजानंद वेदों के प्रकांड विद्वान थे। स्वामी दयानंद ने बड़े धैर्य और लगन के साथ उनसे शिक्षा प्राप्त की। अध्ययन समाप्त करके जब वे गुरु के सामने विदा लेने के लिए उपस्थित हुए तो गुरु ने कहा- 'बेटा, भारतवासी इस समय अंधकार में पड़े हुए हैं। इसलिए मैं तुमसे आशा करता हूँ कि तुम इन्हें मार्ग दिखाओगे। इन्हें धर्म के ढकोसलों से उबारकर असली वैदिक धर्म का ज्ञान दोगे। संसार वेदों को भूल चुका है, तुम अपनी पूरी शक्ति लगा कर वेदों की शिक्षा का प्रचार करो।'

समाज सुधार को समर्पित :

गुरु के आदेश शिरोधार्य करके स्वामी दयानंद सरस्वती वेदों के सच्चे ज्ञान का प्रचार करने और सामाजिक कुरीतियों का विरोध करने के लिए निकल पड़े। उन्होंने हरिद्वार जाकर 'पाखंडखंडिनी' पताका फहरायी और मूर्ति पूजा का विरोध किया। कबीर की तरह उनका भी कहना था कि यदि गंगा नहाने, सिर मुँड़ाने या भभूत मलने से स्वर्ग मिलता तो मछली, भेड़ और गधा सबसे पहले स्वर्ग के अधिकारी होते। अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रकट करना है तो उनकी अच्छी बातों का अनुकरण करो, उनकी सेवा करो, उन्हें प्रसन्न रखो। जीते जी उन्हें दुख देना और मरने पर उनका

श्राद्ध करना या उनके नाम पर ब्राह्मणों को खिलाना उनकी आत्मा को सुख नहीं देगा।

स्वामी दयानंद ने छुआछूत का जोरदार खंडन किया। उनका कहना था कि जन्म से सभी समान हैं। वर्ण, कर्म के अनुसार बनते हैं। एक हरिजन भी ब्राह्मणों के कर्म करके ब्राह्मणों का पद पा सकता है। दूसरे धर्म वालों के हिन्दू धर्म में सम्मिलित होने का मार्ग भी उन्होंने खोल दिया।

स्त्रियों की दशा उस समय बड़ी दयनीय थी। उंधविश्वास चरम सीमा पर था। बाल-विवाह तो सामान्य बात थी। कुछ लोग तो तीर्थों में जाकर जेवरों से लदी अपनी पत्नियों को इस आशा से पेड़ों को दान में देते थे कि ऐसा करने से उन्हें अगले जन्म में भी सुन्दर पत्नी और धन-दौलत मिलेगी। फिर, दान की हुई पत्नी को मुँह-माँगी कीमत देकर पेड़ों से खरीद लेते थे। कन्याएँ मंदिरों में चढ़ा दी जाती थीं और देवदासी के रूप में घृणित जीवन बिताने को बाध्य होती थीं। स्त्रियों और शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था। यह सब धर्म के नाम पर होता था।

आर्य समाज की स्थापना :

स्वामी दयानंद ने देश भर में घूम-घूम कर वेद के प्रचार के साथ-साथ इन कुप्रथाओं का जोरदार विरोध किया। उन्होंने धर्म के ऐसे ठेकेदारों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा और पराजित किया। अपने विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने ६ अप्रैल १८७५ ई० को चिरगाँव, बंबई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। इसके बाद वे १८८३ ई० तक देश भर में घूम-घूम कर इसकी शाखाएँ स्थापित कराते रहे। आर्य समाज वेदों को ईश्वर कृत मानता है। उसके अनुसार राम, कृष्ण आदि ईश्वर के अतवार न होकर महापुरुष हैं। मूर्ति पूजा अवैदिक है। जन्म के आधार पर जाति भेद नहीं होता। स्त्रियों को विवाह आदि विषयों में समान अधिकार हैं।

स्वामी दयानंद के इन विचारों का प्रभाव देश के बाहर भी हुआ। वर्तमान समय में भारत, बर्मा, थाईलैंड, मलाया, अफ्रीका आदि में आर्य समाज की लगभग तीन हजार शाखाएँ स्थापित हैं। इससे संस्था ने सामाजिक सुधारों के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वतन्त्रता के लिए चले राष्ट्रीय आंदोलनों में भी इस संस्था के सदस्यों का बहुत बड़ी संख्या

में अग्रणी योगदान रहा है।

आर्य समाज की स्थापना के साथ-साथ महर्षि दयानंद ने अनेक ग्रंथों की रचना की। उनमें मुख्य हैं- सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेद भाष्य भूमिका, ऋग्वेद भाष्य तथा यजुर्वेद भाष्य। स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी। परंतु उन्होंने अनुभव से यह जान लिया था कि भारत के अधिक से अधिक लोगों तक अपनी बात हिन्दी भाषा के द्वारा ही पहुँचाई जा सकती है। इसलिए अपना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' उन्होंने हिन्दी में लिखा। अन्य ग्रंथ मूल रूप में संस्कृत भाषा में हैं।

स्वामी जी के विचारों को जहाँ एक ओर देश में व्यापक समर्थन मिला, वहीं कुछ लोग उनके विरोधी भी हो गये। ये वे लोग थे जो सामाजिक बुराइयों और अंधविश्वासों की आड़ में जनता को ठग कर अपना घर भर रहे थे। महर्षि दयानंद ने सुधारवाद की जो हवा चलायी उससे इनकी ठगी की दुकानें बंद होने लगीं। इस पर इन लोगों ने अनेक बार तलवार के वार से, साँप से कटवा कर तथा मिठाई में विष मिला कर स्वामी जी को मार डालने के असफल चेष्टा की। अंत में जोधपुर की एक वेश्या, जिसको वहाँ के महाराजा ने स्वामीजी के कहने पर त्याग दिया था, इस कुकृत्य में सफल हो गयी। उसने स्वामी जी के रसोइये को अपनी ओर मिला लिया और विष मिला हुआ दूध स्वामीजी को पिलवा दिया।

स्वामी जी की तबियत बिगड़ने लगी। उन्हें इलाज के लिए पहले आबू और फिर अजमेर ले जाया गया। पर विष का प्रभाव बहुत अधिक हो चुका था। ३० अक्टूबर १८८३ ई० को दीपावली के दिन उन्होंने अपना चोला छोड़ दिया। शरीर तो किसी का नहीं रहता, परन्तु अपने विचारों, कार्यों और 'आर्य समाज' के रूप में स्थायी दयानंद सरस्वती अमर रहेंगे।

२३४, राजेन्द्रनगर
लखनऊ-४

●

दादाभाई नौरोजी

—मगन अवस्थी

भारत की उन्नति के लिए और उसे विदेशी दासता से मुक्ति दिलाने के लिए जिन महापुरुषों ने काम किया उनमें दादाभाई नौरोजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनका जन्म ४ सितम्बर १८२५ ईसवी को बम्बई के एक साधारण परिवार में हुआ था। दादाभाई के पिता नौरोजी पालन जी अपनी पारसी जाति के पुरोहित थे। उनका देहान्त दादाभाई के जन्म के चार वर्ष बाद ही हो गया इसलिए पिता की देखभाल से दादाभाई वंचित रहे, किन्तु उनकी माता मानक बाई ने यह कमी पूरी कर दी।

होनहार विद्यार्थी :

मानक बाई बिल्कुल अनपढ़ थीं, किन्तु उनमें समझदारी बहुत थी। उन्होंने दादाभाई की शिक्षा और चरित्र-निर्माण पर पूरा-पूरा ध्यान दिया। उन दिनों शिक्षा मुफ्त दी जाती थी। इसलिए दादाभाई को शिक्षा प्राप्त करने में परिवार की गरीबी के कारण कोई कठिनाई नहीं हुई। वे बहुत होनहार और तेज विद्यार्थी थे। गणित उनका प्रिय विषय था। कक्षा में सदा आगे रहते थे। अध्यापक ने प्रश्न पूछा नहीं कि दादाभाई सबसे पहले उत्तर देने के लिए खड़े हो जाते थे। उस समय तक विश्वविद्यालय स्थापित नहीं हुए थे। दादाभाई ने आगे की शिक्षा बम्बई के एलिफिंस्टन इंस्टीट्यूट में पायी।

समाज सेवा का व्रत :

दादाभाई की प्रतिभा देखकर पहले उन्हें एलिफिंस्टन इंस्टीट्यूट में असिस्टेण्ट मास्टर नियुक्त किया गया, किन्तु दो वर्ष के बाद ही वह गणित के प्रोफेसर बना दिये गये। भारतीयों को मिलने वाला यह उस समय का सबसे ऊँचा पद था।

अध्यापक का काम करने के साथ दादाभाई सामाजिक विषयों में भी रुचि लेने लगे। उनका विचार था- मनुष्य समाज की सहायता से ही आगे बढ़ता है। इसलिए

उसे भी पूरे मन से समाज की सेवा करनी चाहिए। १८५२ ईस्वी में 'बम्बई एसोसिएशन' नाम की एक संस्था बनायी गयी थी। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से भारतवासियों के लिए अधिक सुविधएँ प्राप्त करना था। दादाभाई भी इस संस्था के कामों से जुड़े रहे।

इंग्लैंड रवाना :

उस समय भारत के नेता यह मानते थे कि इंग्लैंड की जनता और सरकार को भारत की वास्तविक स्थिति बताना आवश्यक है। इससे देशवासियों का हित हो सकता है। दादाभाई के भी यही विचार थे। उन्हें अपने विचारों के अनुसार काम करने का अवसर भी जल्दी ही मिल गया। एक फारसी कम्पनी इंग्लैंड में अपनी फर्म खोलना चाहती थी। उसने दादाभाई से फर्म का हिस्सेदार बनकर इंग्लैंड जाने का प्रस्ताव किया। दादाभाई ने इसे स्वीकार कर लिया और प्रोफेसर के पद से इस्तीफा दे दिया। बहुत से लोगों ने प्रोफेसरी का ऊँचा पद छोड़कर व्यापार में लगने के दादाभाई के निर्णय की आलोचना की। लेकिन आगे को घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि दादाभाई का निर्णय ठीक था।

लंदन जाकर दादाभाई ने फर्म का काम तो सम्भाला ही, उन्होंने वहाँ पढ़ रहे भारतीय विद्यार्थियों की समस्याओं पर भी ध्यान दिया। जो विद्यार्थी उनके सम्पर्क में आये और उनसे प्रभावित हुए उनमें फिरोजशाह मेहता, मोहनदास करम चंद गाँधी और मुहम्मद अली जिन्ना के नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इंग्लैंड में भारत की तरह गुलामी का वातावरण नहीं था। दादाभाई पर वहाँ की जनता की आजादी का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। वहाँ गरीबी भी उतनी नहीं थी। इसकी तुलना में भारतवासियों की गुलामी और गरीबी देखकर वे बड़े दुखी हुए।

संस्थाओं की स्थापना :

उन्होंने ब्रिटेन की जनता का ध्यान भारत की दशा की ओर दिलाने के लिए कई काम किये। लंदन में "इंडियन सोसाइटी" और "ईस्ट इंडिया एसोशिएशन" नाम की संस्थाएं बनायीं। अंग्रेजों को भारत के प्रति उनके कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाने के लिए कई लेख लिखे।

दादाभाई नौरोजी बड़े आदर्शवादी व्यक्ति थे। वे व्यापार में भी किसी प्रकार की

धांधली सहन नहीं कर सकते थे। जिस फर्म के काम के लिए वे लंदन गये थे, जब उसमें गड़बड़ी दिखायी दी तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। उन्होंने "दादाभाई नौरोजी एण्ड कम्पनी" नाम की अपनी संस्था बनायी और लगभग बाईस वर्ष तक इसके द्वारा इंग्लैंड में व्यापार करते रहे। उनकी बनायी हुई संस्था "ईस्ट इंडिया ऐसोसिएशन" की शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता और मद्रास जैसे शहरों में भी खोली गयीं। दादाभाई का नाम उस समय के प्रमुख नेता के रूप में देश भर में फैल गया। १८८१ ईसवी में वे भारत लौटे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारत गरीब तो है ही, शिक्षा के क्षेत्र में भी पिछड़ा है। उन्होंने भारतवासियों को उच्च शिक्षा के अवसर देने पर बल दिया।

१८८५ ईसवी में बम्बई में "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस" की स्थापना हुई। इसका दूसरा अधिवेशन १८८६ ईसवी में कलकत्ता में हुआ। देश ने उनकी सेवाओं का आदर करते हुए दादाभाई को इस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया। उसके बाद १८९३ की लाहौर कांग्रेस और १९०६ की कलकत्ता कांग्रेस की अध्यक्षता भी दादाभाई नौरोजी ने ही की। उस समय के नेताओं में यह सम्मान पाने वाले दादाभाई नौरोजी पहले व्यक्ति थे।

हाउस आफ कामंस के सदस्य :

इंग्लैंड में लम्बी अवधि तक रहने के कारण वहाँ के राजनैतिक, सामाजिक जीवन में भी दादाभाई का महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। वे ब्रिटेन की "हाउस आफ कामस" के सदस्य चुन लिये गये। उन्होंने इस अवसर का भी पूरा लाभ भारत के पक्ष में प्रचार करने के लिए उठाया। उनके प्रयत्न से "हाउस आफ कामंस" में बहुत बड़ी हलचल पैदा हो गयी। उन्हें कई निर्णय कराने में भी सफलता मिली। उनमें से एक था आई० सी० एस० की परीक्षा इंग्लैंड और भारत में साथ-साथ कराने का निर्णय। वे निर्भीक होकर कहते थे कि भारत में अंग्रेजों का राज्य अन्याय पर आधारित है।

कृपा की भीख नहीं 'स्वराज्य' :

इंग्लैंड के अपने अनुभव और भारत की दशा देखकर दादाभाई इस निर्णय पर पहुँचे कि भारत में अपना राज्य होना चाहिए। कांग्रेस के १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में उन्होंने पहली बार 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वहाँ पर अपने भाषण में दादाभाई ने कहा था- 'हम कोई कृपा की भाख नहीं माँग रहे हैं। हमें तो

केवल न्याय चाहिए।'

सामाजिक क्षेत्र में भी दादाभाई का योगदान महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने बम्बई नगर में महिलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध कराया। अनाथ बच्चों की देखभाल के लिए अनाथाश्रम खोले और विधवाओं के विवाह को प्रोत्साहन दिया। लम्बे समय तक देश और समाज की सेवा करने के बाद ९२ वर्ष की उम्र में १९१७ ईसवी को दादाभाई नौरोजी का देहान्त हुआ। वे उन महापुरुषों में से थे जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की नींव रखी। ऐसे महापुरुष को यह राष्ट्र सदा श्रद्धा के साथ याद करता रहेगा।

७६/४५ हालसी रोड,
कानपुर

रानी लक्ष्मीबाई

—सुश्री स्नेहलता पाठक

"खूब लड़ी मरदानी वो तो झाँसी वाली रानी थी"। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जो लड़ाई लड़ी गयी थी उसकी चर्चा प्रारम्भ होते ही यह पंक्ति अनायास ही हमारी जुबान पर आ जाती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए पुरुषों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर युद्ध करने वाली नारी महारानी लक्ष्मीबाई हमारे देश का गौरव थीं। देश के इतिहास में उनका नाम सदैव ही स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।

रानी लक्ष्मीबाई का जन्म १९ नवम्बर १८३५ ई० में काशी में हुआ था। उनके बचपन का नाम मणिकार्णिका था, पर प्यार से लोग इन्हें मनु कहते थे। इनके पिता का नाम मोरोपन्त और माता का नाम भागीरथीबाई था।

बचपन में ही वीरता के लक्षण :

मनु जब केवल चार वर्ष की थी तब उसकी माता भागीरथीबाई का देहान्त हो गया। पेशवा बाजीराव द्वितीय के संरक्षण में बिठूर में उनका बचपन बीता। बाजीराव प्यार से उसे छबीली कहकर पुकारा करते थे। बाजीराव के दत्तक पुत्र नानासाहब उनके बाल सखा थे। मनु को लड़कियों की तरह गुड्डे–गुड्डियों से खेलना पसन्द नहीं था। उनके प्रिय खेल कुश्ती लड़ना, तलवार और बंदूक चलाना और घुड़सवारी करना थे। वह बहुत बुद्धिमान और साहसी थी। कठिन से कठिन विपत्ति में भी साहस नहीं खोती थी।

एक बार शाम को मनु और नाना घुड़सवारी के लिए निकले। नाना का घोड़ा आगे निकल गया। मनु कैसे सहन कर सकती थी कि कोई और उससे आगे निकल जाय। उसने घोड़े को ऐड़ लगायी। घोड़ा हवा से बातें करने लगा। नाना का घोड़ा पीछे रह गया। वह भी मनु से आगे निकलने की कोशिश करने लगे। जैसे ही उन्होंने अपने घोड़े को तेज किया, घोड़ा ठोकर खाकर लड़खड़ाया और नाना नीचे गिर

गये। उनका सिर फट गया और खून निकलने लगा। मनु ने जरा भी हिम्मत नहीं हारी। उसने घायल नाना को सहारा देकर अपने घोड़े पर बैठाया और घर वापस आयी। घर पर सबने जब इस घटना के बारे में पूछा तो मनु ने बड़े ही शान्त स्वर में उत्तर दिया- जरा सी चोट है, ठीक हो जायगी। वीरों को तो युद्ध में बड़े-बड़े तीर खाने पड़ते हैं, तलवारों का मुकाबला करना पड़ता है। इतनी सी चोट से क्या घबराना। बचपन से ही उसने अपने मन में एक वीर नारी बनने की ठान ली थी।

झाँसी की रानी :

छोटी आयु में ही उनका विवाह झाँसी के राजा गंगाधर राव के साथ हो गया। विवाह के बाद लोग उन्हें महारानी लक्ष्मीबाई कहने लगे। गंगाधर राव बड़े दयालु, स्वाभिमानी, न्यायप्रिय एवं जनप्रिय राजा थे। रानी लक्ष्मीबाई को आम नारियों की तरह आभूषणों, साज-शृंगार, नृत्य, नाटक आदि में रुचि नहीं थी। उन्हें सिर्फ घोड़े की सवारी, तलवारबाजी और निशानेबाजी में आनंद आता था।

उन दिनों अंग्रेजी शासन भारत में धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। अधिकतर राजाओं ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभुत्व को देखकर राजा गंगाधर राव ने भी एक संधि कर ली जिसमें यह तय हुआ कि झाँसी में एक अंग्रेजी फौज की टुकड़ी रखी जायगी जिसका खर्च झाँसी राज्य देगा। इस खर्चे के लिए झाँसी राज्य का एक इलाका, जिसकी सालाना आमदनी दो लाख छब्बीस हजार रुपए थी, अंग्रेजों को सौंप दिया गया। रानी को यह सब अच्छा नहीं लगा। उसने कहा कि हम अपने देश में अंग्रेजों की ज्यादतियाँ क्यों सहें? हम एक जुट होकर उन्हें निकाल क्यों नहीं देते? हमें अपनी स्वतन्त्रता कायम रखनी चाहिए, वरना अंग्रेज हमारे राज्य को हड़प लेंगे। वह राजा के मनोबल को ऊँचा करने का प्रयत्न करती। उन्होंने अपने महल में नियमित रूप से सखियों एवं दासियों को युद्ध करने की शिक्षा दी और एक अच्छी खासी सेना की टुकड़ी तैयार कर ली।

पति का देहांत :

विवाह के तीन वर्ष बाद रानी लक्ष्मीबाई ने पुत्र को जन्म दिया। राज्य भर में खुशी की लहर दौड़ गयी। परन्तु दुर्भाग्यवश जन्म के तीन महीने बाद बालक चल बसा। राज्य भर में शोक छा गया। राजा गंगाधर राव शोक से बेहाल हो गये। रानी की भी

चिन्ता बढ़ गयी। बिना वारिस के झाँसी राज्य को अंग्रेज हड़प लेना चाहते थे। ऐसी हालत को देखते हुए राजा ने रानी लक्ष्मीबाई से सलाह करके एक पाँच वर्षीय बालक आनन्द राव को गोद ले लिया। उसका नाम दामोदर राव रखा गया। गंगाधर राव का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। उन्होंने अंग्रेजी शासन को एलिस के हाथों एक पत्र भिजवाया और कहा कि दामोदर राव अभी नाबालिंग है, अतः उसके बालिग होने तक रानी राज्य की व्यवस्था सँभालेंगी। राजा की हालत धीरे-धीरे बिगड़ने लगी थी। मात्र अट्ठारह वर्ष की आयु में ही रानी विधवा हो गयी।

मैं अपनी झाँसी न दूँगी :

अंग्रेज तो जैसे इस स्थिति का इंतजार ही कर रहे थे। उन्होंने दामोदर राव को गोद लेने की रस्म को मान्यता नहीं दी और झाँसी को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। रानी को पाँच हजार रुपए सालाना की पेंशन बाँध दी गयी। रानी को इस घोषणा से बहुत बुरा लगा। उन्होंने कहा मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी। मैं इस अपमान का बदला लेकर रहूँगी।

रानी मौके की तलाश करने लगी। उन्होंने गुप्त रूप से अंग्रेजों की गतिविधियों का निरीक्षण किया। तात्या टोपे के साथ मिल कर अंग्रेजों के खिलाफ क्रान्ति का बिगुल बजा दिया और झाँसी को अंग्रेजों से मुक्त करा लिया। कुछ दुश्मन सरदार अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। टीकमगढ़ रियासत के दीवान नत्था खाँ ने अंग्रेजों से मिलकर बीस हजार सैनिक लेकर झाँसी पर चढ़ाई कर दी। रानी ने अपने चतुर तोपची गौस खाँ को तोप दागने पर लगाया। लाला भाऊबख्श ने 'कड़क बिजली' नाम की तोप से नत्था खाँ की सेना के छक्के छुड़ा दिये। नत्था खाँ हार गया और लड़ाई के मैदान से भाग गया।

रानी पुरुषों की तरह शासन करती थी। कपड़े भी पुरुषों की तरह ही पहनती थी। वह सिर पर लाल रेशम की चमकीली टोपी लगाती थी जिसके आस-पास मोती जवाहरात जड़े रहते थे। उनके गले में हीरों की माला पड़ी रहती थी। कमर में जरीदार पट्टा बंधा रहता था जिसमें सुन्दर नक्काशीदार चाँदी से मढ़ी हुई दो पिस्तौलें रहती थीं। वह साड़ी के बदले ढीला पाजामा पहनती थी। उनको देखकर किसी युवा

पुरुष का भ्रम होता था।

दयालु हृदय :

रानी की धर्म पर बड़ी आस्था थी। उनकी उदारता और दानवीरता के बारे में बहुत सी बातें प्रसिद्ध हैं। एक दिन रानी महालक्ष्मी के दर्शन करके वापस आ रही थी। उसी समय भिखारी रास्ते में आकर खड़े हो गये और शोर करने लगे। रानी ने दीवान लक्ष्मण राव से पूछा– यह शोर क्यों हो रहा है? लक्ष्मण राव ने कहा– यह सब भिखारी हैं। जाड़े के दिन हैं, कपड़ों के बिना उन्हें तकलीफ होती है। यह चाहते हैं कि आप इनकी मदद करें। रानी के मन में दया उठी। उन्होंने तुरन्त आज्ञा दी कि शहर के सब भिखारियों को पेट भर भोजन दिया जाय और हर आदमी को मिरजई, कम्बल और टोपी दी जाय।

रानी को घोड़ों की बहुत परख थी। घोड़े खरीदने से पहले अक्सर सौदागर रानी को घोड़े दिखाने आ जाते थे। एक दिन एक सौदागर दो घोड़े लेकर आया। दोनों घोड़े देखने में बहुत सुन्दर थे। पर रानी ने एक की कीमत हजार रुपए तथा दूसरे की पचास रुपए बताई। लोगों ने इसका कारण पूछा तो रानी ने बताया कि दूसरे घोड़े के सीने में चोट है। लोगों ने रानी के इस गुण की बहुत प्रशंसा की।

अंग्रेजी आक्रमण का सामना :

लगभग दस महीने तक रानी ने झाँसी का शासन प्रबन्ध किया। उनके राज्य में प्रजा बहुत सुखी थी। इधर अंग्रेज हमेशा रानी से लड़ने की सोचते रहते। उन्होंने कहा कि रानी बागियों की मदद करती हैं। २१ मार्च सन् १८५८ के दिन सर ह्यूरोज ने एक बहुत बड़ी सेना लेकर झाँसी पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से भयंकर युद्ध होने लगा। अंग्रेज अधिक देर तक टिक नहीं सके। 'घनगर्जन' नामक तोप ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। दिन में पुरुष तोपची शत्रु का मुकाबला करते और रात में स्त्री तोपची।

ह्यूरोज के लिए झाँसी का किला जीतना मुश्किल हो गया। उसने एक चाल चली। ओरछा दरवाजे पर दुल्हाजू को लालच देकर अपने साथ मिला लिया। उसने रानी से विश्वासघात करके किले का फाटक खोल दिया। अंग्रेज सैनिक किले में घुस आये। उन्होंने बच्चे, बूढ़े, स्त्रियों को निर्ममता से मारना शुरू किया। यह

देखकर रानी को बहुत दुख हुआ। सरदारों के कहने पर अपने पुत्र दामोदर राव को अपनी पीठ पर बांधकर रानी किसी तरह किले से बाहर निकलने में सफल हो गयी और बचती-बचाती कालपी पहुँची।

कालपी में नाना साहब के छोटे भाई राव साहब और तात्या टोपे ने रानी का स्वागत किया। रानी ने लाल कुर्ती नाम की एक फौज बनायी और अंग्रेजों से बदला लेने की सोचने लगी। अंग्रेजों ने यहाँ भी रानी का पीछा नहीं छोड़ा। रानी की सेना बहुत वीरता से लड़ी। परन्तु अंग्रेजों की सेना बहुत बड़ी थी। विवश होकर रानी की सेना को पीछे हटना पड़ा।

ग्वालियर पर कब्जा :

तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई और राव साहब सबने मिलकर ग्वालियर की तरफ बढ़ने का निश्चय किया। ग्वालियर के किले को हासिल करके राव साहब को वहाँ का राजा बनाया गया। अंग्रेजों ने फिर रानी का पीछा करते हुए ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। दुर्भाग्यवश रानी के घोड़े की टाँग टूट गयी। इसलिए रानी को नया घोड़ा लेना पड़ा। रानी देखते ही समझ गयी कि यह नया घोड़ा है, कभी भी अड़ सकता है। पर इसके अतिरिक्त किया भी क्या जा सकता था।

अंग्रेजों के घुड़सवारों ने रानी को घेर लिया। रानी ने घोड़े की लगाम मुँह में दबायी और दोनों हाथों से तलवार चलाती हुई बिजली की गति से आगे बढ़ने लगी। पर आगे नाला आ गया। रानी का घोड़ा नया था। वह अड़ गया। रानी की प्रिय सहेली मुन्दर भी उसी समय मार दी गयी। इतने में ही एक गोरे ने बंदूक से रानी पर निशाना लगाया। रानी के खून की धार बहने लगी। परन्तु रानी ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने तुरन्त पलट कर तलवार से उस गोरे की गर्दन उड़ा दी। रानी के विकराल रूप को देखकर बचे-खुचे सैनिक भाग खड़े हुए। इतने में ही रानी के सिपाही रानी के पास आ गये।

वीर गति को प्राप्त :

रानी के घावों से बहुत अधिक खून बह रहा था। रानी को लगा उनका अंत निकट आ गया है। उन्होंने इच्छा व्यक्ति की कि उनके मरने पर उनके शरीर को पापी अंग्रेज

न छूने पायें। कुछ ही देर में रानी ने प्राण त्याग दिये। रानी के सिपाही रानी के शरीर को पास ही स्थित गंगादास की कुटी में ले गये। वहीं अंतिम संस्कार करके समाधि बना दी जिससे अंग्रेजों को रानी की राख भी न मिल सके। सबकी आँखों में आँसू थे उस वीरांगना के लिए।

ऐसी थी वह वीर झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई। हमारा देश और आने वाली पीढ़ियाँ युगों–युगों तक उनकी वीरता के गीत गाती रहेंगी और उनसे प्रेरणा ग्रहण करेंगी।

१/३०९, विकास नगर,
लखनऊ।

रामकृष्ण परमहंस

—शिवशंकर मिश्र

बाबा तुलसी ने कहा है– "परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।।" यही हमारे देश की गौरवपूर्ण परम्परा रही है। हमारे देश के संतों, महंतों और महापुरुषों ने मानव मात्र की सेवा के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया। रामकृष्ण परमहंस भी उनमें से एक थे। उनके जीवन का लक्ष्य मानव मात्र की सेवा करना था। जब कोई उनकी सेवा नहीं स्वीकारता था तो उन्हें अत्यन्त दुःख होता था। वे बार–बार कहते थे– 'मैं तो यहाँ आपकी सेवा ही करने आया हूँ। यदि इस जन्म में सेवा न कर सका तो मुझे बार–बार जन्म लेना पड़ेगा'। अपने जीवन काल में सेवा का यह संदेश उन्होंने जन–जन तक पहुँचाने का प्रयास किया।

कामारपुकुर बंगाल का ब्रज कहलाता है। हरे–भरे तमाल वृक्ष, स्वच्छ जल से भरे हुए तालाब और खेतों में झूमते हुए धान मानो वहाँ की धरती को अन्नपूर्णा बनाये हुए हैं। यहीं रहता था एक गरीब ब्राह्मण क्षुदिराम। यह परिवार कभी पैसे वाला था। गाँव के जमींदार ने एक बार उससे झूठी गवाही देने के लिए कहा। भोला–भाला ब्राह्मण इसके लिए तैयार न हुआ। भला वह झूठ बोलकर दूसरे को सजा क्यों दिलवाता? जमींदार ने नाराज होकर उसकी सब सम्पत्ति हथिया ली। किसी तरह मेहनत–मजदूरी करके वह अपना और अपनी पत्नी चन्द्रमणि का जीवन निर्वाह करने लगा।

एक बार श्री क्षुदिराम जी तीर्थ यात्रा पर 'गया' गये। रात के समय मन्दिर के दर्शन के बाद जब वह विश्राम कर रहे थे तो उन्हें ऐसा लगा मानो कोई उनसे कह रहा है– 'चिन्ता न करो। मैं दीन–दुःखियों की सेवा तथा कल्याण के लिए शीघ्र ही तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा। ठीक इसी समय कामारपुकुर गाँव में चन्द्रमणि को ऐसा लगा मानो शिव जी की मूर्ति से निकला हुआ प्रकाश उनकी देह में प्रवेश कर रहा है। कुछ दिन बाद चन्द्रमणि के गर्भ से बालक का जन्म हुआ। माता–पिता ने उसे विष्णु और शिव का प्रसाद माना।

१७ फरवरी सन् १८३६ को जन्मे इस बालक को सब गदाधर के नाम से पुकारने

लगे। जन्म-पत्र के आधार पर विद्वानों ने बताया कि गदाधर नामक यह बालक धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में बड़ी उन्नति करेगा। उसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व में देश का नाम उजागर होगा। वह अपने भक्तों को चिन्तन की एक नयी दिशा देगा। धीरे-धीरे उसके हाव-भाव बालक के असाधारण होने के संकेत देने लगे।

बचपन से ही धर्म में रुचि :

गदाधर की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। उसने पाठशाला में बंगला पढ़ना-लिखना बहुत जल्दी सीख लिया। वह अपने मधुर कंठ से कृष्ण लीला के गीत गाया करता था। धर्म के प्रति बचपन से ही उसकी रुचि थी। वह ऊँच-नीच का भेद नहीं मानता था। यज्ञोपवीत के समय उसने आग्रह करके पहला दान एक शूद्र के हाथ से लिया था।

वह माँ काली के दर्शनों के लिए बिलख-बिलख कर रोया करता था। माँ चन्द्रमणि ने सोचा- यदि गदाधर का विवाह कर दिया जाय तो कदाचित उसका ध्यान सांसारिक कामों में लग जायगा। श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय की पुत्री शारदामणि से उनका विवाह हो गया। किन्तु शारदामणि बहुत दिनों तक अपने पिता के घर ही रही। आगे चल कर जब दामोदर संन्यासी बनकर रामकृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हो गये तो शारदामणि उनके पास पहुँची। परन्तु उसे देखते ही रामकृष्ण बोले- मैं प्रत्येक स्त्री को माँ समझता हूँ, और उसके चरणों पर गिर पड़े। इसका प्रभाव शारदामणि पर पड़ना ही था। वे भी दक्षिणेश्वर मंदिर में रहकर जीवन भर भजन-पूजन करती रहीं।

जाने-माने धर्माचार्य तोतापुरी गोस्वामी जी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। उस समय से ही उनका नाम गदाधर से बदल कर रामकृष्ण रख दिया गया। रामकृष्ण प्रारम्भ से ही माँ काली के उपासक थे। वह प्रतिदिन मन्दिर जाते और घंटों वहीं माँ काली के सामने ध्यान-मग्न बैठे रहते। कहा जाता है कि बालक रामकृष्ण की भक्ति भावना से प्रसन्न होकर माँ काली ने उन्हें दर्शन भी दिये। सम्भव है इसी आधार पर वे प्रायः कहा करते थे कि यदि साधक के मन में अटूट विश्वास है तो इसी जीवन में उसे भगवान के दर्शन हो सकते हैं।

इसी बीच रामकृष्ण के माता-पिता का देहान्त हो गया। अब वह पूर्ण रूप से माँ काली की भक्ति में तल्लीन हो गये। वे अधिकतर भावावेश में बने रहते। इस स्थिति

में वह अपने आपको भूल जाते थे। जब-तब वे घने जंगलों में चले जाते और घंटों वहाँ ध्यानमग्न रहते। आँवले के पेड़ के नीचे बैठना उन्हें विशेष अच्छा लगता था। कई बार माँ दुर्गा की रट लगा कर वह जंगल में भटका करते थे। ऐसा लगता कि मानों वे किसी को खोज रहे हों, किसी को पुकार रहे हों।

दक्षिणेश्वर के पुजारी :

इस समय तक रामकृष्ण जी का यश काफी फैल चुका था। रानी रासमणि ने उन्हें अपने द्वारा बनवाये गये दक्षिणेश्वर के दुर्गा जी के मन्दिर का पुजारी बना दिया। यहाँ कोटि-कोटि दर्शनार्थी और भक्त रामकृष्ण जी के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे, पर कुछ ऐसे भी थे जो उनके प्रभाव को देखकर ईर्ष्या करते थे। कहते हैं कि एक बार एक ईर्ष्यालु व्यक्ति स्वामी जी को बहका कर एक ऐसे मोहल्ले में ले गया जहाँ वेश्याएँ रहती थीं। वह यह समझता था कि सम्भव है वैश्याएँ अपने रूप-रंग और हाव-भाव से स्वामी जी को अपनी ओर आकर्षित कर लें। पर हुआ बिल्कुल उल्टा। स्वामी जी ने तो उन्हें माँ दुर्गा के रूप में देखा और उनके चरणों पर गिर कर कहा- धन्य है आपकी लीला। महिलाओं ने भी भाव विभोर होकर पुत्र-प्रेम की भावना से स्वामी जी को आशीर्वाद दिया। यह सब देखकर जब उस व्यक्ति ने स्वामी जी से क्षमा माँगी तो स्वामी जी ने बड़े सरल भाव से कहा- 'कभी-कभी ऐसे परीक्षा ली भी जानी चाहिए।"

सब धर्मों का अनुभव:

स्वामी जी की साधना का क्षेत्र बहुत व्यापक था। कुछ दिनों तक उन्होंने वेदान्त साधना के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया और फिर निर्विकल्प समाधि की अवस्था में रहे। इसके बाद उन्होंने अल्लाह मंत्र की साधना कर इस्लाम धर्म में सिद्धि प्राप्त की और ईसा मसीह में मन रमा कर उनके दर्शन किये। शाक्त, वैष्णव और वेदान्त की साधना में भी उन्होंने दक्षता प्राप्त की। इस सबके बाद उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भगवान तो एक ही है। उस तक पहुँचने के लिए ही ये सब तो रास्ते हैं। रास्तों के आधार पर भेदभाव बरतना समझदारी नहीं है। शिष्यों को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा- 'धर्म को लेकर वाद विवाद मत करो। सब धर्म एक ही हैं। सारी नदियाँ समुद्र की तरफ जाती हैं। तुम भी उसी तरफ बहो और दूसरे को भी बहने दो।' अपनी

धार्मिक एकता की भावना का उन्होंने जीवन भर पालन और प्रचार किया।

भक्ति–उदय के मार्ग :

स्वामी जी का विश्वास था कि भक्ति गुरु के द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है और उसका स्वयं भी उदय हो सकता है। वे कहते थे कि प्रह्लाद ने तो किसी के पास जाकर भक्ति नहीं सीखी। पर प्रतिकूल परिस्थितियों ने ही उसमें भी भक्ति भावना जगायी। स्वामी जी के मतानुसार भक्ति का एक वह भी स्वरूप होता है जब भक्त के हृदय में केवल अपने इष्ट को पाने की आकुलता रह जाती है। वह सब तरफ से विरक्त हो जाता है।

स्वामी जी के विषय में नोबल पुरस्कार विजेता और सुप्रसिद्ध साहित्यकार रोमा रोला ने लिखा था– स्वामी जी भारत की सम्पूर्ण जनता की दो हजार वर्ष की आध्यात्मिक जिन्दगी की सम्पूर्णता थे। गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों को उन्होंने सीधी सरल भाषा में लिख कर कोटि–कोटि जिज्ञासुओं को सोचने–समझने की एक नयी दिशा प्रदान की। इसी तथ्य को स्वीकारते हुए आचार्य बिनोवा ने कहा था– हमें अपनी दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए स्वामी जी के वचनामृतों का सहारा लेना पड़ेगा।

स्वामी जी की उपदेश पद्धति बड़ी रोचक और हृदयग्राही होती थी। छोटी–छोटी कहानियों के रूप में अपनी बात कहकर वे श्रोताओं को मोह लेते थे। बीच–बीच में वे दैनिक जीवन से उदाहरण भी देते जाते थे। स्वामी जी का विश्वास था कि जब तक ईश्वर के दर्शन के लिए मन में तीव्र अकुलाहट नहीं होती, तब तक दर्शन नहीं होता। अकुलाहट की यह भावना शीघ्र उत्पन्न नहीं होती और जब एक बार उत्पन्न हो जाती है तो सदैव बनी रहती है।

विवेकानन्द पर प्रभाव :

जब स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण जी के पास पहली बार पहुँचे तो उन्होंने पूछा– क्या आपने भगवान के दर्शन किये हैं। स्वामीजी का उत्तर था– हाँ ठीक वैसे ही जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ। विवेकानन्द उन भाग्यशाली व्यक्तियों में से थे जिनके सम्मुख स्वामी जी ने भगवान से साक्षात्कार की बात पूरे मन से स्वीकारी। विवेकानन्द को उपदेश देते हुए रामकृष्ण जी ने कहा था– तुम्हें मेरा या समाज का नहीं माँ का कार्य करना है और इसी में अपना जीवन लगा देना है। 'माँ' शब्द सुनकर विवेकानन्द के

मन में यह जिज्ञासा जाग्रत हुई कि 'माँ' शब्द से आखिर अभिप्राय क्या है? यह शंका चलती रही और इसका निराकरण रामेश्वरम् पर स्थित श्रीपातू शिला पर हुआ जहाँ उन्हें अन्तर की स्पष्ट ध्वनि सुनायी पड़ी कि जाओ और भारत माता के कार्य में लग जाओ।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के विषय में कहा था– मुझे एक ऐसे महान पुरुष के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो मानव रूप में उपनिषदों की एक जीवित आत्मा है और भारत की विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय। वह अपने समय के एक महान ऋषि थे। उनकी शिक्षा वर्तमान के लिए ही नहीं, चिरकाल के लिए लाभदायक है। एक बार एक भक्त ने रामकृष्ण जी से कहा कि जब मैं आपको देखता हूँ तो मैं भगवान को देखता हूँ। गुरु ने भक्त को समझाया– कभी ऐसा मत कहो, कभी ऐसा मत सोचो। लहर गंगा का एक अंश मात्र है, गंगा लहर का अंश नहीं। ईश्वरीय अवतार को समझना सरल नहीं है।

जिन दिनों रामकृष्ण जी बहुत बीमार थे, एक पंडित ने उनसे कहा– धर्मशास्त्र कहते हैं कि आप जैसे महात्मा अपनी इच्छा शक्ति से ही अपने आपको रोग मुक्त कर सकते हैं। रामकृष्ण जी का सीधा सा उत्तर था– मैंने अपना मन हमेशा के लिए माँ काली को अर्पित कर दिया है। क्या तुम चाहते हो मैं उसे फिर वापस माँगूँ? क्या तुम सोचते हो कि मैं जानबूझ कर कष्ट भोग रहा हूँ? पर जब माँ की यही इच्छा है तो मैं कर ही क्या सकता हूँ?

ईश्वर संसार में :

रामकृष्ण जी का जीवन विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों की विविधता से भरा हुआ था। ऐसा जान पड़ता था कि मानो उन्होंने भारतीयता के सभी गूढ़ रहस्यों को अपने में समेट लिया हो। ऐसा कोई भी विषय नहीं था जिसके सम्बन्ध में उन्होंने अपने स्पष्ट विचार व्यक्त न किये हों। खुले मन और मस्तिष्क से उन्होंने अपनी बात कही। जीवन के अन्तिम दिनों में वह यह कहने लगे थे कि सभी तो भगवान के स्वरूप हैं। किसे अपना कहूँ, किसे पराया। दीन–दुःखी की सेवा को ही वे सच्ची भक्ति मानने लगे थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार दीपक तेल के बिना जल नहीं सकता, उसी प्रकार मनुष्य ईश्वर के बिना नहीं रह सकता। समुद्र में मोती होते हैं, पर उन मोतियों को पाने के लिए बार–बार डुबकी लगानी पड़ती है। इसी तरह

संसार में ईश्वर है, उसे पाने के लिए बार-बार प्रयत्न करना चाहिए।

धीरे-धीरे रामकृष्ण जी का शरीर क्षीण होता जाता था। रोगों ने उन्हें निर्बल बना दिया। उन्हें ऐसा लगा कि जिस कार्य के लिए उन्होंने शरीर धारण किया था वह पूरा हो चुका है। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य विवेकानन्द से शेष कार्य करने की बात कही और १६ अगस्त १८८६ को ब्राह्मलीन हो गये।

विवेकानन्द जी ने संसार के कोने-कोने में अपने गुरु का संदेश प्रसारित किया। स्वामी जी के शिष्यों ने इनकी सेवा भावना को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए जगह-जगह पर 'रामकृष्ण मिशन' नाम की समाज सेवी संस्थाएँ स्थापित कीं जो आज भी दीन-दुखियों की सहायता कर रही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय अध्यात्म और दर्शन के प्रसंग में स्वामी जी का नाम सदैव गौरव से स्मरण किया जायगा।

२२३, राजेन्द्र नगर
लखनऊ-४

एनी बेसेण्ट

-डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

विदेशी होते हुए भी भारत को अपना घर समझने वाली और उसकी उन्नति के लिए काम करने वाली एनी बेसेण्ट सबसे प्रसिद्ध महिला हैं। उनके पिता आयरलैंड के थे लेकिन लंदन में आकर बस गये। यहीं पर १ अक्टूबर १८४७ ई० को एनी बेसेण्ट पैदा हुईं। बचपन में उनका नाम वुड था।

एनी बेसेण्ट बड़े स्वतन्त्र विचारों की थी। लिखने, बोलने और संगठन बनाने के गुण उनमें बचपन से ही थे। बड़ी होने पर एक पादरी से उनका विवाह हुआ लेकिन कट्टर पादरी से उनकी नहीं पटी। छह साल बाद ही उनका तलाक हो गया।

दृढ़ निश्चयी :

अब तो एनी बेसेण्ट अपने विचारों का प्रचार करने में जुट गयीं। उन्होंने अंधविश्वास और कुरीतियों को दूर करने के लिए जोरदार आन्दोलन चलाया। इससे उनकी प्रशंसा भी हुई और कट्टरपंथी लोग उनके शत्रु भी बन गये। उनकी सभाओं में बाधा डाली जाने लगी। उन पर पत्थर बरसाये गये, उन्हें धर्म का विरोधी घोषित किया गया। इसके लिए उन पर मुकदमा भी चला। लेकिन जितना विरोध हुआ, एसी बेसेण्ट अपने विचारों पर उतनी ही दृढ़ होती गयीं। इन दिनों उनका ईश्वर पर भी विश्वास नहीं था।

इसी समय थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा से उनकी भेंट हुई। यह संस्था अध्यात्मवाद का प्रचार करती है। संस्था की अध्यक्षा का एनी बेसेण्ट पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे १८८९ में थियोसिफिकल सोसाइटी में सम्मिलित हो गयीं और जीवन के अंत तक उससे जुड़ी रहीं।

स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव :

१८९३ ईसवी में अमेरिका के शिकागो शहर में एक सर्वधर्म सम्मेलन हुआ

था। एनी बेसेण्ट भी वहाँ उपस्थित थीं। उस सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने भाषण दिया। स्वामी जी के भाषण का एनी बेसेण्ट पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वामी जी ने भारत की महानता की जो बातें बतायीं उन्हें सुनकर एनी बेसेण्ट भारत के प्राचीन ज्ञान की ओर और अधिक आकर्षित हुई। इससे पहले भी भारत में उनकी रुचि थी और उन्होंने इस विषय में एक पुस्तक भी लिखी थी।

भारत आगमन :

एनी बेसेण्ट थियोसोफी का प्रचार करने के लिए १८९३ ई० में भारत आ गयीं। उन्होंने मद्रास के निकट अड्यार नामक स्थान को अपना केन्द्र बनाया। भारत आकर एनी बेसेण्ट ने हिन्दू धर्म शास्त्रों का अध्ययन किया। इस विषय में अनेक पुस्तकें लिखीं। गीता का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया। इससे भारत के प्राचीन ज्ञान का परिचय पश्चिमी देशों को हुआ और एनी बेसेण्ट की ख्याति बढ़ी। भारत आकर वे पूरी तरह भारतीय बन गयीं। माँस, मदिरा, तम्बाकू जैसी चीजों को उन्होंने कभी छुआ ही नहीं। अड्यार से कुछ समय बाद वे वाराणसी आ गयीं। यहाँ रहते हुए नित्य गंगा स्नान किया करती थीं। उन्होंने नंगे पैर तीर्थों की यात्रा की। अमरनाथ की गुफा के दर्शन भी शीतल जल से स्नान करके ही किये थे।

शिक्षा पर बल :

एनी बेसेण्ट शिक्षा पर बहुत जोर देती थीं। उनका कहना था कि भारतीय धर्म और दर्शन उसी तरह पढ़ाया जाय जिस तरह भूगोल आदि विषय पढ़ाये जाते हैं। इसलिए उन्होंने वाराणसी में 'सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल' की स्थापना की। इस स्कूल ने तेजी से उन्नति की और शीघ्र ही कॉलेज बन गया। बाद में इस कॉलेज को केन्द्र बनाकर पंडित मदन मोहन मालवीय ने 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' जैसी विशाल शिक्षा संस्था की स्थापना की।

एनी बेसेण्ट की रुचि के चार विषय थे– धर्म, शिक्षा, समाजसुधार और राजनीति। इन सभी क्षेत्रों में अपने विचार प्रकट करने के लिए उन्होंने 'कामन वील' और 'न्यू इंडिया' नाम के समाचार पत्र निकाले। वे हिन्दू धर्म और दर्शन से बहुत प्रभावित थीं, लेकिन अन्य धर्मों को मानने वालों का भी पर्याप्त सम्मान करती थीं। भारतीय समाज में फैली कुरीतियों का उन्होंने सदा विरोध किया। शिक्षा पर जोर देकर वे कहती थीं कि बुद्धिजीवी लोगों के हाथ में देश का प्रशासन होना चाहिए। वे मानती

थीं– जिस बात को अधिक लोग कहते हैं वह सदा ठीक ही नहीं होती।

जिस समय ऐनी बेसेण्ट नें भारत में थियोसोफी का प्रचार किया यहाँ उन दिनों स्वतन्त्रता संग्राम छिड़ा हुआ था। वे भी इस राजनीतिक आन्दोलन से अलग न रह सकीं और काँग्रेस के कामों में रुचि लेने लगीं। धीरे–धीरे वे काँग्रेस की प्रमुख नेता बन गयीं। उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम को आगे बढ़ाने के लिए 'होम रूल' नाम की एक संस्था बनायी। पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि भी इस संस्था के सदस्य थे। एनी बेसेण्ट का कहना था कि स्वाधीनता की बात करके भारत एक स्वाभिमानी राष्ट्र की हैसियत से न्याय पाने के जन्म सिद्ध अधिकार का दावा करता है। १९१७ ईसवी के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षा एनी बेसेण्ट को सर्वसम्मति से चुना गया।

आरम्भ से ही एनी बेसेण्ट के लेख बड़े उग्र विचारों के होते थे। इसके लिए उनके अखबारों से जमानत माँगी गयी और ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार भी कर लिया था। जैसा कि बहुत से नेताओं के साथ हुआ, गाँधीजी के राजनीति में आने के बाद एनी बेसेण्ट ने भी अपना ध्यान शिक्षा, समाज सुधार आदि के कामों की ओर अधिक लगाया। वे कहती थीं– 'विश्व में अनेक धर्मों का चालीस वर्ष तक अध्ययन करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि मुझे हिन्दुत्व के समान कोई धर्म इतना पूर्ण, व्यवहारिक और अध्यात्मिक नहीं जँचता'।

नारी जागरण की अग्रदूत :

एनी बेसेण्ट ने भारतीय नारी जागरण के लिए बहुत अधिक काम किया। उसके प्रयत्न से भारतीय नारी अपने अधिकारों को समझने लगी। नारियों के लिए उन्होंने 'आधुनिक जीवन में प्राचीन आदर्श' नामक एक पुस्तक भी लिखी। वे मानती थीं कि नारी को पुराना गौरव दिये बिना भारत स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा। उन्होंने 'महिला संघ' की स्थापना की। इसका उद्देश्य लड़के–लड़कियों को समान शिक्षा का अधिकार दिलाना, बाल विवाह और उस समय की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाना था। वे मानती थीं कि नारी माँ, बहन, पत्नी और बेटी के रूप में पुरुषों के भविष्य का

निर्माण करती है। वे प्राचीन भारतीय आदर्शों की पुजारी थीं। भारत के गौरव का संसार में प्रचार करने में वे जुटी रहीं।

१९३३ ईसवी में ८७ वर्ष की उम्र में एनी बेसेण्ट का देहान्त हुआ। विदेश में पैदा होने पर भी भारत में शिक्षा, समाजसुधार और देश की स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने बहुत अधिक काम किया।

सरोज निलयम
डैम्पियर नगर,
मथुरा।

●

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे ले कर रहूँगा'- यह घोषण करने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का जन्म २३ जुलाई १८५६ ई० को महाराष्ट्र के कोंकण जिले के रत्नागिरि नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता बाल गंगाधर राव संस्कृत के विद्वान और अध्यापक थे। वे बड़े परोपकारी थे। पाँच रुपये मासिक वेतन में से भी वे कुछ बचाकर दूसरों की सहायता करते थे। पिता के इन गुणों का लोकमान्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

बाल्यकाल :

तिलक का जन्म का नाम केशव था। छोटा होने के कारण घर में सब लोग 'बाल' कह कर पुकारा करते थे। बाद में यही नाम प्रचलित हो गया। पिता गंगाधर राव ने अपने एक मात्र पुत्र की शिक्षा की ओर पूरा ध्यान दिया। छोटी उम्र में ही उन्होंने तिलक को संस्कृत के कई ग्रंथ कंठस्थ करा दिये और कुछ समय बाद उन्हें विद्यालय भेजा गया। वहाँ भी अध्यापक उनकी बुद्धिमत्ता देखकर आश्चर्य करते थे। उन्हें एक बार पढ़ा हुआ पाठ सदा के लिए याद हो जाता था। गणित में उनकी विशेष रुचि थी। कठिन से कठिन प्रश्न वे जबानी हल कर देते। परीक्षा में उन्हीं प्रश्नों के उत्तर लिखते जो सबसे कठिन होते थे। खेल-कूद में उनकी विशेष रुचि नहीं थी, किन्तु स्वस्थ रहने के लिए व्यायाम करना और तैरना आवश्यक समझते थे।

समर्थ सम्पादक :

यह समय देश के नव जागरण का काल था। महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि के विचारों से लोकमान्य तिलक भी प्रभावित हुए। १८८९ ई० में वकालत

पास करने के बाद उन्होंने सरकारी नौकरी में न जाकर देश और समाज की सेवा करने का निश्चय किया। वे पुणे में पहले एक स्कूल और फिर कालेज खोलकर इस क्षेत्र में आगे बढ़े। नयी पीढ़ी को देश और समाज की सेवा में लगाने के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक था, किन्तु लोकमान्य ने शीघ्र ही अनुभव किया कि यह कार्य उनके लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए उन्होंने 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो समाचार पत्र निकालना आरम्भ किया।

अपने पत्रों के द्वारा तिलक लोगों का ध्यान देश की गुलामी की ओर दिलाने लगे। वे बड़े निडर स्वभाव के व्यक्ति थे। अंग्रेज अधिकारियों की ओर से जहाँ भी अत्याचार होते, तिलक उसके विरुद्ध जोरदार आवाज उठाते। उन्हीं दिनों महाराष्ट्र में अकाल पड़ा। तिलक ने लोगों को इससे हो रही कठिनाइयों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। इससे किसानों में जागृति आयी। अपने सहयोगियों को गाँव-गाँव भेजकर तिलक ने अधिकारियों को लोगों की सहायता करने के लिए प्रेरित किया। १८९७ ई० में पूना में प्लेग फैल गया था। ब्रिटिश सरकार ने वाल्टर चार्ल्स रैण्ड नाम के व्यक्ति को इसकी रोकथाम के लिए कमिश्नर नियुक्त किया। वह बड़े अत्याचारी स्वभाव का व्यक्ति था। उसके आदेश से शहर में आतंक फैल गया। सिपाही तलाशी के बहाने घरों का कीमती सामान उठा ले जाते। यहाँ तक कि महिलाओं के साथ भी दुर्व्यवहार होने लगा। इस पर भला तिलक कैसे चुप रह सकते थे। यद्यपि प्लेग में उनके अपने पुत्र की मृत्यु हो गयी थी, फिर भी उन्होंने रैण्ड के अत्याचारों के विरुद्ध अपने पत्रों के द्वारा जोरदार आवाज उठायी, इसका परिणाम यह हुआ कि चापेकर बन्धुओं ने रैण्ड की हत्या कर दी। वे तीनों भाई फाँसी पर लटका दिये गये और राजद्रोह का मुकदमा चला कर तिलक को भी ढाई वर्ष की कैद की सजा दे दी गयी।

हमें भीख नहीं माँगनी :

अब तिलक के विचार और भी दृढ़ हो गये। जेल से छूटने के बाद उन्होंने घोषणा की कि भीख माँग कर कुछ नहीं मिलेगा। हमें ब्रिटिश नौकरशाही के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए। तिलक इस तरह के विचार व्यक्त करने वाले अपने समय के पहले नेता थे। कांग्रेस के बाकी नेता नरम विचारों के थे और वे ब्रिटिश सरकार को आवेदन पत्र भेज कर कुछ अधिक रियायतों की मांग किया करते थे। अपने समाचार पत्रों और स्पष्ट निर्भीक विचारों से तिलक पूरे देश के नेता बन गये। पंजाब के लाला लाजपत राय और बंगाल के बिपिन चन्द्र पाल भी उन्हीं के विचारों के थे। 'लाल, बाल, पाल' के नाम से इन तीनों की देश की राजनीति

में उस समय बड़ी धूम थी। लेकिन कांग्रेस संगठन तब तक उनके साथ चलने के लिए तैयार नहीं हो पाया था। १९०७ में कांग्रेस के द्वार तिलक के लिए बन्द कर दिये गये। परन्तु इससे क्या? 'मराठा' और 'केसरी' के पत्रे दासता के विरुद्ध आग उगलते रहे। ब्रिटिश सरकार ने तिलक के विरुद्ध फिर राजद्रोह का मुकदमा चलाया और १९०८ में उन्हें छह वर्ष की सजा देकर बर्मा के माडले जेल में बन्द कर दिया। उन पर आरोप लगाया गया था कि तिलक हिंसा का उपदेश देते हैं, उनके लेख घातक हैं और सरकार के विरुद्ध द्वेष उत्पन्न करने वाले हैं। तिलक इतने लोकप्रिय थे कि उनकी सजा से पूरे देश में उत्तेजना फैल गयी। बम्बई के बाजार बन्द हो गये, सारी मिलें बन्द हो गयीं।

ग्रंथों की रचना :

माडले जेल की सजा का लोकमान्य तिलक ने बहुत अच्छा उपयोग किया। उन्होंने मराठी भाषा में 'गीता रहस्य' नाम का एक बड़ा ग्रंथ लिख डाला। उन्होंने लिखा कि गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपने कर्त्तव्य में लगे रहने का उपदेश दिया। इसलिए हमें भी सदा अपने कर्त्तव्य में लगे रहना चाहिए। तिलक के इस ग्रंथ का अनुवाद भी हो चुका है और वह आज भी बहुत प्रचलित है। जेल में लिखे इस ग्रंथ के अतिरिक्त तिलक ने दो और पुस्तकें लिखीं– "ओरियन" और "आरकटिक होम इन वेदाज"।

छह साल की सजा पूरी करके १९१४ ई० में तिलक माडले जेल से बाहर निकले। इसी के लगभग छह महीने बाद गाँधी जी भी दक्षिण अफ्रीका से भारत आये। इस बीच प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो चुका था। तिलक ने 'होम रूल लीग' नाम की एक संस्था बना कर स्वतन्त्रता के पक्ष में प्रचार जारी रखा। देश के बड़े–बड़े नेता जिनमें मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू भी सम्मिलित थे, 'होमरूल लीग' के सदस्य बन गये। तिलक का कहना था कि जब तक हमारी स्वराज्य की माँग पूरी नहीं हो जाती हमें अपना आन्दोलन जारी रखना चाहिए। देश की राजनीति पर तिलक के इन विचारों का प्रभाव बढ़ता गया। यहाँ तक कि १९१६ ई० की लखनऊ कांग्रेस में नरम दल के नेता अलग हो गये और पूरा संगठन तिलक के प्रभाव में आ गया।

अनोखा उपहार :

तिलक के बढ़ते हुए इस प्रभाव से ब्रिटिश सरकार फिर चिंतित हो उठी। १९१७ में पुणे में उनका ६१वां जन्म दिन बड़ी धूम–धाम से मनाया जा रहा था।

ठीक उसी समय पुलिस ने उन्हें राजद्रोह की तीसरी नोटिस पकड़ा दी। इस पर तिलक ने कहा– 'आज के दिन सरकार की ओर से कुछ उपहार आना चाहिए था'। उन पर मुकदमा चला लेकिन इस बार सरकार उन्हें सजा नहीं दिला सकी। इसी बीच भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में प्रचार करने के लिए लोकमान्य ने लंदन की यात्रा की। उनके विचारों का पढ़े–लिखे अंग्रेजों पर बहुत प्रभाव पड़ा।

लोकमान्य ने अपना आन्दोलन केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने इसके लिए गणेश उत्सव और शिवाजी जयन्ती जैसे समारोहों का भी उपयोग किया। गणेश उत्सव मनाने की महाराष्ट्र में पुरानी परम्परा है। तिलक ने दस दिनों तक चलने वाले इस समारोहों का उपयोग राष्ट्रीयता की भावना फैलाने के लिए किया। शिवाजी जयन्ती भी नये ढंग से मनायी जाने लगी। उन्होंने कीर्तन मंडलियाँ संगठित कीं। वे गाँव–गाँव घूमकर लोगों को देश की दयनीय दशा से परिचित करातीं और उससे छुटकारा पाने का उपाय बतातीं। इस सब से देश में जागृति आयी।

गाँधी जी ने जब असहयोग आन्दोलन चलाने का निर्णय किया तो तिलक ने कहा था– असहयोग का कार्यक्रम मुझे पसन्द है। यदि आप जनता का ध्यान अपनी ओर खींच सकें तो मुझे आप अपना पूर्ण समर्थक पायेंगे। लेकिन यह नहीं हो सका। गाँधी जी १ अगस्त १९२० से असहयोग आन्दोलन शुरू करने वाले थे और ३१ जुलाई और १ अगस्त की रात में १२ बजकर ४० मिनट पर लोकमान्य तिलक का देहान्त हो गया। इस घटना से सारा देश स्तब्ध रह गया। गाँधी जी तिलक की अर्थी को कंधा देने के लिए पुणे पहुँचे। उन्होंने कहा– 'मेरी ढाल मुझ से छिन गयी'।

लोकमान्य सबके प्रिय थे, हिन्दू मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी उनकी प्रशंसा करते थे। पाँच लाख से अधिक लोग उनकी शव यात्रा में सम्मिलित हुए। एक अठारह वर्ष का मुसलमान युवक यह कहते हुए उनकी चिता में कूद पड़ा कि 'अरे तिलक महाराज! तुम तो चले अब हम कैसे जियेंगे'। बड़ी कठिनाई से उस युवक को बचाया जा सका।

देश को जगाने और उसे स्वतन्त्रता की दिशा में आगे बढ़ाने के लिए लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने जो काम किया वह सदा याद रहेगा।

२३४, राजेन्द्र नगर,
लखनऊ–४

●

श्यामजी कृष्ण वर्मा

–लीलाधरशर्मा'पर्वतीय'

आज भारत स्वतन्त्र है। हम जैसे चाहें, अपने भाग्य का निर्णय कर सकते हैं। परंतु यह स्वतन्त्रता सरलता से प्राप्त नहीं हुई। इसके पीछे बलिदानों की लम्बी कहानी है। अनेक महापुरुषों ने देश के अंदर और विदेशों में रहकर देश को पराधीनता से मुक्त कराने के लिए सर्वस्व की बाजी लगा दी। ऐसे ही एक महापुरुष थे– श्यामजी कृष्ण वर्मा जिन्होंने अत्यंत गरीब घर में जन्म लेकर देश के लिए महान काम किये।

श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म ४ अक्टूबर १८५७ ई० को गुजरात में कच्छ जिले के मांडवी गाँव में हुआ था। उनके पिता करसन जी भंसाली मजदूरी करके अपने परिवार का पालन करते थे। श्यामजी का बचपन बड़ी गरीबी में बीता। जल्दी ही माता का देहान्त हो गया। इसलिए माँ की ममता से भी वे वंचित रहे। उनकी देखरेख उनकी नानी ने की। जो उम्र पढ़ने–लिखने की, स्कूल जाने की और खेलकूद की होती है, श्यामजी को उसी में काम में लग जाना पड़ा। मजदूरी करने के लिए गये अपने पिता के लिए रोटी ले जाते और वहाँ जाकर उनके काम में हाथ भी बँटाया करते थे। बारह वर्ष की उम्र तक उनका जीवन इसी तरह बीता।

संन्यासिनी का प्रभाव :

इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने श्यामजी कृष्ण वर्मा के जीवन की धारा बदल दी। प्रतिभा उनमें थी और अवसर मिलते ही वे आगे बढ़ते गये। माता हरिकुवरबा नाम की एक विदुषी संन्यासिनी थीं। वे देश भर के तीर्थ स्थानों की यात्रा पर निकली थीं। इसी क्रम में वे द्वारका से मांडवी पहुँचीं। बालक श्यामजी ने संन्यासिनी को देखा। उनके मुख पर अपार शांति विराजमान थी। बालक पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। वह संन्यासिनी का भक्त बन गया और उनके साथ यात्रा पर निकल पड़ा। उनकी सेवा और व्यवहार से संन्यासिनी भी बहुत प्रभावित हुई। यात्रा में उन्होंने श्यामजी को संस्कृत भाषा सिखाने का प्रयत्न किया। तीव्र बुद्धि के बालक ने इसमें

आशा से कहीं अधिक रुचि ली। अंत में संन्यासिनी ने उसे आशीर्वाद के साथ संस्कृत की कुछ पुस्तकें देकर घर वापस भेज दिया।

अध्ययन के अवसर :

अब तो श्यामजी को संस्कृत भाषा पढ़ने की धुन लग गयी। संस्कृत का जो ज्ञाता मिलता, वे उसके पास बैठ जाते और पढ़ाने की विनती करते। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही समय में उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान हो गया। वे संस्कृत में वार्तालाप भी करने लगे। इन्हीं दिनों कच्छ के सेठ मथुरादास भाटिया से श्यामजी की भेंट हुई। सेठ जी का बंबई में व्यवसाय था। कम उम्र में ही श्यामजी के संस्कृत ज्ञान का सेठ जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इस योग्य छात्र को आगे बढ़ने का अवसर देने के लिए वे उन्हें अपने साथ बंबई ले गये। बंबई में श्यामजी को विल्सन हाई स्कूल में भर्ती करा दिया। साथ ही संस्कृत का ज्ञान बढ़ाने के लिए वे संस्कृत पाठशाला में भी जाने लगे। कुछ दिन बाद उन्होंने एलफिन्सटन हाई स्कूल में प्रवेश ले लिया। वहाँ भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। परीक्षाओं में वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। भाषणों में तो उनकी बराबरी कोई छात्र कर ही नहीं सकता था। एक मजदूर का बेटा अपने परिश्रम और योग्यता के बल पर चमक उठा। बंबई के ही एक सेठ छबीलदास के ऊपर तो श्यामजी का इतना प्रभाव पड़ा कि इस गरीब परन्तु प्रतिभा के धनी युवक के साथ उन्होंने अपनी पुत्री भानुमती का विवाह कर दिया।

स्वामी दयानंद की प्रेरणा :

१८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के दमन के बाद देश को जगाने का कार्य समाज सुधारकों ने अपने हाथ में ले लिया था। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानंद इनमें प्रमुख थे। उनकी वाणी लोगों पर जादू का प्रभाव डालती थी। एक दिन श्यामजी कृष्ण वर्मा को बंबई में महर्षि दयानंद का व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। धारा प्रवाह संस्कृत भाषा में उनका भाषण सुनकर श्यामजी कृष्ण मग्ध हो गये। वे स्वामी दयानंद के शिष्य बन कर आर्य समाज में सम्मिलित हो गये। उन्होंने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का और गहन अध्ययन किया।

आक्सफोर्ड में प्रोफेसर :

जिस प्रकार श्यामजी कृष्ण को मांडवी से बंबई आने का अवसर मिला था, इसी

प्रकार उनके कंठ में बैठी सरस्वती ने उन्हें संस्कृत भाषा का सहायक प्रोफेसर बनाकर लंदन पहुँचा दिया। लंदन के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक मोनियर विलियंम्स ने, जो भारत आये हुए थे, श्यामजी कृष्ण वर्मा का संस्कृत में भाषण सुना। वे इससे बड़े प्रसन्न हुए और अपने प्रभाव से उन्हें आक्सफोर्ड में नियुक्त करा दिया। अब श्यामजी के सामने आगे बढ़ने के और भी द्वार खुल गये। उन्होंने आक्सफोर्ड से एम० ए० और बैरिस्टर की परीक्षा पास की। वहाँ से इन परीक्षाओं को पास करने वाले वे पहले भारतीय थे।

भरत लौटने पर श्यामजी कृष्ण वर्मा कुछ समय तक रतलाम राज्य के दीवान रहे। उसके बाद उन्होंने अजमेर में वकालत की। साथ-साथ व्यवसाय भी किया और लाखों रुपए कमाये। महर्षि दयानंद का प्रभाव तो उन पर था ही। महर्षि ने उनसे कहा कि वे स्वराज्य और स्वधर्म के लिए कार्य करें।

स्वतन्त्रता के लिए प्रचार :

यहाँ से श्यामजी कृष्ण वर्मा के जीवन में फिर परिवर्तन आया। उस समय तक भारत में खुलकर राजनीतिक काम करने का वातावरण नहीं बन पाया था। विदेश में रहकर अंग्रेजों के अत्याचारों से संसार को परिचित कराना अधिक सरल था। इससे भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में वातावरण बनाने में सफलता मिलने की आशा थी। अतः श्यामजी कृष्ण वर्मा इंग्लैंड चले गये। वहाँ उन्होंने 'इंडियन होमरूल सोसाइटी' की स्थापना की और एक मासिक पत्रिका निकालना आरम्भ किया। इसके द्वारा भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जनमत तैयार करने लगे।

इंडिया हाउस की स्थापना :

भारत से जो छात्र पढ़ने के लिए इंग्लैंड जाते थे, श्यामजी कृष्ण वर्मा उन्हें छात्रवृत्तियाँ देने लगे। 'इंडिया हाउस' स्थापित करके ऐसे छात्रों को आवास की सुविधा उपलब्ध करायी। सावरकर इन्हीं की छात्रवृत्ति पर पढ़ने के लिए विदेश गये थे। मदनलाल ढींगर, जिन्होंने लंदन की भरी सभा में कर्नल वाइली को अपनी गोली का निशाना बनाकर भारत के अपमान का बदला लिया था, 'इंडिया हाउस' में ही रहते थे।

श्यामजी कृष्ण वर्मा के उत्तेजक लेखों और इंडिया हाउस की गतिविधियों से ब्रिटिश सरकार बेखबर नहीं थी। यह आशंका होने लगी कि सरकार उन्हें गिरफ्तार न कर ले। यह स्थिति आने से पहले ही वे पेरिस चले गये। मैडम भिखाईजी कामा

वहाँ पहले से मौजूद थीं। इन सबने मिलकर अब पेरिस से ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध काम करना आरम्भ कर दिया। इन लोगों का एक उद्देश्य भारत में गुप्त रूप से काम कर रहे क्रान्तिकारियों को हथियारों से सहायता पहुँचाना भी था। इसके लिए श्यामजी कृष्ण वर्मा ने बम बनाने का तरीका बताने के लिए एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की प्रतियाँ गुप्त रूप से भारत भेजी गयीं। उसकी मदद से क्रान्तिकारियों ने देश में जगह-जगह बम बनाये। इन बमों का अंग्रेजों के विरुद्ध कई स्थानों पर इस्तेमाल किया गया।

जेनेवा में :

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१९१८) के आरम्भ होते ही श्यामजी कृष्ण वर्मा पेरिस में रहकर भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध और भी जोरों से प्रचार करने लगे। उनका कहना था कि भारत को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए जहाँ से भी सम्भव हो, सहायता ली जाय। फ्रांस युद्ध में अंग्रेजों की ओर था। इसलिए ऐसी दशा में श्यामजी कृष्ण वर्मा के लिए पेरिस छोड़ कर चला जाना ही सुरक्षित था। उन दिनों लाला हरदयाल आदि क्रान्तिकारी अमेरिका में रहकर गुप्त रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य कर रहे थे। श्यामजी कृष्ण पेरिस से जेनेवा (स्विट्जरलैंड) चले गये। उन्होंने अमेरिका में काम कर रहे क्रान्तिकारी से भी सम्पर्क किया और भारत के क्रान्तिकारियों के लिए हथियार भिजवाये। युद्ध समाप्त होने के बाद भी वे जेनेवा में ही रहे।

अब उनकी उम्र ७६ वर्ष हो चुकी थी। लगभग ३० वर्ष तक घर-द्वार से दूर विदेशों में रह कर उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए दिन-रात परिश्रम किया। इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर तो पड़ना ही था। ३१ मई १९३३ ई० को जनेवा के एक अस्पताल में भारत माता का यह लाल सदा के लिए सो गया।

मजदूर परिवार में जन्म लेकर, खूब धन सम्पत्ति कमाने के बाद भी इस देशभक्त ने सुख-सुविधा का जीवन नहीं अपनाया। वे जीवन भर राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए अलख जगाते रहे। ऐसे महापुरुष बिरले ही मिलेंगे। देश उनको कभी भुला नहीं सकता।

२३४, राजेन्द्रनगर,
लखनऊ-४

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

—जगदीशचन्द्र शर्मा

रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारत के प्रमुख महापुरुष थे। उन्हें सारा संसार विश्वकवि के रूप में जानता है। उन्होंने साहित्य, संगीत, कला, शिक्षा, संस्कृति आदि कई क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उनका जीवन अनेक विशेषताओं का इन्द्रधनुषी पुंज था।

रवीन्द्रनाथ का जन्म ७ मई १८६१ को कलकत्ता के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम देवेन्द्र नाथ और माता का नाम शारदा देवी था। कलकत्ता के समृद्ध लोगों की बस्ती में उनका भवन 'जोड़ा सांको' राजभवन के नाम से विख्यात था। वे बैनर्जी वंश के थे। उनके परिवार का समाज में बहुत सम्मान होने के कारण वे ठाकुर कहलाये। यही ठाकुर शब्द अंग्रेजी के प्रभाव से टैगोर बन गया।

उनके पिता ब्रह्म समाज के मुख्य कर्ता–धर्ता थे। वे मूर्ति–पूजा, अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के प्रबल विरोधी थे। वे परमात्मा के परम भक्त थे। ध्यान, प्रार्थना, तपस्या आदि में लगे रहने के कारण उन्हें 'महर्षि' कहा जाता था।

रवीन्द्रनाथ का बचपन नौकरों की देखरेख में सादगी से बीता। जब वे पढ़ने योग्य हुए तब उन्हें 'बंगाल एकेडेमी' विद्यालय में भेजा गया। लेकिन वहाँ के नीरस और घुटन भरे वातावरण में उनका मन नहीं लगा। इसलिए उनके लिए घर पर ही पढ़ने की व्यवस्था की गयी।

कविता का आरम्भ :

रवीन्द्रनाथ ने आठ वर्ष की उम्र में पहली कविता लिखी। उसके पश्चात निरंतर कविताएँ लिखकर वे प्रसिद्धि पाने लगे।

रवीन्द्रनाथ एक बार अपने पिता के साथ हिमालय की यात्रा पर गये। हिमालय के विभिन्न मनोहर दृश्यों को देख–देख कर वे मुग्ध हो उठते थे। उनकी काव्य–रचना फूलती–फलती जा रही थी। वहाँ महर्षि उन्हें अंग्रेजी और संस्कृत पढ़ाते तथा रात्रि

में नक्षत्रों का ज्ञान कराते थे। जब वे उपासना में होते, बालक रवि पास में खेला करता था और प्रकृति को ध्यान से देखा करता था।

हिमालय से लौट रवीन्द्रनाथ ने अपने घरवालों को कई नये-नये अनुभव सुनाये।

पढ़ने के लिए रवीन्द्रनाथ को सेंट जेवियर्स कालेज में भर्ती कराया गया। किन्तु वहाँ भी उनका मन नहीं लगा। इसलिए उनकी पढ़ाई घर पर ही होती रही। उन दिनों उनके घर पर कई पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं। रवीन्द्रनाथ ने उनका खूब उपयोग किया।

इंग्लैंड रवाना :

वे चौदह वर्ष के ही थे कि रवीन्द्रनाथ की माता का देहान्त हो गया। इसके बाद आगे पढ़ने के लिए उन्हें इंग्लैंड भेजा गया। वहाँ उन्होंने पहले ब्राइटन के पब्लिक स्कूल में और बाद में लंदन विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। इंग्लैंड में वे एक अंग्रेज परिवार में रहते थे, जहाँ रोज महफिल जमती थी। उसमें रवीन्द्रनाथ काव्य-पाठ किया करते थे। वे मंच पर अभिनय करने में बड़े कुशल थे और व्याख्यान भी बहुत अच्छा देते थे।

सन् १८८३ में रवीन्द्रनाथ का विवाह मृणालिनी देवी से हुआ। पत्नी का उन्हें भरपूर सहयोग मिला।

सन् १८९१ में रवीन्द्रनाथ अपनी जमींदारी देखने के लिए 'स्यालदा' गाँव गये। वह गाँव गंगा नदी के किनारे बसा हुआ था। वे चार वर्षों तक वहाँ रहे। वहाँ वे खूब नौका-विहार करते, लोगों से मिलते और प्रकृति का आनन्द लेते थे। उन वर्षों में उन्होंने निबंध, कविताएँ, कहानी और नाटक खूब लिखे। 'बलिदान', 'चित्रांगदा', 'सोनारतरी', 'चित्रा' और 'उर्वशी' उनकी इन्हीं दिनों की लिखी हुई पुस्तकें हैं।

उनके निबंध, नाटक, कविता, कहानी, आलोचना आदि सभी तरह की रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं और बंगला साहित्य को उन्होंने एक नया रूप प्रदान किया।

शांति निकेतन :

बंगाल प्रदेश में बोलपुर के निकट उनके पिता ने शांति निकेतन की स्थापना की थी। कुछ वर्षों बाद रवीन्द्रनाथ ने वहाँ शांति निकेतन विद्यालय आरम्भ किया।

यहाँ उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये।

सन् १९०२ से १९०६ तक का समय रवीन्द्रनाथ के लिए बड़े कष्ट का समय रहा। इन वर्षों में उनकी पत्नी, दूसरी पुत्री, वृद्ध पिता और बड़े पुत्र का देहान्त हो गया। इससे उन्हें भारी ठेस लगी।

नोबेल पुरस्कार :

सन् १९१३ में रवीन्द्रनाथ अस्वस्थ हो गये थे। इसलिए इलाज के लिए वे लंदन रवाना हुए। मार्ग में जहाज़ पर उन्होंने अपनी पुस्तक 'गीतांजलि' का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस अनुवाद को पढ़कर संसार भर के साहित्यकारों का ध्यान उनकी काव्य प्रतिभा की ओर गया। लोग भारत के इस महान सपूत के विचारों से बहुत प्रभावित हुए। अंग्रेजी में भी यह पुस्तक 'गीतांजलि' के नाम से ही प्रकाशित हुई और इस पर उन्हें विश्व का श्रेष्ठ 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ। नोबेल पुरस्कार मिलने से रवीन्द्रनाथ की ख्याति सारे संसार में तेजी से फैली। इससे भारत का नाम भी ऊँचा हुआ।

रवीन्द्रनाथ पक्के राष्ट्र भक्त थे। अंग्रेजों ने जब १९१९ ई० में बैशाखी के दिन पंजाब के जलियाँवाला बाग में निहत्थे, स्त्री, बच्चों और पुरुषों पर चारों ओर से घेर कर गोली चलायी और सैकड़ों लोगों को मार डाला तो इस हत्या कांड के विरोध में रवीन्द्रनाथ ने अंग्रेजों की दी हुई 'सर' की उपाधि को त्याग दिया।

शांति निकेतन में उन्होंने विश्व-संस्कृति के पठन-पाठन के लिए 'विश्व भारती' संस्था स्थापित की जिसमें अनेक देशों के विद्यार्थी एक-दूसरे की संस्कृति का अध्ययन करने लगे। इसमें विदेशों के प्रतिष्ठित शिक्षक भी पढ़ाने के लिए आये। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी पढ़ाते थे। विश्व भारती में संगीत, चित्रकला, अभिनय आदि की शिक्षा की बहुत अच्छी व्यवस्था थी।

कला और संगीत में भी अग्रणी :

शांति निकेतन में ही रवीन्द्रनाथ ने ग्राम-विकास और ग्राम-सुधार के लिए 'श्री-निकेतन' नाम की संस्था प्रारम्भ की।

उन्होंने साठ वर्ष की आयु में चित्रकला का अभ्यास आरम्भ किया और उसमें

बहुत अधिक कुशलता प्राप्त कर ली। वे संगीत के भी प्रेमी थे। और संगीत तथा चित्रकला के क्षेत्र में भी रवीन्द्रनाथ का उल्लेखनीय स्थान है।

अपने देश का तो रवीन्द्रनाथ ने भ्रमण किया ही, भारत का संदेश फैलाने के लिए संसार के कई देशों की भी उन्होंने यात्राएँ कीं। सब जगह उनका भरपूर आदर हुआ। अब वे श्रद्धा और सम्मान से विश्व-कवि, महाकवि, रवीन्द्र और गुरुदेव कहलाने लगे।

रवीन्द्रनाथ ने देश की स्वाधीनता को भी बहुत प्रेरणा दी। अब उनका रचा हुआ गीत 'जन-गण-मन' भारत का राष्ट्रगान बन कर कोटि-कोटि कंठों से गूँज रहा है। उनके हृदय में देश-प्रेम और विश्व-प्रेम दोनों भरा हुआ था।

महात्मा गाँधी और रवीन्द्रनाथ दोनों एक दूसरे का बहुत ही आदर करते थे। जब भी आवश्यकता हुई, गाँधी जी ने अपने प्रभाव से विश्वभारती की सहायता की। ७ अगस्त १९४१ को रवीन्द्रनाथ ठाकुर का देहान्त हो गया। उनका सम्पूर्ण जीवन जनहित और मानवता की सेवा में समर्पित था।

पो० गिलूंड-३१३२०७
उदयपुर (राजस्थान)

मदाम भिखाईजी कामा

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

भारत में नारियाँ सदा आगे रही हैं। ज्ञान–विज्ञान का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें नारी का योगदान न रहा हो। संघर्ष में भी वह आगे रही है। राष्ट्र के गौरव को बढ़ाने में उसने न केवल पुरुष की बराबरी का हिस्सा लिया, अवसर आने पर उसने नयी दिशा भी दिखायी।

ऐसी ही एक वीर महिला और हमारे स्वतन्त्रता संग्राम की प्रमुख वीरांगना थी– मदाम भिखाईजी कामा। भारत के पहले राष्ट्रीय ध्वज की कल्पना करने वाली, उसे बनाने वाली और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उसे फहराकर भारत का सम्मान बढ़ाने वाली यही देशभक्त महिला थी। भिखाईजी कामा का अधिकांश जीवन भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए बीता। क्रान्तिकारियों से उनका सम्पर्क रहा और अंग्रेजों के अत्याचारों के विरुद्ध जनमत तैयार करने में उनका प्रमुख हाथ था।

मदाम भिखाईजी कामा का जन्म २४ सितम्बर १८६१ को बंबई के एक पारसी परिवार में हुआ था। वह समय भारत की राजनीति में एक प्रकार से सन्नाटे का समय था। १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद जो भीषण दमन हुआ उसके कारण प्रकट रूप से, कुछ समय के लिए राजनीतिक गतिविधियाँ रुक-सी गयी थीं, यद्यपि सामाजिक और विचारों के धरातल पर देश नयी करवटें ले रहा था।

धीरे–धीरे स्थिति में परिवर्तन हुआ। देश के विभिन्न अंचलों में "इंडिया एसोसियेशन", "सार्वजनिक सभा", "महाजन सभा" आदि जैसे संस्थाएँ बनने लगीं। इनके द्वारा क्रमशः राजनीतिक गतिविधियाँ भी चलने लगीं थीं। मदाम भिखाईजी पर इन सब का असर पड़ा। उन्होंने राजनीति में रुचि लेना आरम्भ किया। दिसम्बर १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन बंबई में हुआ। २४ वर्ष की युवती भिखाईजी भी उसमें सम्मिलित हुईं। धीरे–धीरे उन पर देशभक्ति का रंग चढ़ता गया। यद्यपि माता–पिता का मन रखने के लिए भिखाईजी ने एक धनी

वकील रुस्तम जी कामा से विवाह किया, पर उनका गृहस्थ जीवन नहीं चला। उनको देश और स्त्री-समाज की सेवा की धुन लग गयी थी। उनके जीवन का एक मात्र ध्येय था- देश की स्वतन्त्रता के लिए काम करना। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति इस काम में लगा दी। उस समय की परिस्थितियों में भारत के अंदर रह कर जितना काम सम्भव था, भिखाईजी निरंतर उसी में लगी रहीं।

इस भाग-दौड़ और प्रचार कार्य का भिखाईजी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। वे गम्भीर रूप से बीमार हो गयीं। १९०१ ई० में उन्हें चिकित्सा के लिए इंग्लैंड जाना पड़ा। वहाँ आपरेशन के बाद ही उनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ।

क्रान्तिकारियों से सम्पर्क :

भारत से बाहर जाने पर भिखाईजी के जीवन में एक नया मोड़ आया। भारत के अंदर उस समय तक स्वतन्त्रता की माँग को लेकर खुला आन्दोलन आरम्भ नहीं हुआ था। जो क्रान्तिकारी इसके लिए प्रयत्नशील थे, वे विदेशों में टिके हुए थे। ऐसे ही देशभक्त क्रान्तिकारी थे- बैरिस्टर श्यामजी कृष्ण वर्मा। श्री वर्मा इंग्लैंड से भारत में क्रान्तिकारी आंदोलन को चलाने के लिए धन और हथियार उपलब्ध कराने वालों में प्रमुख थे। उन्होंने इंग्लैंड में एक संस्था भी बनायी थी जिसका उद्देश्य भारतवासियों को अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित करना था। यह संस्था सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा देश को स्वतन्त्र कराना चाहती थी। इसके सदस्य सदा बम और पिस्तौल बनाकर देश में भेजने के प्रयत्न किया करते थे या इन हथियारों को बनाने का ज्ञान लोगों को कराते। भारत से गये व्यक्तियों को अपने प्रचार के द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध करना और फिर उन्हें अस्त्र-शस्त्र बनाने की शिक्षा देकर भारत भेजना, यह इनका मुख्य काम था।

भिखाईजी श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्पर्क में आयीं और उनकी संस्था में सम्मिलित हो गयीं। इंग्लैंड के खुले वातावरण का लाभ उठाकर भिखाईजी ने स्थान-स्थान पर भाषण देकर वहाँ की जनता को अंग्रेजों द्वारा भारत में किये जा रहे अत्याचारों से परिचित कराना आरम्भ किया। इससे वहाँ के लोगों की आँखें खुल गयीं और वे अपने देश की सरकार से इन बातों का स्पष्टीकरण माँगने लगे। भिखाईजी कामा के इस प्रचार से अंग्रेज सरकार चिन्तित हो उठी। उसने निश्चय किया कि उन्हें गिरफ्तार करके इंग्लैंड में ही जेल में बंद कर दिया जाय। पर भिखाईजी को इसका

पता चल गया और वे अंग्रेजों की आँखों में धूल झोंक कर लंदन से पेरिस चली गयीं।

पेरिस भी उस समय भारतीय क्रान्तिकारियों का गढ़ था। लाल हरदयाल, विनायक दामोदर सावरकर, शापुरजी एकतालवाला, मुकंद सरदेसाई और सरोजिनी नायडू के भाई वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय सब वहीं थे। भिखाईजी इन सब के सम्पर्क में आयीं। फ्रांस प्रवास के समय ही उनके नाम के पहले 'मदाम' शब्द जुड़ा था।

'वंदेमातरम्' का प्रकाशन :

कुछ समय पेरिस में रहने के बाद भिखाईजी १९०५ ई० में जेनेवा चली गयीं। वहाँ से उन्होंने 'वंदेमातरम्' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया। इस पत्र के द्वारा वे भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में प्रचार करती रहीं और यूरोप के देशों को यह बताती रहीं कि अंग्रेज भारत में कितना दमन करते हैं और किस प्रकार उस देश का शोषण कर रहे हैं।

भिखाईजी ने जर्मनी, स्काटलैंड, फ्रांस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि की यात्रा की। उनकी एक विशेषता थी कि जिस भी देश में जातीं, शीघ्र ही वहाँ की भाषा सीख लेती थीं। अपने लेखों और भाषणों में वे भारतवासियों को सम्बोधित करते हुए कहती थीं–

"मेरे देश बन्धुओं, अपने देश की स्थिति पर विचार करो। सोवियत संघ में देशभक्ति करने वाले वीर माने जाते हैं। अंग्रेज भी उन्हें देशभक्त मानते हैं और वही अंग्रेज हमें देशद्रोही कहते और सजा देते हैं। ऐसा क्यों है? यह भेदभाव किसलिए है? इसलिए कि हम गुलाम हैं। दोस्तो, सभी तरह का भय छोड़ दो। अब सभाएँ करने का नहीं आगे बढ़कर काम में जुट जाने का समय है। हम करोड़ों हैं, इसलिए अंग्रेजों का मुकाबला कर सकते हैं। स्वाधीनता की कीमत हमें चुकानी होगी। कीमत चुकाए बिना कोई देश आज तक आजाद नहीं हुआ। जुल्म सह लेना एक पाप है। हमें जुल्म करने वालों का सामना करना ही चाहिए। हमारे युवक देश की शान हैं। वे फाँसी के तख्ते पर चढ़ रहे हैं। मैं उनका अभिनन्दन करती हूँ। हमारी क्रांति पवित्र है। हमारा देश जल्दी ही मुक्त हो जाय मेरी एक मात्र तमन्ना यही है। हमारा एक ही ध्येय है। भारत–भारतवासियों का है।"

पहला राष्ट्र ध्वज :

१९०८ ई० में जर्मनी में विभिन्न देशों के लगभग एक हजार समाजवादी विश्व

की राजनीतिक स्थिति पर विचार करने के लिए एकत्र हुए। इस परिषद् में भिखाईजी कामा ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। परिषद् में सभी देशों के राष्ट्रीय झंडे फहरा रहे थे। उस समय तक भारत का कोई राष्ट्रीय झंडा नहीं बना था। हमारे यहाँ भी अंग्रेजों का झंडा यूनियन जैक ही फहराया जाता था। यह भारत की गुलामी का झंडा था। इसे भारत के राष्ट्रध्वज के रूप में फहराना मदाम कामा को किसी प्रकार भी स्वीकार न था। उन्होंने इस अवसर के लिए अपनी कल्पना से एक नया राष्ट्रीय झंडा बनाया और उसे समाजवादियों की परिषद् में भारत के राष्ट्रीय झंडे के रूप में लहराया।

इस झंडे में अलग-अलग रंगों की तीन आड़ी पट्टियाँ थीं। सब से ऊपर लाल रंग की पट्टी थी। इसमें डंडे के पास कमल का फूल और फिर सात सितारे थे जो सप्तर्षि मंडल की याद दिलाते थे। बीच में सफेद पट्टी थी। इसमें भारत के क्रान्तिकारियों का युद्ध घोष 'वंदेमातरम्' देवनागरी अक्षरों में लिखा हुआ था। नीचे की हरी पट्टी में डंडे की ओर सूर्य और अगले छोर पर चाँद के चिह्न बने हुए थे। ये दोनों हिन्दू और मुसलमानों की एकता के प्रतीक थे। यह भारत का पहला राष्ट्रीय ध्वज था। इस झंडे को देखकर ज्ञात होता है कि भिखाईजी कामा की भारत की संस्कृति पर कितनी आस्था थी और वे देश में पारस्परिक मैत्री की कितनी समर्थक थीं। जर्मनी की इस समाजवादी परिषद् में भी भिखाईजी ने जोरदार भाषण किया। उन्होंने भारत का पक्ष प्रस्तुत करने के साथ-साथ अंग्रेजों के अत्याचारों से भी संसार को एक बार पुनः परिचित कराया।

भारत से गये प्रमुख क्रान्तिकारियों ने भारत की मुक्ति के लिए आगे बढ़कर काम करने के उद्देश्य से 'अभिनव भारत' नाम की एक संस्था बनायी थी। भिखाईजी इस संस्था की प्रमुख कार्यकर्ता थीं। वे इंग्लैंड और यूरोप के अन्य देशों का चक्कर लगाया करतीं और देश की स्वतन्त्रता के लिए आवाज उठाने का कोई अवसर न छोड़तीं। १९०९ की फरवरी में लंदन में हुई "हिन्द सोसाइटी" की एक बैठक में उन्होंने कहा था- अगर हम बल का प्रयोग नहीं करेंगे तो स्वतन्त्रता केवल स्वप्न ही बनी रहेगी।

सावरकर की क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण अंग्रेज सरकार ने उन्हें लंदन में गिरफ्तार कर लिया था। मुकदमा चला कर सजा देने के उद्देश्य से उन्हें जहाज द्वारा इंग्लैंड से भारत भेजा जा रहा था। यह १९१० ई० की बात है। हवाई यात्रा तब

तक आरम्भ नहीं हुई थी।

क्रान्तिकारियों ने उन्हें छुड़ाने की योजना बनायी। ज्यों ही वीर सावरकर का जहाज फ्रांस की सीमा पर पहुँचा, वे अंग्रेज सिपाहियों के देखते-देखते बच निकलने के लिए समुद्र में कूद पड़े। पूरे जहाज में तहलका मच गया। फ्रांस की पुलिस सर्तक हो गयी। यद्यपि सावरकर ने फ्रांस में कोई अपराध नहीं किया था, फिर भी उन्हें गिरफ्तार करके पुनः अंग्रेजों के हवाले कर दिया। भिखाईजी कामा उस समय फ्रांस में ही थीं। उन्होंने फ्रांस की इस कार्रवाई के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी। परिणाम स्वरूप अनेक समाचार पत्रों ने भी इसका विरोध किया और उनके प्रयत्न से फ्रांस का यह कदम पूरे यूरोप में विवाद का विषय बन गया। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि मदाम कामा फ्रांस के अधिकारियों की आँखों में भी खटक गयीं।

१९१४ में यूरोप में प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। इसमें इंग्लैंड और फ्रांस साथी थे। भारत में इस युद्ध के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार थे। क्रान्तिकारियों का कहना था कि जब हमारा शत्रु विपत्ति में घिरा है तो अवसर का लाभ उठाकर हमें देश के स्वतन्त्रता संग्राम को तीव्र करना चाहिए और इस युद्ध में अंग्रेजों की किसी प्रकार की सहायता नहीं करनी चाहिए। दूसरी ओर एक वर्ग था जिसे अंग्रेजों की नेकनीयती पर विश्वास था। वह आशा करता था कि युद्ध में भारत से मिली सहायता के कारण अंग्रेज विजय प्राप्त करने के बाद भारत को स्वशासन का अधिकार दे देंगे।

भिखाईजी कामा अग्रजों की कूटनीति का अनुभव उनके बीच रहकर भलीभाँति प्राप्त कर चुकी थीं। उनका स्पष्ट मत था कि यह कौम कभी भी स्वेच्छा से भारत को स्वशासन का अधिकार नहीं देगी। युद्ध आरम्भ होते ही उन्होंने घोषणा की कि युद्ध में भारत से अंग्रेजों को किसी प्रकार की सहायता या समर्थन नहीं मिलना चाहिए। आगे की घटनाओं ने सिद्ध भी किया कि मदाम कामा को अंग्रेजों की वास्तविकता का कितना ठीक-ठीक ज्ञान था।

फ्रांस की जेल में :

युद्ध आरम्भ होते ही ज्यों ही मदाम कामा ने स्पष्ट रूप से अपना मत प्रकट करना आरम्भ किया, फ्रांस की सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके जेल में बंद कर दिया। वे १९१८ में प्रथम युद्ध समाप्त होने तक फ्रांस की जेल में रहीं। फलतः उनका 'वंदेमातरम्'

साप्ताहिक पत्र भी बन्द हो गया।

जेल-जीवन भिखाईजी के लिए घातक सिद्ध हुआ। उनका स्वास्थ्य बुरी तरह से गिर गया। १९१८ में जब उन्हें जेल से छोड़ा गया, ढलती उम्र और गिरते स्वास्थ्य ने उन्हें मातृभूमि के दर्शनों के लिए बेचैन कर दिया। परन्तु अंग्रेज सरकार उन्हें भारत में आने नहीं देना चाहती थी। उसने शर्त लगा दी कि भिखाईजी को भारत में प्रवेश की अनुमति तभी दी जा सकती है, जब वे भारत जा कर न तो किन्हीं राजनीतिक कामों में भाग लेंगी और न अंग्रेजों के विरुद्ध कोई भाषण ही देगीं। इस कारण १९१८ से १९३५ तक उनका भारत-प्रवेश टलता ही गया। इस बीच भारत की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए।

इस बदलती हुई परिस्थिति में विश्व के कोने-कोने में भारत की आजादी के लिए आवाज जगाने के बाद, दिसम्बर १९३५ में मादाम भिखाईजी कामा ३४ वर्ष के बाद स्वदेश आ सकीं। शरीर शिथिल था, पर आत्मा में अभी भी पुराना उत्साह था। किन्तु काया ने साथ नहीं दिया और आठ महीने की लम्बी बीमारी के बाद १६ अगस्त १९३६ को यह वीरांगना सदा के लिए सो गयी।

भारत में कदाचित इस देश भक्त महिला का कोई स्मारक नहीं है। फ्रांस के पेरिस नगर के कब्रिस्तान में उनका एक छोटा सा स्मारक बना है। उसके नीचे लिखा है 'जुल्मों का सामना करना ईश्वर की आज्ञा का पालन करने के बराबर है।' मदाम कामा के ये अमर वाक्य भारतवासियों को सदा जुल्म के सामने खड़े होने की सामर्थ्य देते रहेंगें।

२३४, राजेन्द्रनगर,
लखनऊ-४

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय

—डॉ० शोभा नाथ 'लाल'

महान देशभक्त और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पंडित मदनमोहन मालीवय के नाम से भला कौन अपरिचित होगा। उनके नाम के साथ 'महामना' का प्रयोग उचित ही है। महामना का अभिप्राय होता है– महान मन वाला। उनका महान मन सदा कल्याणकारी कार्यों में लगा रहा। शिक्षा, समाज सेवा, देशभक्ति और धर्म आदि के सभी क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया।

पं० ब्रजनाथ तथा मूना देवी के छः पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थीं। कुल आठ बच्चों में मदन मोहन पाँचवीं संतान थे। उनका जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ ई० को प्रयाग के मोहल्ला मालवीय नगर के एक छोटे से घर में हुआ था। इनके पूर्वज आजीविका की तलाश में मालवा छोड़कर यहाँ आ बसे थे। मालवा से सम्बन्धित होने के कारण ये लोग मल्लई कहलाते थे।

पं० मदनमोहन के पिता पं० ब्रजनाथ कथा–वाचक थे। वे गीता–भागवत की कथा सुनाते थे। राजा–महाराजाओं के यहाँ सम्मान प्राप्त था। पर आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं थी। इस कारण बच्चों की उच्च शिक्षा–दीक्षा नहीं हो सकी। किन्तु मदनमोहन इसके अपवाद निकले। उनमें प्रतिभा और लगन थी। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हरदेव गुरु की पाठशाला में हुई। परिवार बड़ा होने से घर पर पढ़ने का वातावरण नहीं था। इसलिए वह लालटेन लेकर अपने सहपाठी संकठा प्रसाद के यहाँ निकल जाया करते थे।

भारतीयता प्रेमी :

अंग्रेजी विद्यालयों में हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के विरुद्ध हो रहे प्रचार का विरोध

करने के लिए छात्र-जीवन में उन्होंने 'वाग्वर्धिनी सभा' की स्थापना की। जिन दिनों मदनमोहन म्योर सेंट्रल कॉलेज के छात्र थे, मिर्जापुर में संस्कृत विद्वानों की एक सभा आयोजित हुई थी। पन्द्रह वर्षीय मदनमोहन ने अपने तर्कयुक्त भाषण से सबको संतुष्ट कर दिया था। वहाँ के एक विद्वान पं० नन्दराम जी उनकी प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि कुछ समय बाद उनसे अपनी कन्या कुन्दनदेवी का विवाह कर दिया।

म्योर सेंट्रल कॉलेज के प्रधानाचार्य मिस्टर हैरिसन मदनमोहन की लगन और व्यवहार से बहुत खुश थे। इसी प्रकार संस्कृत के प्राध्यापक पं० आदित्यराम भट्टाचार्य ने भी इनकी साहित्यिक एवं कलात्मक अभिरुचियों को बहुत प्रोत्साहित किया।

मदनमोहन सफेद भारतीय वेशभूषा धारण करने में गौरव का अनुभव करते थे। सिर पर पगड़ी, गले में दुपट्टा, अचकन, धोती या चूड़ीदार पायजामा, हाथ में छड़ी और पावों में नागरा जूते वह हमेशा धारण करते थे।

म्योर सेंट्रल कालेज में वे पाठ्य पुस्तकों से बाहर के कामों में अधिक समय देने लगे थे। पढ़ने के लिए समय कम मिलता। फलतः १८८३ ई० की बी० ए० परीक्षा में वह अनुत्तीर्ण हो गये। इससे उन्हें बहुत दुख हुआ। किन्तु अगले वर्ष उन्होंने कलकत्ता से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

वह भाषण-कला और अभिनय-कला मे बड़े निपुण थे। नाटकों में पुरुष या महिला पात्रों की भूमिका बखूबी निभा लेते थे।

कुशल अध्यापक :

एम० ए० में नाम लिखा लेने के बाद भी वह अध्ययन जारी नहीं रख सके। यद्यपि वह अपने पिता की भाँति ही कथा प्रवचन करना चाहते थे, किन्तु आर्थिक दबाव के कारण माताजी के अनुरोध पर उन्होंने चालीस रुपये मासिक पर अध्यापक की नौकरी स्वीकार कर ली। उन्होंने अपना नाम मल्लई से बदलकर मालवीय कर लिया और मदनमोहन मालवीय के नाम से पहचाने जाने लगे। कुशल अध्यापन से उन्होंने अपने छात्रों पर अमिट छाप छोड़ी। उनके शिष्य उनके मृदु व्यवहार, कुशल शिक्षण एवं मधुर वाणी पर मुग्ध रहते थे।

१८८७ ई० में म्योर सेंट्रल कॉलेज को केन्द्र मानकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो उन्होंने हिन्दू छात्रों की सुविधा के लिए एक छात्रावास के निर्माण

का निश्चय किया। सन् १९०३ ई० में निर्मित मैकडॉनल हिन्दू छात्रावास मालवीय जी के प्रयास का फल है।

कांग्रेस अधिवेशन में :

मालवीय जी का जन्म १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के चार वर्षों बाद हुआ था। देश में स्वतन्त्रता की चिनगारी भीतर ही भीतर सुलग रही थी। इसी बीच भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की १८८५ ई० में स्थापना हुई। जब कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन १८८६ में कलकत्ता में हुआ तो संस्कृत प्राध्यापक पं० आदित्य राम भट्टाचार्य के साथ मालवीय जी भी वहाँ गये।

इस अधिवेशन में दिये गये मालवीय जी के ओजस्वी भाषण ने उनका नाम देश के कोने-कोने में फैला दिया। उस समय उनकी आयु बहुत कम और कद इतना छोटा था कि भाषण के समय कांग्रेस के संस्थापक मिस्टर ए० ओ० ह्यूम ने उन्हें कुर्सी पर खड़ा करवा दिया ताकि लोग उन्हें देख भी सकें। भाषण के दौरान लोगों ने २२ बार तालियाँ बजाकर उनका स्वागत किया।

सम्पादक :

कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह अपने अखबार 'हिन्दुस्थान' के लिए एक योग्य सम्पादक की तलाश में थे। उनके अनुरोध पर मालवीय जी अध्यापक की नौकरी छोड़कर जुलाई, १८८७ से 'हिन्दुस्थान' का सम्पादन करने लगे।

१८८९ ई० में कालाकांकर छोड़कर मालवीय जी फिर प्रयाग लौट आये और 'इण्डियन ओपनियन' नामक अखबार से जुड़ गये। १८९१ ई० में उन्होंने मित्रों की सलाह पर वकालत भी पास कर ली। मालवीय जी काशी में गंगा जी के तट पर हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का स्वप्न बुन रहे थे। वह धनहीन होने पर भी धुन के पक्के थे। उन्होंने अपने उद्देश्यों के प्रचारार्थ १९०७ ई० में साप्ताहिक 'अभ्युदय' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। निर्भीक एवं स्पष्ट विचारों के कारण इस पत्र को कई बार अंग्रेजी शासन से लोहा लेना पड़ा। 'अभ्युदय' के अतिरिक्त मालवीय जी ने 'लीडर', 'मर्यादा', 'सनातन धर्म', 'हिन्दुस्थान रिव्यू', 'इण्डियन पीपुल' तथा

'स्वराज्य' आदि पत्रों को सहयोग दिया।

कुशल वकील :

प्रयाग उच्च न्यायालय में दीवानी के अच्छे वकीलों में मालवीय जी की गिनती होती थी। उन्हें तिकड़म और वकालत के दाँवपेंच पसंद नहीं थे। अपने व्यवसाय के प्रति वह बड़े सजग और निष्ठावान थे। उन्हीं की प्रेरणा से सर तेज बहादुर सप्रू कानपुर से प्रयाग आये। वकालत के पेशे में उन्होंने अनेक कीर्तिमान स्थापित किये। विश्वविद्यालय के कार्यों में व्यस्तता के कारण उन्हें जहाँ 'अभ्युदय' का सम्पादन छोड़ना पडा, वकालत को भी तिलांजलि देनी पड़ गयी। लेकिन उन्होंने वकालत की प्रतिभा को २० वर्षों बाद एक बार पुनः दिखा दिया। ५ फरवरी, १९२२ ई० को क्रान्तिकारी देशभक्तों ने गोरखपुर के चौरीचौरा थाने में आग लगा दी थी जिसमें २१ सिपाही झुलस मरे। गोरखपुर के न्यायाधीश ने सवा दो सौ अभियुक्तों में से १७० को फाँसी की सजा दे दी थी। मामला प्रयाग उच्च न्यायालय में पहुँचा। कोई पैरवी करने को यहाँ भी तैयार नहीं था। मालवीय जी ने इस मुकदमे को अपने हाथों में ले लिया। उन्होंने १५० अभियुक्तों को छुड़ा लिया। मुख्य न्यायाधीश ने उनकी प्रशंसा की– 'सुन्दर रीति से इस मुकदमे की बहस पर आप को बधाई देता हूँ आपके अलावा कोई भी अन्य व्यक्ति इतनी अच्छी तरह से इस मुकदमे को प्रस्तुत नहीं कर सकता था।' एक वकील के लिए इससे बढ़कर कोई अन्य सम्मान क्या हो सकता था।

मालवीय जी की गाय की सेवा में बड़ी निष्ठा थी। हिन्दू धर्म के शास्त्रीय विधि–विधान के प्रति वह आजीवन समर्पित रहे। लेकिन उनकी धार्मिक दृष्टि कभी भी सांप्रदायिक या संकुचित नहीं रही।

हिन्दू जागरण और समाज सुधार के लिए उन्होंने अनेक कार्य किये। उनका हिन्दुत्व 'वसुधैव कुटुम्बकम् ' की उदार भावना से परिपूर्ण था। एक बार हिन्दू विश्वविद्यालय में कहारों द्वारा बर्तन साफ न किये जाने पर आग बबूला हो युवा जगजीवन राम मालवीय जी के पास पहुँचे। अपनी सुना लेने के बाद उन्होंने मालवीय जी से प्रश्न किया– 'कौन हमारे बर्तन साफ करेगा?'

उत्तर मिला– 'मैं'। उनकी शालीनता पर जगजीवन राम ने दाँतों तले अंगुली दबा ली। मालवीय जी परिगणितों को मंत्र और यज्ञोपवीत देने के पक्षधर थे। इसी कारण

उन पर एक बार प्राण घातक हमला भी किया गया था।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय :

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी की अनुपम कृति है। इसका शिलान्यास बसंत पंचमी के दिन ४ फरवरी, १९१६ ई० को हुआ था। इसके निर्माण के लिए उन्हें भारत में घूम-घूम कर योग्य दाताओं के सम्मुख झोली फैलानी पड़ी थी।

मालवीय जी न केवल वेशभूषा में अपितु आचरण, विचार, दर्शन में भी भारतीय थे। वह अपने विद्यार्थियों को सदा व्यायाम तथा आचरण की शुद्धता की शिक्षा देते थे। समाज का कोई वर्ग उपेक्षित रहे, उन्हें सह्य नहीं था। दलितों के उत्थान के लिए उन्होंने अनेक कार्य किये। वह महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम के पक्षधर थे। परन्तु वह इस समस्या का निराकरण कानून बनाकर नहीं, लोगों के दिलों को बदलकर उन्हें समझा-बुझाकर करना चाहते थे। हरिजन बस्तियों में घूम-घूमकर उन्होंने बुराइयों को त्यागने पर बल दिया।

प्रथम कोटि के देशभक्त :

मातृभूमि की सेवा में मालवीय जी किसी से कम नहीं थे। देशभक्त राजनीतिज्ञों की अग्रिम पंक्ति में उनकी गणना होती थी। सभी नेता उनका आदर करते थे।

कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन १८८७ ई० में मद्रास में हुआ। यहाँ उनके भाषण ने कांग्रेस पार्टी में उनकी साख जमा दी। अगली बार प्रयाग कांग्रेस अधिवेशन १८८८ के लिए मालवीय जी को ही स्वागत समिति का मंत्री बनाया गया। उनकी अद्भुत संगठन-क्षमता के कारण ही पुनः प्रयाग में १८९२ में कांग्रेस-अधिवेशन का पूरा भार मालवीय जी को सौंपा गया।

विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया था। ब्रिटिश सरकार इसे कुचल देना चाहती थी। मालवीय जी विधान सभा में इसके परिणामों के लिए सरकार को सचेत करते रहे। उन्होंने प्रयाग तथा अन्य जगहों पर स्वेदेशी औद्योगिक केन्द्र खोलने के प्रयास किये। १९०९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन और १९१८ के दिल्ली अधिवेशन की अध्यक्षता मालवीय जी ने ही की थी।

आगे चलकर उन्होंने डॉ० एनी बेसेण्ट के साथ होमरूल आन्दोलन का झंडा उठा

लिया। १९१९ में उन्होंने पूरी शक्ति से रौलट बिल का विरोध किया। १९२० में गाँधी जी द्वारा असहयोग आन्दोलन की घोषणा पर हिन्दू विश्वविद्यालय के अनेक छात्र भी परीक्षाएँ छोड़कर बाहर आ गये थे।

१ अगस्त, १९३० ई० को बम्बई में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की पुण्य तिथि मनायी जा रही थी। जुलूस निकला। अन्य नेताओं के साथ मालवीय जी भी गिरफ्तार हो गये। उन्हें २०० रुपये का जुर्माना या १५ दिन की कारागार की सजा मिली। हिन्दू विश्वविद्यालय के सैकड़ों छात्र उन्हें छुड़वाने के लिए बम्बई जा पहुँचे। किसी अज्ञात व्यक्ति के द्वारा जुर्माना जमा कर दिये जाने के कारण मालवीय जी पहले ही छोड़ दिये गये थे। पर उन्हें इस बात की ग्लानि अवश्य रही कि किसी ने जुर्माना क्यों जमा कर दिया।

देश की स्वतन्त्रता के लिए वह कुछ भी बलिदान करने को तैयार रहते थे। रहन-सहन की असुविधा के कारण विदेश नहीं जाना चाहते थे। परन्तु गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए गाँधी जी के साथ वह २९ अगस्त, १९३१ को इंग्लैंड भी गये। भारत लौटने के पश्चात् उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम किया। प्रयाग में हिन्दू-मुस्लिम सम्मेलन हुआ। इससे आपसी कटुता दूर करने में मदद मिली। केरल के हरिजनों की समस्याएँ हल करने में उन्होंने सहयोग दिया।

१९४२ ई० के 'भारत छोड़ा' आन्दोलन में हिन्दू विश्वविद्यालय और उसके संस्थापक की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सरकार ने छात्रों पर बड़े जुल्म ढाये। गाँधी जी गिरफ्तार कर लिये गये थे। मालवीय जी प्रायः ८१ वर्ष की आयु में शरीर से जर्जर हो गये थे। फिर भी उन्होंने ललकार कर ब्रिटिश सरकार को चुनौती दी और कहा 'गाँधी जी ने अपने आरोप-पत्र का जो स्पष्टीकरण दिया है, सरकार उसका उत्तर दे या गाँधी जी को तत्काल रिहा करे।'

मालवीय जी को पहली बार १९०३ में विधान परिषद का सदस्य नामित किया गया था। नामित सदस्यों से सरकारी नीतियों के समर्थन की अपेक्षा की जाती थी। पर उन्होंने कई बार अपने भाषणों में सरकारी नीतियों की खुलकर निन्दा की। वह १९२० तक इसके सदस्य रहे। प्रयाग नगर पालिका के सदस्य के रूप में भी वह जनता की सेवा कर चुके थे।

१९१८ ई० में प्रयाग में स्काउट ऐसोसिएशन की स्थापना की गयी थी। मालवीय

जी इसके चीफ स्काउट और पं० हृदयनाथ कुंजरू चीफ स्काउट कमिश्नर बनाये गये। मालवीय जी की प्रेरणा और सहयोग से इस आन्दोलन को नयी दिशा मिली। स्काउटों में संकेत से बातें करने के लिए एक विधि विकसित की गयी जिसका 'ममोमा' नाम मदन मोहन मालवीय के प्रथमाक्षरों को मिला कर बना।

मालवीय जी का पारिवारिक जीवन भरापूरा और सुखी था। उनके चार पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं। छोटे पुत्र गोविन्द मालवीय ने स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय भाग भी लिया। पिता के स्वर्गवास के बाद वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे।

सर्वश्रेष्ठ हिन्दू :

अफ्रीका से भारत लौटने पर १९१५ ई० में महात्मा गाँधी का सम्पर्क मालवीय जी से हुआ था। गाँधी जी ने लिखा है, 'मैं उन्हें ऐसा सर्वश्रेष्ठ हिन्दू मानता हूँ जो अत्यन्त आचारवान होते हुए भी विचारों से बड़े उदार हैं। द्वेष तो वह किसी से कर ही नहीं सकते।.........काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर मैं उनके जीवन की सरलता की झाँकी प्राप्त कर पाया था।..........उन्होंने बड़ी लम्बी अवधि तक मातृभूमि की ऐसी अनवरत सेवा की है जिसका हम में से बहुत कम लोग दम्भ कर सकते हैं।'

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के एक सदस्य कर्नल वेजवुड ने उनके बारे में ठीक ही कहा था– 'सारा यूरोप भली भाँति जानता है कि भारतीय शिक्षा–क्षेत्र मालवीय जी का कितना ऋणी है। मैंने आज तक कोई ऐसा दूसरा शिक्षा संस्थान नहीं देखा जो मुख्यतः एक ही व्यक्ति की कृति है।'

मालवीय जी अनेक वर्षों तक हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति रहे थे। उनका नश्वर शरीर यद्यपि १२ नवम्बर, १९४६ ई० को छूट गया तथापि वह अपने कार्यों और गुणों से युगों तक प्रेरणा देते रहेंगे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर स्थापित विशाल प्रतिमा हमें सदा भारत माँ के इस सपूत की याद दिलाती रहेगी।

राजकमल लॉज,
जगदीशपुर,
बलिया–२७७ ००१

स्वामी विवेकानन्द

—डॉ० प्रसाद 'निष्काम'

दुनिया में हर क्षण कितने लोग जन्म लेते हैं, कितने मरते रहते हैं। उन सब का नाम भी हम नहीं जानते। सभी लोग अपने लिए जीते हैं और अपने लिए ही मरकर चले जाते हैं। उन्हें कौन याद करे। याद तो हम उन्हीं को करते हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं और सारी दुनिया को नेक रास्ता दिखा जाते हैं। वे सचमुच हम लोगों की तरह साधारण पुरुष नहीं होते, बल्कि हम तमाम दुनियादार लोगों से ऊपर असाधारण महापुरुष कहलाते हैं। उन्हें साधु-संत-महात्मा या स्वामी कुछ भी कहकर श्रद्धापूर्वक याद किया जाता है। ऐसे ही असाधारण महापुरुष थे, स्वामी विवेकानन्द।

सारी दुनिया के लोगों को समभाव से देखने वाले स्वामी विवेकानन्द के कर्म-धर्म को शिकागो (अमेरिका) के सर्व-धर्म-सम्मेलन में सारे सभ्य-संसार ने जाना-पहचाना। स्वामी जी की जन्मभूमि भारत के लिए भी उनके दिलों में मानवीय-समता की कसक पैदा हुई। ऐसा अद्‌भुत चमत्कार स्वामी जी के अलावा और कर भी कौन सकता था।

बचपन :

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ फरवरी १८६३ ई० को कलकत्ता के शिमला मोहल्ले में हुआ था। उनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था। उनके पिता श्री विश्वनाथ अपने समय के बड़े प्रसिद्ध वकील थे। माँ भुवनेश्वरी देवी बड़ी सात्विक और धार्मिक विचारों की महिला थीं।

नरेन्द्र बचपन से ही बड़े निर्भीक स्वभाव के थे। अच्छी तरह से परीक्षा लिये बिना वे किसी बात को मानने के लिए तैयार नहीं होते थे। उनके एक पड़ोसी ने उन्हें डराने के लिए कहा कि इस पेड़ में ब्रह्मराक्षस रहता है। नरेन्द्र ने दिन भर उस पेड़े पर लटक कर सिद्ध कर दिया कि यह कोरा अंधविश्वास है। उनकी

स्मृति भी बहुत तेज थी। एक बार पढ़ी या सुनी बात उन्हें याद हो जाती थी।

आरम्भ में नरेन्द्र की शिक्षा घर पर हुई। बाद में उन्होंने मैट्रोपोलियन स्कूल से हाईस्कूल और स्काटिशवर्च कॉलेज से बी० ए० किया। विज्ञान, गणित भारतीय और पश्चिमी दर्शन तथा भाषा उनके प्रिय विषय थे। उनकी काव्य और संगीत में भी गहरी रुचि थी। वे कम समय में ही अपना अध्ययन पूरा करके व्यायाम और खेल-कूद में लग जाते।

परमहंस के सम्पर्क में :

नरेन्द्र की दर्शन में बड़ी रुचि थी। जिज्ञासु तो थे ही। जब भी कोई साधु-संन्यासी मिलता उससे पूछते- क्या आपने कभी भगवान को देखा है। परंतु संतोषजनक उत्तर कभी न मिलता। उन दिनों रामकृष्ण परमहंस की बड़ी ख्याति थी। १८८० ई० में एक मित्र के घर पर नरेन्द्र ने प्रथम बार परमहंस के दर्शन किये। उनके साधारण व्यक्तित्व का पहले पहल नरेन्द्र पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु नरेन्द्र के अंदर जो दैवी शक्ति थी, भला परमहंस से वह कैसे छिपी रहती। नरेन्द्र ने वहाँ पर एक भजन गाया। भजन समाप्त होते ही रामकृष्ण परमहंस बोले- 'मैं तुम्हें पहचान गया हूँ। तुम्हारे लिए मेरी आत्मा कितनी तरसती रही। तुम बड़े निर्दयी हो। अब तुम्हें मेरे साथ दक्षिणेश्वर चलना ही होगा।'

इस प्रकार नरेन्द्र परमहंस के सम्पर्क में आये और दक्षिणेश्वर जाने लगे। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने गुरु की भी अच्छी तरह से परीक्षा ली। एक दिन रामकृष्ण परमहंस से पूछा- 'क्या आपने ईश्वर को देखा है।'

परमहंस ने उत्तर दिया-'हाँ, ठीक वैसे ही जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुमसे बाते कर रहा हूँ। अगर कोई सच्चे हृदय से भगवान के लिए रोये तो वह अवश्य भगवान को प्रत्यक्ष पा सकेगा।'

गुरु की परीक्षा :

नरेन्द्र ने सुना था कि परमहंस रुपये-पैसे के स्पर्श से भी दूर रहते हैं। इसकी परीक्षा के लिए उन्होंने एक दिन स्वामी जी के बिस्तर के नीचे चाँदी का एक सिक्का छिपा कर रख दिया। परमहंस जब उस बिस्तर पर बैठे तो चौंक कर ऐसे उछल

पड़े जैसे जल गये हों। अब तो नरेन्द्र की उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती गयी। परमहंस भी उसे अपने अधिक से अधिक निकट लेने लगे। वे उनके प्रश्नों का हँस-हँस कर उत्तर देते और कहते कि नरेन्द्र जैसा लड़का एक और कहीं भी नहीं है।

नरेन्द्र ने बी० ए० की परीक्षा पास की ही थी कि अचानक हृदयगति रुक जाने से पिता का देहान्त हो गया और छोटे भाई-बहनों को पालने की समस्या आ खड़ी हुई। भटकने के बाद छोटा-मोटा काम मिला भी तो उससे परिवार की गाड़ी कैसे चलती। एक दिन उसने अपने घर की दशा क्री चर्चा करते हुए परमहंस से कहा- 'गुरुदेव मेरी माता और मेरे भाई-बहनों के भरण-पोषण की उचित व्यवस्था के लिए आप माँ काली से प्रार्थना कर दीजिये।' इस पर रामकृष्ण बोले- 'तू स्वयं क्यों नहीं मांग लेता? सच्ची निष्ठा से किये अनुरोध को माँ कभी ठुकरायेगी नहीं।' नरेन्द्र माँ काली की मूर्ति के सामने जा बैठा। लेकिन उन पर यह प्रभाव पड़ा कि काली माँ से और कुछ न माँग कर उन्होंने ज्ञान माँगा, वैराज्ञ माँगा और भक्ति माँगी। इसके कुछ दिन बाद नरेन्द्र को एक विद्यालय में अध्यापक्र का काम मिल गया और परिवार की दशा सुधरने लगी।

परमहंस के उत्तराधिकारी :

रामकृष्ण परमहंस नरेन्द्र नाथ को अपना उत्तराधिकारी मानते थे। उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। अपनी मृत्यु से तीन-चार दिन पूर्व उन्होंने नरेन्द्र को अपने पास बुलाया। वे कुछ देर अपलक उन्हें देखते रहे। फिर वे ध्यान में लीन हो गये। सामने बैठे नरेन्द्र ने अनुभव किया कि वे भी परमहंस की ओर खिंच रहे हैं। थोड़ी देर बाद समाधि से जागने के बाद उन्होंने कहा- 'आज मैंने अपना सब कुछ तुझे दे दिया है। मैं निरा कंगाल हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है। इस शक्ति से तू संसार का बहुत सा हित कर सकेगा और यह शक्ति कभी समाप्त नहीं होंगी।'

१५ अगस्त १८८६ ई० को रामकृष्ण परमहंस की जीवन लीला समाप्त हुई। नरेन्द्र नाथ ने संन्यास ले लिया। वे विवेकानन्द कहलाये। मानव मात्र की सेवा का व्रत लेकर उन्होंने १८८८ में देश का भ्रमण किया। कलकत्ता से द्वारका तक और

हिमालय से कन्याकुमारी तक सभी प्रसिद्ध स्थानों में वे गये। उनके व्याख्यानों का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। जहाँ भी वे जाते उनका खुले हृदय से स्वागत होता।

अमेरिका में :

इसी बीच सूचना मिली कि सितम्बर १८९३ में अमेरिका के शिकागो शहर में एक सर्वधर्म सम्मेलन होने जा रहा है। पराधीन भारत के किसी प्रतिनिधि को उसमें आमंत्रित नहीं किया गया था। स्वामी विवेकानन्द ने अनुभव किया कि संसार को भारतीय धर्म और दर्शन से परिचित कराने का यह बहुत अच्छा अवसर है। वे शिकागो जाने के लिए तैयार हो गये। इसके लिए धन की व्यवस्था राजस्थान की उस समय की एक रियासत खेवड़ी के राजा अजीत सिंह ने कर दी। वे अमेरिका पहुँचे। किन्तु सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेना, वह भी बिना निमंत्रण के बहुत कठिन था। यह कठिनाई अमेरिका में उनसे प्रभावित लोगों की सहायता से दूर हो गयी। ११ सितम्बर १८९३ ई० को स्वामी जी को बोलने का अवसर दिया गया।

गेरुवा वस्त्रधारी, सिर पर साफा, गौरवर्ण, पुष्ट शरीर के स्वामी विवेकानन्द के पहले सम्बोधन से ही सारी सभा तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठी। दूसरे वक्ताओं से हटकर स्वामी जी ने कहा– 'अमेरिका वासी मेरे भाइयों और बहनों!'

अपने भाषण में उन्होंने विस्तार से भारतीय धर्म और संस्कृति की उदारता पर प्रकाश डाला। यह पहला अवसर था जब भारत की वाणी विश्व के कानों तक पहुँची। उनके भाषण का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि सारे अमेरिका में उनकी धूम मच गयी। जहाँ भी वे गये, उनका शानदार स्वागत हुआ। अब उनकी ख्याति विश्व भर में फैल गयी। कई विदेशी भी उनके शिष्य बन गये। इनमें इंग्लैण्ड की निवासी मार्गेट नोबल भी थीं। उन्होंने संन्यास ले लिया और सिस्टर निवेदिता के नाम से रामकृष्ण के बताये मार्ग पर दीन–दुखियों की सेवा में जीवन बिताया।

देशवासियों को संदेश :

१५ फरवरी १८८७ को स्वामी विवेकानन्द श्रीलंका के कोलंबो बंदरगाह पर उतरे। उसके बाद उन्होंने दक्षिण से उत्तर तक देश के अनेक स्थानो का भ्रमण किया।

विदेशों में उनकी सफलता से भारतवासियों में आत्मविश्वास लौट आया। वे देश को ऊपर उठाना चाहते थे। आगे बढ़ाना चाहते थे। वीरता और देशभक्ति उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनका कहना था- 'हे भारतीय लोगों तुम अपने को साहसी और निडर बनाओ। भारत के देव-देवियाँ मेरे लिए ईश्वर हैं। हे भारतीय वीर कहो कि भारत की भूमि मेरे लिए स्वर्ग से भी अच्छी है। मेरे देश का जब तक एक कुत्ता भी भूखा है, तब तक उसको भोजन खिलाना ही मेरा धर्म है।'

वे शरीर को बलवान बनाने पर जोर देते थे। एक बार एक दुबले लड़के से उन्होंने कहा था- 'पहले मैदान में जाकर फुटबाल खेलो। शरीर से सबल होने के बाद गीता पढ़ना। आलस्य को वे सबसे बड़ा शत्रु मानते थे। ऊँच-नीच की भावना उनको छू भी नहीं गयी थी। उनका कहना था कि सिंहासन पर बैठा राजा जैसा श्रेष्ठ है, सड़क पर झाड़ू लगाने वाला भी वैसा ही है। वे केवल अपनी मुक्ति चाहने वाले संन्यासी नहीं थे। वे कहते थे कि सब को मुक्त करने के लिए यदि मुझे लाख बार भी नरक भोगना पड़े तो मैं इसके लिए तैयार हूँ। वे बार-बार कहा करते थे- जननी मैं मुक्ति नहीं चाहता, तुम्हारी सेवा ही मेरा एक मात्र धर्म है, कर्म है।

विवेकानन्द ने कलकत्ता के निकट बेलूर नामक स्थान में अपना मठ बनाया। यहीं पर उन्होंने अपने गुरु की स्मृतियों में दीन-दुखियों की सेवा के लिए 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। यह मिशन तब से बराबर जन सेवा का काम कर रहा है। देश भर में और विदेशों में भी इसकी बहुत सी शाखाएँ हैं।

निरंतर परिश्रम करने का प्रभाव स्वामी जी के स्वास्थ्य पर पड़ा और ४ जुलाई १९०२ ई० को उन्होंने अंतिम समाधि ले ली। उनका शरीर आज नहीं है किन्तु देश को उठाने के लिए और दीन-दुखियों की सेवा के लिए उन्होंने जो कार्य किये उनके लिए वे सदा याद किये जायेंगे और लोगों के प्रेरणा स्रोत्र बने रहेंगे।

२बी, न्यू सरस्वती नगर,
बलकेश्वर, आगरा।

●

लाला लाजपत राय

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

'पंजाब केसरी' लाला लाजपत राय महान देशभक्त, समाज-सुधारक, विद्वान, लेखक और पत्रकार, प्रभावशाली वक्ता तथा निर्भीक राष्ट्र नेता थे। एक समय भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में तीन नेताओं का बहुत ऊँचा स्थान था। ये थे महाराष्ट्र के लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बंगाल के विपिन चन्द्र पाल और पंजाब के लाला लाजपत राय। इन तीनों के विचार एक से थे। नरम दल की राजनीति इनको पसंद नहीं थी। 'लाल-बाल-पाल' नाम से प्रसिद्ध इस मंडली ने देश को नयी दिशा दी और उसे स्वतन्त्रता के मार्ग में कई पग आगे बढ़ाया।

लाला लाजपत राय का जन्म २८ फरवरी १८६५ ई० को पंजाब के फीरोजपुर जिले के ढुडिके नामक स्थान में अपने नाना के घर हुआ था। उनके पिता लाला राधा कृष्ण अग्रवाल अध्यापक थे। वे उर्दू के अच्छे लेखक भी थे तथा स्वामी दयानंद सरस्वती के विचारों से प्रभावित थे। धर्म भीरु माता और पिता के विचारों का पूरा प्रभाव बालक लाजपत पर बचपन में ही पड़ गया था। पिता चाहते थे कि बालक बड़ा होकर अपना जीवन दीन-दुखियों की सेवा में लगाये। लाजपत राय ने उनकी यह अभिलाषा पूरी की।

लाजपत राय कुशाग्र बुद्धि के छात्र थे। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने उर्दू में लेख लिखना तथा भाषण देना आरम्भ कर दिया था। वकालत पास करने के बाद उन्होंने पहले १८८६ ई० में हिसार में वकालत शुरू की। थोड़े समय में ही उनकी गणना सफल वकीलों में होने लगी। १८९२ ई० में वे लाहौर आ गये और वहीं प्रैक्टिस करने लगे। परन्तु उनके जीवन का उद्देश्य केवल धन कमाना नहीं था। उनका अधिक से अधिक समय और पैसा आर्य समाज के द्वारा समाज सेवा के कार्यों में लगने लगा।

समाज सुधारक :

छुआछूत को मिटाना आर्य समाज का मुख्य काम था। लाला लाजपत राय ने

इसमें आगे बढ़कर भाग लिया। समाज के इतने बड़े हिस्से को अछूत समझा जाय, यह उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। इस कलंक को मिटाने के लिए उन्होंने समस्त उत्तर भारत तथा विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिलों में काम किया। आर्य समाज के स्कूलों और गुरुकुलों में बिना किसी भेदभाव के हरिजन छात्रों के प्रवेश की व्यवस्था की। इस वर्ग में शिक्षा का प्रसार करने के लिए अपने पास से चालीस हजार रुपए का दान दिया। अनाथों और पीड़ितों के प्रति उनके हृदय में बड़ी सहानुभूति थी। ऐसे लोगों के लिए उनके प्रयत्न से अनेक अनाथालय खोले गये।

सन् १८९६ और १९०८ ई० के बीच उत्तर भारत में कई बार अकाल पड़े। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, राजस्थान, मध्यप्रदेश सभी इसकी चपेट में आ गये। लाखों आदमी भूखों मरने लगे थे। लाला लाजपत राय ने अपनी वकालत छोड़ दी और अकाल पीड़ितों की सहायता के काम में जुट गये। अकाल के कारण बहुत से बच्चे अनाथ हो गये थे। ईसाई पादरी अकाल पीड़ितों की सहायता के नाम पर इन बच्चों का धर्म परिवर्तन कर रहे थे। लालाजी ने इसका जोरदार विरोध किया।

डी० ए० वी० कॉलेज की स्थापना :

अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी उस समय की शिक्षा के प्रति भी उनके मन में बड़ा असंतोष था। उन स्कूलों में भारतीय संस्कृति की उपेक्षा होती थी और भारतीय इतिहास तोड़-मरोड़ कर पढ़ाया जाता था। लाला लाजपत राय ने अपने मित्र लाला हंसराज के सहयोग से लाहौर में एक कॉलेज खोला। इसका नाम था 'दयानंद एंग्लो वैदिक कॉलेज'। इसके लिए किसी प्रकार की सरकारी सहायता नहीं ली गयी। लाला लाजपत राय के प्रयत्नों से पर्याप्त धन एकत्र हो गया। इस विद्यालय की शिक्षा-पद्धति इतनी लोकप्रिय हुई कि एक के बाद एक डी० ए० वी० कॉलेज खुलने लगे और आज भी वे शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं।

समाज सुधारक, शिक्षा शास्त्री और दीन-दुखियों के सहायक के रूप में लाला लाजपत राय देश भर में प्रसिद्ध हो गये थे। तब तक वे राजनीति के क्षेत्र में नहीं आये थे, किन्तु उनके क्रान्तिकारी विचार लोगों के सामने आ चुके थे। उनका कहना था कि धर्म ठीक विचार है, सही अनुभव है और उचित कार्य है। जो धर्म वर्तमान

सामाजिक ढाँचे को कर्मों के आधार पर नहीं बताये और जायदाद, विरासत तथा विवाह के कानून की बाबत प्रचलित विचारों के पक्ष ले, यह धर्म झूठा है।

अपने उर्दू दैनिक 'वंदेमातरम्' में उन्होंने एक बार लिखा था– 'मेरा मजहब हकपरस्ती है, मेरी मिल्लत कौमपरस्ती है, मेरी इबादत खलकपरस्ती है, मेरी अदालत मेरा अंतःकरण है, मेरी जायदाद मेरी कलम है, मेरा मंदिर मेरा दिल है और मेरी उमंगें सदा जवान हैं।'

कांग्रेस के नेता :

कांग्रेस के समाज सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम के कारण लाला जी इस संगठन की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने पहली बार १८८८ ई० में कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में भाग लिया। इस अवसर पर उनका भाषण इतना जोशीला था कि नेता और दर्शक सभी आश्चर्य चकित रह गये। ऐसा स्वर कांग्रेस में पहली बार सुनायी दिया था। उनके आ जाने से कांग्रेस के अन्दर गरम विचार वालों की शक्ति बढ़ती गयी। १९०५ ई० में गोपाल कृष्ण गोखले के साथ वे इंग्लैंड गये। इस यात्रा का उद्देश्य ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्यों को भारत की स्थिति सुधारने के लिए प्रेरित करना था। उन्होंने अनेक भाषण दिये, वहाँ के पत्रों में लेख लिखे। पर साम्राज्यवादी ब्रिटेन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। लालाजी यह विश्वास लेकर स्वदेश लौटे कि भारतवासियों को अपने उद्धार के लिए स्वयं समर्थ होना पड़ेगा। स्वराज्य भीख माँगने से नहीं मिलेगी। यहीं से 'लाल–बाल–पाल' की मंडली देश को जगाने के लिए अपनी पूरी शक्ति से जुट गयी।

लालाजी की बढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रभाव को देखकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके मांडले (बर्मा) की जेल में बन्द कर दिया। लाजपत राय १८ महीने वहाँ रहे। इस अवधि में उन्होंने अनेक पुस्तकें लिख डालीं जिनमें 'महान अशोक', 'श्री कृष्ण और उनकी शिक्षा' तथा 'छत्रपति शिवाजी' विशेष प्रसिद्ध हुईं।

विदेश में रहने को बाध्य :

मांडले से छूटने के बाद लालाजी ने वकालत छोड़ दी और पूरा समय देश सेवा के काम में लगाने लगे। १९१४ ई० में कांग्रेस के एक प्रतिनिधि मंडल के साथ आप पुनः इंग्लैंड गये। वहाँ से आपने जापान की यात्रा की। इसी बीच विश्व युद्ध

आरंभ हो चुका था। ब्रिटिश सरकार ने लालाजी के भारत लौटने पर रोक लगा दी। ऐसी स्थिति में उन्हें युद्ध की समाप्ति तक अमेरिका जाकर रहना पड़ा। अमेरिका में भी वे बहुत सक्रिय रहे। उन्होंने वहाँ 'इंडियन होमरूल' तथा 'इंडियन इनफार्मेशन' नाम की दो संस्थाएँ बनायीं, 'यंग इंडिया' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला, कई पुस्तकों की रचना की और इन सबके द्वारा भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में जनमत तैयार करते रहे।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जिस समय लाला जी स्वदेश लौटे, गाँधी जी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता आन्दोलन में तेजी आ चुकी थी। देश ने खुले हृदय से लालाजी का स्वागत किया। १९२० ई० में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के आप सर्व सम्मति से अध्यक्ष चुने गये। इसके कुछ समय बाद ही गिरफ्तार करके पुनः उन्हें जेल में डाल दिया गया। इस जेल यात्रा का उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और वे क्षय रोग से पीड़ित होकर ही बाहर निकले। किन्तु इससे उनकी कर्मठता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

लोक सेवक मण्डल की स्थापना :

लालाजी चाहते थे कि जो युवक अपना पूरा समय देश-सेवा के लिए देना चाहते हैं, उनको परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता से मुक्त करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने 'सर्वेंट आफ दि पीपुल' या 'लोक सेवक मंडल' नामक संस्था बनायी। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, श्री लाल बहादुर शास्त्री आदि इस मंडल की सहायता से ही अपना संपूर्ण जीवन देश सेवा के कार्यों में लगा सके।

अंग्रेजों के षडयन्त्र से अमेरिका की मिस मेयो नाम की एक महिला ने भारत के सम्बन्ध में एक बहुत ही गंदी पुस्तक लिखी थी। गाँधीजी ने इस पुस्तक को गंदे नाले के इन्पसेक्टर की रिपोर्ट कहा था। लाला जी ने 'अनहैपी इंडिया' नामक पुस्तक लिखकर इसका मुँह तोड़ उत्तर दिया।

सन् १९२३ में लाला लाजपत राय भारतीय विधान सभा के सदस्य चुने गये थे। अपने प्रभावशाली भाषणों द्वारा उन्होंने वहाँ भी अपनी अमिट छाप छोड़ी।

देश के लिए बलिदान :

सन् १९२८ ई० में बिटिश सरकार ने भारत के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए

'साइमन कमीशन' यहाँ भेजा था। देश भर में इस कमीशन का विरोध हुआ। कमीशन के सदस्य जिस दिन लाहौर पहुँचे, वहाँ भी उनके विरोध के लिए प्रदर्शन आयोजित किया गया था। लाला लाजपत राय बीमार होते हुए भी इस प्रदर्शन का नेतृत्व करने के लिए आगे आये। साइमन के आने पर ज्यों ही प्रदर्शनकारियों ने विरोध में काले झंडे दिखाये, पुलिस बौखला उठी। लोगों पर अंधा धुंध लाठियाँ पड़ने लगीं। लाला जी को खास तौर से निशाना बनाया गया। उनके कंधों और छाती पर अनेक लाठियाँ पड़ीं। गाँधी जी के अहिंसक विचारों का इतना प्रभाव था कि लोग पिटते रहे, किसी ने अपनी ओर से हाथ नहीं उठाया। उसके बाद एक सभा हुई। घायल अवस्था में ही लाला जी उसमें गये। अपने भाषण में उन्होंने कहा– 'मेरे शरीर पर पड़ी एक-एक चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कील बनेगी'।

लाला लाजपत राय का दुर्बल और रोगी शरीर लाठियों की इतनी मार को कहाँ सह पाता? उनकी छाती सूज गयी और बुखार रहने लगा। अंत में १७ नवम्बर १९२८ ई० को उन्होंने सदा के लिए आँखें बन्द कर ली। देश के लिए बलिदान होने वालों की तालिका में एक महत्त्वपूर्ण नाम और जुड़ गया।

२३४, राजेन्द्रनगर,
लखनऊ-४

●

महर्षि अरविंद

—डॉ० रामप्रसाद मिश्र

भारत ने संसार को बहुत से अनमोल उपहार भेंट किये हैं। इनमें शून्य और दशमलव प्रणाली का महत्त्व सभी मानते हैं, जिनके कारण विज्ञान के विकास को बहुत बल मिला है। योग भी भारत का विश्व को महान उपहार है। उपनिषद्, गीता इत्यादि ग्रंथों में योग की चर्चा है। याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेताश्वतर, बुद्ध, पतंजलि, महावीर, नागार्जुन, शंकराचार्य, गोरखनाथ, रैदास, कबीर, नानक इत्यादि योगी भी थे, क्योंकि इन्होंने योग के विभिन्न रूपों का निरूपण किया है। आधुनिककाल में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रमण महर्षि, मुक्तानंद परमहंस, आचार्य रजनीश, महेश योगी इत्यादि ने अपने-अपने ढंग से योग पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है।

महर्षि अरविन्द घोष आधुनिक काल के एक अत्यंत महान योगी, विचारक और लेखक थे। उनका आदर सारे संसार ने किया। उन्होंने सामान्यतः संसार और विशेषतः भारत के लाखों प्रबुद्धजन, कवियों, लेखकों, नेताओं इत्यादि को प्रभावित किया। उनके कारण भारत का मान बढ़ा और मानवता का कल्याण हुआ। उनका पांडिचेरी स्थित आश्रम ऑरोविल विश्व का एक महान् योगतीर्थ बन गया है।

जीवन कथा :

महान योगी, दार्शनिक, लेखक और कवि अरविंद घोष का जन्म १५ अगस्त, १८७२ ई० को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष विख्यात चिकित्सक थे। वे यूरोपीय जीवन-पद्धति पर चलते थे तथा अपने पुत्र को आई० सी० एस० अधिकारी बनाना चाहते थे। उस समय सारे धनी-मानी और पढ़े-लिखे माता-पिता पुत्र के आई० सी० एस० होने के कल्पना किया करते थे। इसे जीवन को सबसे बड़ी सफलता माना जाता था। अधिकतर आई० सी० एस० अंग्रेज होते थे। पढ़ाई के लिए ब्रिटेन जाना पड़ता था। इसीलिए, अरविंद को एकदम अंग्रेजी साँचे में ढाला गया। बंगला मातृभाषा थी। पर उससे भी दूर रखने का यत्न किया

गया। जब बालक अरविंद सात साल के हुए तब इनके पिता इनको और इनके दो भाइयों को ब्रिटेन ले गये जिससे शिक्षा पूरी तरह विदेशी हो और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अथाह। बालक अरविंद मैंचेस्टर के एक अंग्रेज-परिवार के साथ रहे।

प्रतिभाशाली बालक :

छोटी सी आयु में ही अरविंद की प्रतिभा का प्रकाश फैलने लगा था। 'फाक्स फेमिली मैगजीन' में उनकी कविताएँ छपती थीं। आई० सी० एस० परीक्षा में उन्होंने उच्च अंक प्राप्त किये तथा लैटिन में कीर्तिमान स्थापित किया। किंतु घुड़सवारी की परीक्षा में रह गये। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि आई० सी० एस० अधिकारी न बन सके। किंतु इसके वास्तविक परिणाम महान् सिद्ध हुए। अरविंद के मन में देशभक्ति की आग धधक रही थी। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में अपार प्रेम था। उनकी शिक्षा सम्बन्धी योग्यता और उनकी बहुभाषा योग्यता की धाक जम चुकी थी। आई० सी० एस० अधिकारी के रूप में इन सब गुणों का सदुपयोग न हो पाता।

आदर्श शिक्षक :

भारत लौटने पर अरविंद बड़ौदा (बड़ोदरा) के महाराज के सम्पर्क में आये तथा वहाँ कालेज में १८९५ से १९०० ई० तक प्रोफेसर का कार्य किया। महाराज उनसे बहुत प्रभावित थे। आचार्य के रूप में अरविंद बहुत लोकप्रिय रहे। वे भूमि पर सोते तथा भारी वेतन का अधिकांश भाग छात्रों को दे देते। वे शिक्षा को सांसारिक उन्नति का साधन मात्र न मानकर उसे आध्यात्मिक विकास के ध्येय से भी जोड़ते थे। शिक्षा केवल रोटी-रोजी के लिए नहीं होती, उसका असली उद्देश्य मन और आत्मा का विकास और बोध कराना है।

देश वापस आने के बाद अरविंद के अंदर भारतीयता की भावना और भी जागने लगी। उन्होंने अनेक भारतीय भाषाएँ सीखीं और भारतीय साहित्य का गहन अध्ययन किया। इससे उनके विचार देश की सांस्कृतिक परम्परा से जुड गये। मृणालिनी देवी के साथ उनका विवाह पूर्ण सनातनी विधि से हुआ था। इस अध्ययन का एक परिणाम यह हुआ कि उनकी योग में रुचि बढ़ती गयी और वे योगाभ्यास करने लगे।

प्रखर देशभक्त :

अरविंद एक महान देशभक्त थे। भारत में ही नहीं अपितु ब्रिटेन में भी वे भारत

महर्षि अरविंद

—डॉ० रामप्रसाद मिश्र

भारत ने संसार को बहुत से अनमोल उपहार भेंट किये हैं। इनमें शून्य और दशमलव प्रणाली का महत्त्व सभी मानते हैं, जिनके कारण विज्ञान के विकास को बहुत बल मिला है। योग भी भारत का विश्व को महान उपहार है। उपनिषद्, गीता इत्यादि ग्रंथों में योग की चर्चा है। याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेताश्वतर, बुद्ध, पतंजलि, महावीर, नागार्जुन, शंकराचार्य, गोरखनाथ, रैदास, कबीर, नानक इत्यादि योगी भी थे, क्योंकि इन्होंने योग के विभिन्न रूपों का निरूपण किया है। आधुनिककाल में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रमण महर्षि, मुक्तानंद परमहंस, आचार्य रजनीश, महेश योगी इत्यादि ने अपने-अपने ढंग से योग पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है।

महर्षि अरविन्द घोष आधुनिक काल के एक अत्यंत महान योगी, विचारक और लेखक थे। उनका आदर सारे संसार ने किया। उन्होंने सामान्यतः संसार और विशेषतः भारत के लाखों प्रबुद्धजन, कवियों, लेखकों, नेताओं इत्यादि को प्रभावित किया। उनके कारण भारत का मान बढ़ा और मानवता का कल्याण हुआ। उनका पांडिचेरी स्थित आश्रम ऑरोविल विश्व का एक महान् योगतीर्थ बन गया है।

जीवन कथा :

महान योगी, दार्शनिक, लेखक और कवि अरविंद घोष का जन्म १५ अगस्त, १८७२ ई० को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष विख्यात चिकित्सक थे। वे यूरोपीय जीवन-पद्धति पर चलते थे तथा अपने पुत्र को आई० सी० एस० अधिकारी बनाना चाहते थे। उस समय सारे धनी-मानी और पढ़े-लिखे माता-पिता पुत्र के आई० सी० एस० होने के कल्पना किया करते थे। इसे जीवन को सबसे बड़ी सफलता माना जाता था। अधिकतर आई० सी० एस० अंग्रेज होते थे। पढ़ाई के लिए ब्रिटेन जाना पड़ता था। इसीलिए, अरविंद को एकदम अंग्रेजी साँचे में ढाला गया। बंगला मातृभाषा थी। पर उससे भी दूर रखने का यत्न किया

जिसमें जेल के अनुभव विशेष रूप से सुनाये। उन्होंने प्रत्येक कार्य और प्रत्येक मनुष्य में नारायण के दर्शन की घोषणा की। यद्यपि अरविंद अध्यात्म में अधिकाधिक रुचि लेने लगे थे, तथापि १९१० ई० में अंग्रेजी सरकार ने उन्हें कलकत्ता छोड़ने का आदेश दिया। ४ अप्रैल, १९१० को अरविंद पांडिचेरी पहुँचे। यहाँ उनकी योगसाधना और लेखनसाधना ऐसी प्रभावी सिद्ध हुई कि वे देश-विदेश में विख्यात हो गये। २९ मार्च, १९१४ को फ्रांस से पधारी एक महिला-रत्न उनसे मिलीं। वे २४ अप्रैल १९२० से स्थायी रूप से आश्रम में बस गयीं। उन्हें मदर (माता) कहा गया। उनका भी आदर सारे संसार में हुआ।

५ दिसम्बर, १९५० को अरविंद ने समाधि ली। आज पांडिचेरी और ऑरोविल अरविंद के प्रतीक बन गये हैं। शिक्षा, क्रीड़ा, व्यायाम, ध्यान, उद्योग इत्यादि का समग्र रूप ऑरोविल की महान् विशेषता है।

महान लेखक एवं कवि :

अरविंद घोष एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे संस्कृत, बंगला, यूनानी, लैटिन, अंग्रेजी इत्यादि अनेक भाषाओं के विद्वान थे। उनकी धारण थी कि वेद में दर्शन, सामाजिक जीवन और विज्ञान के सर्वोच्च सत्य विद्यामन हैं। उन्होंने वेद-मन्त्रों में प्रतीकों पर गंभीर प्रकाश डाला है। वे वेद को सनातन ग्रंथ मानते हैं तथा उपनिषदों के दर्शन (वेदांत-दर्शन या अद्वैतवाद) में वेद के दर्शन का निर्वाह ही देखते हैं। वे वेद, उपनिषद् और पुराण में भारी अंतर मानने वाले विद्वानों से एकदम अलग हैं तथा इनमें मूलभूत एकता के दर्शन करते हैं। गीता पर उनकी व्याख्या को जय प्रकाश नारायण जैसे प्रसिद्ध नेता ने सर्वोत्तम माना है। भारत के अंग्रेजी ग्रंथकारों एवं कवियों में वे सर्वोच्च हैं। श्री विश्वनाथ एस० नरवणे के अनुसार, "आधुनिक भारत के इतिहास में एक कवि, दार्शनिक एवं रहस्यवादी के रूप में श्री अरविंद का स्थान सर्वोच्च महत्त्व का है।" उन्होंने जो अंग्रेजी ग्रंथ रचे, उनमें गद्य में 'लाइफडिवाइन' (दिव्यजीवन) एवं पद्य में सावित्री (महाकाव्य) सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। 'एसेज ऑन गीता' (दो भाग) एवं 'द सिंथीसिस ऑफ योग' (तीनभाग) उनके अन्य अमर ग्रंथ हैं। उन्होंने गीता में ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म सभी को महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग सभी को महत्त्व प्रदान करते हुए योग

की व्यापक व्याख्या की है। वेदों पर उनके महान विचार 'सीक्रेट ऑफ वेदाज' या 'वेद-रहस्य' (दो भाग) ग्रंथ में उपलब्ध हैं।

दिव्य जीवन :

योगी अरविंद ने 'दिव्य जीवन' नामक अमर ग्रंथ में मनुष्य के स्वयं को समझने पर पूर्ण एकता एवं पवित्रता से सम्पन्न जीवन से स्वर्ग की भूमि पर उतारा है। उनका मानना है कि योग से स्वर्ग का भूमिकरण या भूमि का स्वर्गीकरण सम्भव है। अरविंद ने दर्शनशास्त्र में मनोविज्ञान और विज्ञान का समन्वय भी किया है। हिंदी के महाकवि सुमित्रानन्दन पंत ने अरविंद के सान्निध्य में इसकी अनुभूति की थी। उनके 'उत्तरा', 'अतिमा' इत्यादि कविता संग्रह और 'लोकायतन' महाकाव्य अरविंद-दर्शन से प्रेरित होते हैं। अन्य अनेक कवियों और कवयित्रियों पर भी अरविंद का प्रभाव पड़ा है।

सावित्री :

सावित्री और सत्यवान की प्राचीन कथा को अरविंद ने अपने विशाल अंग्रेजी महाकाव्य 'सावित्री' में आध्यात्मिक प्रतीकों से सजाया है। सावित्री सत्यवान के साथ स्वर्ग में न रहकर पृथ्वी पर उतरने का हठ करती है। प्रतीक से अर्थ है कि स्वर्गोन्मुख मानवता की आध्यात्मिक पूर्णता पृथ्वी पर ही सम्पन्न होनी चाहिए। अरविंद का स्वर्ग पृथ्वी के लिए है, अरविंद का रहस्यवाद जीवन के लिए है। वे मनुष्य में छिपी महान् आत्मशक्ति को ध्यान के द्वारा प्रकट कर उदात्त जीवन साकार करते हैं।

हिंदी के कविवर 'दिनकर' कृत गीतिनाट्य 'उर्वशी' पर 'सावित्री' का कुछ प्रभाव पड़ा है- अरविंद की 'उर्वशी' कविता का तो पड़ा ही है।

एक क्रांतिकारी देशभक्त के रूप में जीवन को विकसित करने वाले अरविंद ने एक महान योगी, चिंतक और कवि की उच्चता प्राप्त की थी। उन्हें भारत के आध्यात्मिक चिंतन की महानता का बोध था और उस पर अटूट विश्वास भी। उनके

शब्द देखिये :—

'यह भारतवर्ष ही है जिसे निज से सारे संसार का भावी धर्म संप्रेषित करना है– सनातन धर्म जो समस्त धर्मों, विज्ञानों, दर्शनों को स्वीकृत करेगा तथा मानव मात्र को एक आत्मा का रूप प्रदान करेगा।

१४, सहयोग अपार्टमेंट
मयूर विहार–१
दिल्ली – ११० ०९१

●

सरदार बल्लभ भाई पटेल

—शारदा प्रसाद शर्मा 'शारदेन्दु'

कर जोड़ हृदय से करते हैं, हम पटेल को सादर वन्दन।

उनके हित शब्दों के अर्पित, सुमन-सुगन्धित अक्षत-चन्दन।।

आधुनिक भारत के कर्णधारों में पण्डित जवाहर लाल नेहरू की भाँति सरदार पटेल का भी राष्ट्रीय एकता और उसके निर्माण में बहुत बड़ा योगदान है। उन्हें लौहपुरुष के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। उनका व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक था। वह जीवन भर आजादी के लिए लड़ते रहे। भारत के करोड़ों किसानों और मजदूरों की गरीबी दूर करने का प्रयत्न तथा उनका सामाजिक उत्थान करने का भी प्रयास जीवन के अन्तिम क्षणों तक करते रहे। सरदार पटेल स्वयं एक किसान थे और किसानों की दयनीय दशा से वह भली-भाँति परिचित थे। इसलिए वह कृषकों के दुख-दर्द में सदा सहायक बने रहे।

पटेल एक साहसी, संजग सेनापति थे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति वह बड़ी निष्ठा, लगन, तत्परता और अनुशासित रहकर करते थे। उनकी कथनी-करनी में अन्तर नहीं था। किसी कार्य को करने में उतावलापन भी नहीं था। बिना सोचे-समझे वह किसी कार्य को नहीं करते थे। कर्त्तव्य-मार्ग पर आने वाली सभी कठिनाईयों का मुकाबला वह बड़े साहस एवं धैर्य से करते थे।

बचपन :

बल्लभ भाई पटेल का जन्म ३१ अक्टूबर, १८७५ को ननिहाल में हुआ था। इनके पिता का नाम झबेर भाई तथा माता का नाम लाड़बाई था। बल्लभ भाई का बचपन अपने माँ-बाप के साथ अपने गाँव में बीता। उन्होंने अपनी प्राथमिक शिक्षा अपने गाँव में ही प्रारम्भ की। वह प्रातःकाल अपने पिता के साथ खेतों में जाते थे और पिता के साथ बराबर मेहनत करते थे। आते-जाते इनके पिता इन्हें पहाड़ा याद

कराया करते थे। वह अपने गाँव से ८-१० किलोमीटर पैदल पढ़ने जाया करते थे। एक दिन वे पीछे रह गये। कुछ समय बाद साथियों ने पीछे रुकने का कारण पूछा। पटेल बोले- रास्ते के एक पत्थर से बहुधा लोगों को ठोकर लग जाया करती थी। मैंने सोचा, ऐसी चीज को हटा ही देना चाहिए। उसे हटाने के लिए पीछे हो गया था।

विद्यार्थी जीवन में यह अपने स्कूल। में 'दादा' ढंग के दबंग, तेज/ तर्रार युवक माने जाते थे। नड़ियाद के स्कूल में शिक्षक स्वयं पुस्तकों का व्यापार करते थे। बल्लभ भाई ने इनका विरोध किया। अन्त में बल्लभ भाई की ही बात मानी गयी। मैट्रिक की शिक्षा प्राप्त करने के लिए पटेल बड़ौदा पहुँचे। यहाँ भी शिक्षकों से उनकी नहीं पटी। परिणामस्वरूप उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया। इसके बाद वह फिर नड़ियाद वापस आ गये और लगभग २२ वर्ष की आयु में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की।

१८ वर्ष की उम्र में उनका विवाह झबेर बा नाम की कन्या के साथ हो गया। सन् १९०० में पटेल ने वकालत की परीक्षा पास की और गौधारा में वकालत करने लगे। गौधारा में उनके बड़े भाई भी वकालत करते थे। सन् १९०२ में वह गौधारा से फिर बोरसद आ गये। अप्रैल, १९०३ में झबेर बा ने पुत्री मणिबेन को और २८ नवम्बर, १९०५ में एक पुत्र डाह्या भाई को जन्म दिया।

आत्म संयम :

बोरसद में पटेल की वकालत बहुत अच्छी चल रही थी। वह अधिकतर फौजदारी मुकदमें करते थे। उनकी वकालत की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। इसी बीच ग्यारह जनवरी, १९०८ को उनकी पत्नी का देहांत हो गया। जिस समय पत्नी के देहांत का तार मिला, वे एक अदालत में मुकदमें की पैरवी कर रहे थे। उन्होंने तार पढ़कर जेब में रख लिया और बहस जारी रखी तथा मुकदमा जीत गये। एक साथी ने पूछा- इतनी बड़ी घटना घट गयी और आप बहस करते रहे। पटेल का उत्तर था- और क्या करता? वह तो चली गयी। क्या अभियुक्त को भी चले जाने देता? ऐसे थे पटेल।

अगस्त, १९१० में उन्होंने बैरिस्टरी की उपाधि प्राप्त करने हेतु बम्बई से विलायत के लिए प्रस्थान किया। १३ फरवरी, १९१३ को वह बैरिस्टरी की शिक्षा

प्राप्त करके विलायत से बम्बई लौटे और अहमदाबाद में बैरिस्टरी करने लगे।

गाँधी जी से सम्पर्क :

गाँधी जी १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश वापस आने के बाद अप्रैल १९१५ में अहमदाबाद आ गये। अहमदाबाद में उन्होंने कोचक नामक उपनगर में अपना आश्रम खोला। यहीं पर १९१६ में गाँधी जी से पटेल का सम्पर्क हुआ। १९१७ में गुजरात सभा की राजनीति परिषद् की बैठक गौधारा में हुई जिसकी अध्यक्षता गाँधी जी ने की थी। इस परिषद् के मंत्री बल्लभ भाई पटेल थे। इस सभा में बल्लभ भाई पटेल ने बड़ा तीखा भाषण दिया जिसके फलस्वरूप बेगार विरोधी आन्दोलन और तेज हो गया। सरकार को बेगार प्रथा को बन्द करने के लिए पटेल की बात माननी पड़ी।

किसानों के समर्थक :

जुलाई १९१७ में भीषण वर्षा और बाढ़ से गुजरात में सारी फसलें चौपट हो गयीं। चारा–पानी तक के लिए जानवर तरसने लगे। इसके बावजूद सरकार लगान वसूली माफ न कर सकी, बल्कि वसूली के लिए किसानों को और परेशान किया जाने लगा। इस पर लगान की वसूली स्थगित करने के लिए पटेल ने किसानों को संगठित करके आन्दोलन चलाया। सरकार को लगान की वसूली स्थगित करनी पड़ी।

अंग्रेजी सरकार ने भारतीय क्रान्तिकारियों को दबाने के उद्देश्य से रौलट ऐक्ट लागू किया था। इस ऐक्ट को गाँधी जी ने 'काला कानून' बताया था और १९१९ में इसके विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया। ६ अप्रैल, १९१९ को अहमदाबाद में पटेल के नेतृत्व में विशाल जुलूस निकाला गया। इसी अवधि में पटेल ने सत्याग्रह पत्रिका का प्रकाशन भी किया। इससे जनता और भड़क उठी। कुछ स्थानों पर मार्शल–ला लगा दिया गया। नड़ियाद क्षेत्र में रेलवे लाइन उखाड़ी गयी। निर्दोष लोगों को जेल भेजा गया। पटेल ने इसका मुकदमा लड़ा और अदालत में पैरवी करके साथियों को मुक्ति दिलायी।

जलियाँवाला बाग का बर्बर हत्या काण्ड भी इसी समय हुआ जिससे गाँधी जी बहुत दुखी हुए और असहयोग आन्दोलन की घोषणा कर दी। जुलाई १९२० में गुजरात राजनीति परिषद् की बैठक नड़ियाद में हुई। इस बैठक में गुजरात विद्यापीठ की

स्थापना का निर्णय भी हुआ। यह भी निर्णय लिया गया कि उपाधियों, सरकारी नौकरियों, कचहरियों, स्कूलों, कॉलेजों का बहिष्कार करते हुए विदेशी वस्त्रों को उतारकर होली जलायी जाय।

सरदार :

सन् १९२८ में सरकार ने बारडोली तालुका क्षेत्र में तीस प्रतिशत लगान बढ़ा दिया। लगान बढ़ाने से कृषकों में असन्तोष फैल गया। पटेल से किसानों का यह दुख देखा न गया। अतः उन्होंने २९ फरवरी १९२८ को बारडोली में 'करवन्दी सत्याग्रह' शुरू कर दिया। सभी किसानों ने सरकार को लगान देना बंद कर दिया। पटेल ने अपनी अन्तरवेदना व्यक्त करते हुए एक सभा में कहा था– 'किसान डरकर दुःख उठाये और जालिमों की लातें खायें इससे मुझे शर्म आती है। मेरे जी में आता है कि किसानों को कंगाल न रहने देकर खड़ा कर दूँ और स्वाभिमान से सिर ऊँचा करके चलने वाला बना दूँ। १२ जून, १९२८ को सारे देश में बारडोली दिवस मनाया गया। २४ घंटे का उपवास रखा गया और प्रार्थनाएँ हुईं। ब्रिटिश सरकार किसानों की जमीनें नीलाम कर रही थी परन्तु कोई खरीदता नहीं था। इस सत्याग्रह में सरदार पटेल को पूर्ण सफलता मिली। अंग्रेजी सरकार को पटेल की बात माननी पड़ी। बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में एक नेता ने बल्लभ भाई पटेल को 'सरदार' नाम से सम्बोधित किया और यहीं से वह सरदार कहे जाने लगे।

असहयोगी :

सरदार पटेल ने सन् १९२१ में गाँधी के असहयोग आंदोलन में भाग लेने के लिए बैरिस्टरी छोड़ दी और दिसम्बर १९२१ में अहमदाबाद कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष निर्वाचित हुए।

१९२३ में सरकार ने नागपुर में तिरंगा झण्डा लेकर चलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। सरदार ने उसका विरोध किया और सरकार को झुकना पड़ा। नवम्बर १९२३ में ब्रिटिश सरकार ने कुछ सिपाहियों की नियुक्ति करके उन पर होने वाला सालाना व्यय दो लाख चालीस हजार रुपये बोरसद तालुके की जनता से वसूल करने के आदेश किये थे। इसके विरुद्ध भी सरदार पटेल ने संघर्ष किया और ब्रिटिश–सरकार को खर्चे की वसूली माफ करनी पड़ी। इसी प्रकार १९२८ में

उन्होंने बारडोली में करबन्दी सत्याग्रह प्रारम्भ किया और इस में भी विजय प्राप्त की।

३१ दिसम्बर, १९२९ को कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया। इस अवसर पर पटेल का भाषण बहुत जोशीला था। सरकार ने इनके भाषण देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पटेल ने इस आदेश का भी उल्लंघन किया जिसके कारण उन्हें ७ मई १९३० को गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ दिन बाद उन्हें जेल से छोड़ दिया गया।

७ मार्च, १९३० को नमक सत्याग्रह के समय रासगांव में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और लगभग ९ माह बाद २५ जनवरी, १९३१ को कारागार से रिहा हुए। उन्होंने कांग्रेस के कराची अधिवेशन की अध्यक्षता की। फिर जनवरी १९३२ में गिरफ्तार करके पूना की यरवदा जेल में बंद किये गये जहाँ से १४ जनवरी, १९३३ को बीमारी के कारण मुक्त हुए।

१९३५ में बोरसद में प्लेग फैला। पटेल घर-घर जाकर दवाइयाँ बाँटते रहे। १८ नवम्बर, १९४० को अहमदाबाद में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन में जेल गये और २० अगस्त, १९४१ को बीमारी के कारण उन्हें जेल से छोड़ दिया गया। ९ अगस्त १९४२ को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास होने पर फिर गिरफ्तार कर लिये गये और अहमदनगर जेल में नजरबन्द रहे।

१५ जून, १९४५ को वह जेल से मुक्त हुए और वायसराय द्वारा बुलायी गयी शिमला कान्फ्रेंस में भाग लिया। २३ फरवरी, १९४६ को भारतीय जल सेना के विद्रोह को शान्त किया। २ सितम्बर १९४६ को नेहरू जी के नेतृत्व में बनी अंतरिम सरकार में सम्मिलित हुए और ९ सितम्बर, १९४६ को संविधान परिषद् में प्रथम बार भाग लिया। ५ जुलाई १९४७ को उनकी अध्यक्षता में देशी राज्यों की समस्या के समाधान के लिए रियासती विभाग की स्थापना हुई। ९ नवम्बर, १९४७ को जूनागढ़ पर अधिकार कर लिया और १४ नवम्बर, १९४७ को बिहार के नीलगिरी राज्य पर भी पटेल द्वारा कब्जा करने का आदेश जारी किया गया।

१५ अगस्त, १९४७ को वह स्वतन्त्र भारत के उप प्रधान मन्त्री तथा गृह मन्त्री बने। १३ सितम्बर १९४८ को सरदार पटेल के आदेशानुसार पुलिस कार्रवाई करके

हैदराबाद का निरंकुश शासन समाप्त कर दिया गया।

२१ अक्टूबर १९४८ को उनके जन्म दिवस पर उन्हें बम्बई में सोने का रत्न जटित अशोक स्तम्भ तथा ८०० तोले चांदी से बनी गाँधी जी की मूर्ति भेंट की गयी थी। इन्हें अनेक विश्वविद्यालयों ने विधि के डॉक्टर की मानद उपाधि प्रदान की।

रियासतों का एकीकरण :

भारत के विभाजन के बाद अंग्रेजों ने जाते-जाते ५६२ रियासतों को यह स्वतन्त्रता दे दी थी कि वे चाहें तो भारत संघ में शामिल हों या पाकिस्तान में। पटेल को यह बात खटकती रही। उन्होंने सभी रियासतों के राजाओं से बातचीत करके इस समस्या का समाधान बड़े ही सरल ढंग से कर दिया और सभी रियासतों को भारतीय संघ में शामिल कर लिया। पटेल ने अपने बल-बूते पर ही सोमनाथ मंदिर का निर्माण कराया। फरवरी १९४९ में वह दक्षिण भारत की यात्रा पर हैदराबाद गये। हवाई अड्डे पर उनका स्वागत हैदराबाद के निजाम ने स्वयं उपस्थित होकर किया।

१२ दिसम्बर, १९५० को अस्वस्थता के कारण वह जलवायु परिवर्तन के लिए बम्बई गये और इसके तीसरे दिन १५ दिसम्बर, १९५० को प्रातःकाल लगभग ९:३५ बजे भारत माता का यह महान सपूत सदा-सदा के लिए सो गया। देश को स्वतन्त्र कराने में अपने त्याग के लिए और सब से बढ़कर स्वतन्त्र भारत को एक करने के लिए सरदार पटेल को सदा आदर के साथ लौह पुरुष के रूप में याद किया जायगा।

५५९ क ११९ ग, बहादुरखेड़ा
सिंगार नगर, लखनऊ

●

सरोजिनी नायडू

—श्रीमती पार्वती उप्रेती

भारत को प्रतिष्ठा दिलाने में जिन महिलाओं का विशेष योगदान रहा है, उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू का प्रमुख स्थान है। उन्होंने कई क्षेत्रों में काम किया। वे अंग्रेजी भाषा की प्रतिष्ठित कवयित्री थीं। अपनी कविताओं के द्वारा उन्होंने भारत की संस्कृति से संसार को परिचित कराया। लेकिन वे साहित्य-रचना तक ही सीमित नहीं थीं। देश को जगाने में और स्वतन्त्रता संग्राम में वे और भी उत्साह से सम्मिलित हुईं। इसके लिए उन्होंने अनेक कष्ट सहन किये और जेल की यातनायें भोगीं।

सरोजिनी नायडू का जन्म १३ फरवरी १८७९ ई० को पूर्वी बंगाल के ब्रह्मनगर नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम अघोरनाथ चट्टोपाध्याय था। वे बंगला के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी और हिब्रू भाषाएँ भी जानते थे। साहित्य से उन्हें अनुराग था। ब्रह्म समाज के विचारों से वे प्रभावित थे। इस सब के ऊपर उनकी रुचि रसायन शास्त्र में थी और इस विषय में उन्होंने विदेश से डाक्टरेट की डिग्री ली थी। ऐसे प्रतिभाशाली पिता का पूरा प्रभाव सरोजिनी पर पड़ा। अघोरनाथ को हैदराबाद में कॉलेज की स्थापना के लिए वहाँ की रियासत ने अपने यहाँ बुलाया और वे जाकर वहीं बस गये। इस प्रकार सरोजिनी को भी नया वातावरण मिला।

प्रसिद्ध कवयित्री :

आरम्भ में सरोजिनी की रुचि अंग्रेजी भाषा की ओर नहीं थी। किन्तु जब पिता ने जोर दिया तो वह पूरी लगन से इस भाषा को सीखने में जुट गयी। ११ वर्ष की उम्र में उसने अंग्रेजी में पहली कविता लिखकर परिवार को चकित और मुग्ध कर दिया। अब उसका नाम 'गाने वाली चिड़िया' पड़ गया। जब वह १३ वर्ष की थी तो उसने १३०० पंक्तियों की लम्बी कविता और २ हजार पंक्तियों का एक नाटक

लिख डाला था। १८९१ ई० में मद्रास विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा में पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त करके उसने एक और बड़ी सफलता प्राप्त की। सरोजिनी को इस सफलता के कारण विदेश में शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति मिली। वह इंग्लैण्ड गयी। पर वहाँ किसी डिग्री के लिए अध्ययन न करके साहित्यकारों से सम्पर्क किया। इससे उनके अनुभव और ज्ञान में वृद्धि हुई।

भारत लौटने पर सरोजिनी ने अपनी पसन्द से डॉ० नायडू के साथ विवाह किया और वे सरोजिनी नायडू बन गयीं। उदार विचारों के माता–पिता की इसमें पूरी स्वीकृति थी।

सरोजिनी नायडू का पहला कविता संग्रह 'गोल्डन थ्रेशोल्ड' १९०५ ई० में प्रकाशित हुआ। 'दि वर्ड ऑफ टाइम' १९१२ में और 'दि ब्रोकन विंग' १९१७ में निकले। इसके बाद उनके जीवन की दिशा बदल गयी।

स्वतन्त्रता संग्राम में :

श्री गोपालकृष्ण गोखले उस समय के प्रमुख नेता थे। उनके प्रभाव में आकर सरोजिनी राष्ट्रीय एकता और महिलाओं की उन्नति के कार्यों में भाग लेने लगीं। वे हिन्दू–मुस्लिम एकता और स्वदेशी की भावना पर जोर देती थीं। पर्दा–प्रथा का उन्होंने जोरदार विरोध किया। वे उच्चकोटि की वक्ता थीं और उनके भाषण बड़े प्रभावकारी होते थे।

गाँधी जी से सरोजिनी की भेंट लंदन में हो चुकी थी। १९१६ में जब गाँधी जी लखनऊ कांग्रेस में सम्मिलित हुए तो सरोजिनी वहाँ पहले से मौजूद थीं। जवाहर लाल जी उनके भाषणों को पढ़कर बड़े प्रभावित हुए। उनसे भी यहीं सम्पर्क हुआ। इसके बाद देश का स्वतन्त्रता संग्राम गाँधी जी के नेतृत्व में ही चला और सरोजिनी नायडू उनकी प्रमुख सहयोगी रहीं। अब देश भर में उनका नाम था। कांग्रेस के १९२५ के कानपुर अधिवेशन की अध्यक्ष वही चुनी गयीं। गाँधीजी की राय से भारत के पक्ष में प्रचार करने के लिए वे अमेरिका भी गयीं। उनके भाषणों का लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। गाँधी जी के सहयोगी सी० एफ० ऐण्ड्रूज ने लिखा है– उन्होंने अमेरिका में सभी का दिल जीत लिया।

अंग्रेजों का नमक कानून तोड़ने के लिए १९३० ई० में गाँधी जी ने डांडी मार्च

किया। इस अवसर पर भी महिलाओं के दल के साथ सरोजिनी नायडू पहले से समुद्र के किनारे मौजूद थीं। नमक कानून टूटते ही पहले गाँधी जी गिरफ्तार हुए। अब नेतृत्व सरोजिनी नायडू ने अपने हाथ में लिया। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन्हें भी गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया।

कुछ समय बाद लंदन में भारत के प्रश्न पर विचार करने के लिए 'गोल मेज सम्मेलन' होने वाला था। इस पर नेता रिहा कर दिये गये। गाँधी जी के साथ सरोजिनी नायडू भी 'गोल मेज सम्मेलन' में भाग लेने के लिए लंदन गयीं। यह सम्मेलन असफल रहा क्योंकि ब्रिटिश सरकार की नीयत साफ नहीं थी। स्वदेश लौटते ही गाँधी जी के साथ सरोजिनी नायडू भी फिर गिरफ्तार कर ली गयीं। बाद में अन्य नेताओं के साथ वे भी रिहा हुईं। कांग्रेस कार्य समिति की सदस्य के रूप में उन्होंने अनेक बार देश का दौरा किया और लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के अंतिम संघर्ष के लिए तैयार किया।

१९३९ ई० में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। इस बार भारतवासी अंग्रेजों के मौखिक आश्वासनों पर भरोसा करने के लिए तैयार नहीं थे। अपने पर आये हुए संकट में भी जब ब्रिटेन भारत को अधिकार देने के लिए तैयार नहीं हुआ तो गाँधी जी ने कहा 'अंग्रेजों भारत छोड़ो'।..... 'भारत छोड़ो' का यह प्रस्ताव ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में स्वीकार हुआ और ९ अगस्त का सवेरा होने से पहले ही गाँधी जी तथा अन्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये। सरोजिनी नायडू भी गिरफ्तार हुईं। उन्हें गाँधी जी, कस्तूरबा, गाँधी जी के सचिव महादेव देसाई के साथ पूना के आगा खाँ महल में कैद में रखा गया। किन्तु जेल में उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था। अतः २१ मार्च १९४३ को उन्हें रिहा कर दिया गया। कुछ वर्षों के बाद द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ, नेता रिहा हुए और विभाजन के उपरान्त १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हो गया। नेहरू जी के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार इससे पहले बन चुकी थी। पड़ोसी देशों के साथ स्वतन्त्र भारत के सम्बन्ध बढ़ाने का आधार तैयार करने के लिए मार्च १९४७ में दिल्ली में 'एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन' का आयोजन किया गया। इसकी अध्यक्षता श्रीमती सरोजिनी नायडू ने की। उनका

भाषण सुनकर सभी देशों के प्रतिनिधि बहुत प्रभावित हुए।

प्रथम महिला राज्यपाल :

स्वतन्त्रता के बाद सरोजिनी नायडू को देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश का प्रथम राज्यपाल नियुक्त किया गया। इतने ऊँचे पद पर आसीन होने वाली वे देश की पहली महिला थीं। उनके आने से लखनऊ के राजभवन का वातावरण पूरी तरह बदल गया। उसके फाटक आम आदमी के लिए खुल गये। वह राज-काज के साथ-साथ सांस्कृतिक गतिविधियों का भी केन्द्र बन गया। प्रदेश और देश को श्रीमती सरोजिनी नायडू से बड़ी आशाएँ थीं।

किन्तु इसी बीच ३० जनवरी १९४८ ई० को दिल्ली में राष्ट्रपिता की हत्या कर दी गयी। इससे सरोजिनी नायडू को बहुत बड़ा आघात लगा। उनका स्वास्थ्य गिरता गया। पहली मार्च १९४८ की रात में अपनी नर्स से गाना सुनते हुए वे सोयीं तो फिर नहीं उठीं। २ मार्च १९४८ को प्रातः साढ़े तीन बजे उनका देहान्त हो गया।

सरोजिनी नायडू ने बाल्यकाल से आरम्भ करके ३८ वर्ष की उम्र तक कविताएँ लिखीं। उसके बाद वे स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ीं तो फिर पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखा। फिर भी अंग्रेजी कविता को उनकी देन महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। साहित्य का क्षेत्र हो या राष्ट्र के निर्माण का, सब तरफ उन्होंने अमिट छाप छोड़ी है।

२३७, राजेन्द्र नगर,
लखनऊ-४

●

दामोदर विनायक सावरकर

—रमाकान्त श्रीवास्तव

दामोदर विनायक सावरकर की गिनती देश के महान स्वतन्त्रता सेनानियों में की जाती है। वह बड़े साहसी और वीर थे। उन्होंने देश की आजादी की लड़ाई में बढ़-चढ़कर भाग लिया। अनेक कष्ट सहे। यातनाएँ झेलीं। कालेपानी की काल कोठरी में भी रहे। फिर भी, कभी अपने मार्ग से डिगे नहीं, झुके नहीं। उनमें देश-भक्ति कूट-कूटकर भरी थी। उनकी वीरता, निर्भीकता और साहस से प्रभावित होकर देश के लोगों ने उन्हें "वीर" की उपाधि प्रदान की। वह वीर सावरकर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वीर सावरकर का जन्म महाराष्ट्र के नासिक जिले के भगूर नामक गाँव में २८ मई, १८८३ को हुआ था। उनके पिता श्री दामोदर पंत सावरकर विद्या-प्रेमी थे। उनके घर में उनका अपना पुस्तकालय था। वह श्री बाल गंगाधर तिलक के साप्ताहिक समाचार पत्र "केसरी" को मँगाते थे। उसे पढ़कर परिवार के सभी लोगों को सुनाया करते थे। बालक विनायक सावरकर भी अपने पिता से "केसरी" में छपे समाचार सुना करते थे। उनके बाल मन पर देश-विदेश के समाचारों का गहरा प्रभाव पड़ता था। उनकी माता राधा बाई दयालु, धर्मात्मा और परोपकारी महिला थीं। वह भजन और प्रभाती मधुर स्वर में गाकर बालक विनायक को सुनाया करती थीं। विनायक इन भजनों और प्रभातियों को कंठस्थ कर लेते थे। माता-पिता दोनों की छाप विनायक पर पड़ी।

चापेकर बंधुओं की शहादत :

अभी विनायक किशोर ही थे कि सन् १८९६ और ९७ में महाराष्ट्र में भीषण अकाल पड़ा। अन्न और चारे के बिना मनुष्य और पशु मरने लगे। इसी समय पूना नगर प्लेग की भयंकर चपेट में आ गया। सरकार ने इसकी रोकथाम के लिए बाल्टर चार्ल्स रैंड को कमिश्नर नियुक्त किया था। रैंड बड़े अत्याचारी स्वभाव का था।

प्लेग की रोक-थाम के नाम पर उसने गोरे सिपाहियों को खुली छूट दे दी। वे जूते पहने लोगों के घरों के पूजाघरों में घुस जाते। घरों के अन्दर का कीमती सामान उठा ले जाते। यहाँ तक कि महिलाओं के साथ अभद्र व्यवहार करने से भी बाज नहीं आते थे। इससे चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। लोकमान्य तिलक और गोखले ने सरकार को सावधान भी किया, लेकिन अंग्रेज अधिकारियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

तब तक माँ के तीन बेटों ने इन अत्याचारों का बदला लेने का निश्चय किया। गवर्नर के यहाँ विक्टोरिया के जन्मदिन की दावत थी। कमिश्नर रैंड और उसका साथी आयर्स्ट वहाँ से लौट रहे थे। दामोदर चापेकर और बालकृष्ण चापेकर ने रास्ते में ही अपनी गोलियों से उनका काम तमाम कर दिया। मुकदमा चला और वासुदेव सहित तीनों भाइयों को फाँसी दे दी गयी।

चापेकर बन्धुओं की फाँसी से देशवासी दुःखी और क्रोधित हुए। सबसे अधिक प्रभाव विनायक के मन पर पड़ा। वह भी दुःखी हुए। उस दिन उन्होंने उपवास रखा। रात में उन्हें नींद नहीं आयी। आधी रात को घर में स्थापित दुर्गा जी की मूर्ति के सामने प्रतिज्ञा की कि मैं देश को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने के लिए जीवन भर संघर्ष करता रहूँगा। वह चापेकर बन्धुओं पर एक कविता लिखने बैठ गये। उनके पिता वहाँ आये तो देखा कि विनायक कुछ लिखने में तल्लीन हैं। उन्होंने पूछा, "क्या लिख रहे हो विनायक?" विनायक ने वह कविता पिता को थमा दी। पिता ने उस कविता को पढ़ा तो पाया कि उस कविता में क्रान्ति की आग भरी थी।

गुप्त संस्था का गठन :

बाल्यावस्था में विनायक की माता का देहान्त हो गया था। किशोरावस्था में पिता भी चल बसे। बड़ी ही कठिनाइयों के बीच वह नासिक में पढने लगे। एक कमरा लेकर स्वयं भोजन बनाते, परिश्रम से पढ़ते और खाली समय में कविताएँ लिखते थे। उनकी कविताएँ देशभक्ति से भरी हुई ओजस्वी होती थीं। इसी समय उन्होंने "राष्ट्रभक्त समूह" नाम की एक गुप्त संस्था बनायी।

विनायक के रहन-सहन और विचारों का प्रभाव उनके युवा साथियों पर बहुत अधिक पड़ा। वे सब उन्हीं की भाँति परिश्रमी, परोपकारी और देशभक्ति बन गये। इस प्रकार ऐसे युवकों का एक बहुत बड़ा संगठन बन गया।

नासिक से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर विनायक राव पूना गये जहाँ सन् १९०२

ई० में फर्गुसन कॉलेज में भर्ती हो गये। अब तक वह अपने उग्र विचारों और निपुण वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। बहुत से छात्र उनके अनुयायी बन गये। सबने मिलकर "आर्थन वीकली" नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला। इसमें विनायक के लेख छपा करते थे। बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह कानून की पढ़ाई के लिए बम्बई गये। यहाँ उन्हें पता चला कि लन्दन में रह रहे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा देशभक्त भारतीय छात्रों को छात्रवृत्ति देना चाहते हैं तो उन्होंने भी आवेदन पत्र भेज दिया जो स्वीकार कर लिया गया। अतः ९ जून, १९०६ को विनायकराव सावरकर लन्दन रवाना हो गये।

विदेश में क्रान्तिकारियों से सम्पर्क :

लन्दन में रहकर वह श्यामजी कृष्ण वर्मा के अलावा प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल, मदाम भिखाई जी कामा, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, सेनापति वापट ज्ञानचन्द वर्मा आदि के भी सम्पर्क में आये। यहाँ उन्होंने "फ्री इण्डिया सोसाइटी" नामक संस्था बनायी। इस संस्था द्वारा भाषणों, सभाओं और समारोहों के आयोजन किये जाते थे। लन्दन में रहते हुए उन्होंने इटली के महान देशभक्त मेजिनी की जीवनी लिखी। यह पूना में छपी। परन्तु अंग्रेज शासकों ने उसे जब्त कर लिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने "सिक्खों का इतिहास" और "१८५७ का स्वान्तंत्र्य समर" नाम की दो अन्य पुस्तकें भी लिखीं। "फ्री इण्डिया सोसाइटी" की ओर से शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, गुरु नानक आदि की जयन्तियाँ मनायी जाती थीं। बाहर से देखने में तो नौजवान जयन्तियाँ मनाने के लिए इकट्ठे होते थे किन्तु उनमें से साहसी और देशभक्त युवकों को चुनकर उन्हें बम बनाने और हथियार चलाने की शिक्षा दी जाती थी ताकि वे देश को स्वतन्त्र कराने में अपना भरपूर सहयोग दे सकें।

जहाज से समुद्र में छलांग :

लन्दन में वीर सावरकर के कार्यों में अंग्रेज शासकों को क्रान्ति की गन्ध आ रही थी। उन पर कड़ी निगरानी की जाने लगी। फिर तो १३ मार्च, १९१० ई० को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरी ओर पेरिस में रुकी भिखाई जी कामा आदि क्रान्तिकारी उन्हें यूरोप में रोक लेना चाहते थे। जुलाई १९१० को मोरिया नामक

पानी के जहाज से वह कड़े पहरे में भारत के लिए रवाना किये गये। दो अंग्रेज अधिकारी और दस सिपाही उनकी चौकसी में उनके साथ थे। सवेरे का समय था। वह शौचालय गये। उनके आगे-पीछे दो सिपाही चले। उन्होंने शौचालय को अन्दर से बन्द कर लिया। ऊपर एक सकरा जंगला था। उसी से निकलकर वह समुद्र में कूद पड़े। पहरे के सिपाही ने देख लिया। वह चिल्लाया- "कैदी भाग निकला"। जहाज में भागदौड़ मच गयी। वीर सावरकर समुद्र में कभी लम्बी डुबकी लगाते, कभी सतह पर तैरते हुए फ्रान्स के तट की ओर बढ़ने लगे। जहाज से उन पर पिस्तौल से गोलियाँ दागी गयीं, परन्तु वह बचकर फ्रान्स की भूमि पर पहुँच गये। अंग्रेज सिपाही उनका पीछा कर रहे थे। एक फ्रान्सीसी सिपाही ने उन्हें अंग्रेज सिपाहियों को सौंप दिया। इस प्रकार क्रान्तिकारियों की योजना सफल न हो सकी। वह पुनः जहाज पर लाये गये। यह घटना सावरकर के जीवन की बड़ी ही साहसिक और रोमांचकारी मानी जाती है। ऐसी जान की बाजी वीर सावरकर ही लगा सकते थे।

पचास वर्ष की कैद :

भारत में लाकर वीर सावरकर पर कई जुर्म थोपकर मुकदमा चलाया गया। अदालत ने उन्हें दोहरे कालेपानी यानि पचास वर्ष के कालेपानी की सजा दी। इतनी लम्बी सजा आज तक किसी को नहीं दी गयी थी। इस समय उनकी आयु सत्ताइस वर्ष की थी।

४ जुलाई, १९११ ई० को प्रातः वीर सावरकर अण्डमान लाये गये। पचास वर्ष के कठोर कारावास दण्ड से वह विचलित नहीं हुए। दिन में उन्हें कड़ी मेहनत करनी पड़ती। उनसे नारियल का छिलका कूटने, रस्सी बटने का काम लेने के अलावा उन्हें तेल की धानी में जोता जाता और कोड़ों से पीटा जाता था। रात में उनका कविताएँ लिखने का मन करता। कागज-कलम तो था नहीं, जब भी कोई विचार मन में उठता तो कोयले से काल कोठरी की दीवारों पर लिख लेते और उसे कई बार पढ़कर याद कर लेते। इसी तरह उन्होंने फुटकर कविताओं के अलावा "गोमान्तक" महाकाव्य भी लिखा। यह सब उन्होंने कंठस्थ कर लिया था।

वीर सावरकर की रिहाई के लिए भारत में कुछ बड़े लोग प्रयास कर रहे थे। वे चाहते थे कि उन्हें अण्डमान से लाकर भारत की किसी जेल में रखा जाय। २ मई, १९२१ को उन्हें अण्डमान से लाकर अलीपुर (बंगाल) की जेल में रखा गया। वहाँ से हटाकर रत्नागिरि (महाराष्ट्र) की जेल में और फिर यरवदा जेल में रखा गया।

६ जनवरी, १९२४ को उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया। परन्तु शर्त यह लगा दी गयी कि वह रत्नागिरि को छोड़कर कहीं जायेंगे नहीं। जाने पर उन्हें जिलाधिकारी की अनुमति लेनी होगी। रत्नागिरि में रहकर वीर सावरकर ने कई ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम हैं :- "हिन्दू पद-पाद-शाही", "मेरा आजन्म कारावास" आदि उन्होंने नाटक भी लिखे जिनके नाम हैं:- "संन्यस्त खड्ग", "उत्तर क्रिया", "बोधिवृक्ष" आदि।

१० मई, १९३७ को वीर सावरकर पर लगा प्रतिबन्ध हटा लिया गया। अब वह रत्नागिरि से देश में कहीं भी जा सकते थे। रत्नागिरि, पूना, बम्बई आदि नगरों में उनका भव्य स्वागत किया गया। उनका सन्देश था- हमें भारत को स्वतन्त्र कराना है, हमें स्वराज्य प्राप्त करना है।

वीर सावरकर भारत को स्वतन्त्र कराना चाहते थे परन्तु उसे खण्डित भी नहीं देखना चाहते थे। अतः उन्होंने देश के विभाजन का विरोध किया।

१५ अगस्त, १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ, परन्तु खण्डित भी हो गया। वीर सावरकर बहुत दुःखी हुए तो भी उन्हें प्रसन्नता थी कि जिस आजादी के लिए उन्होंने कष्ट झेले, उसे वह देख सके।

२६ फरवरी, १९६६ को ८३ वर्ष की आयु में वीर सावरकर का देहावसान हो गया। उनके निधन से भारत देश का एक महान देशभक्त, स्वतन्त्रता सेनानी, कवि और लेखक उठ गया। उनके जीवन से देश के निवासी सदैव प्रेरणा पाते रहेंगे। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वे उन्हीं का जैसा त्याग करने को तैयार रहेंगे। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

एल ६/एल ९६ लोक बिहार,
कुर्सी रोड, अलीगंज,
लखनऊ

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद स्वतन्त्रता संग्राम के प्रथम कोटि के नेताओं में से थे। उन्होंने गाँधी जी के साथ असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए अपनी बहुत अच्छी वकालत छोड़ दी। गाँधी जी के प्रभाव में आने से उनका जीवन पूरी तरह से बदल गया। वे स्वभाव और वेशभूषा से ठेठ भारतीय किसान लगते थे। सरलता, सादगी और कर्मठता उनके जीवन का अभिन्न अंग थी। राष्ट्रपति बनने पर भी उनके रहन–सहन और व्यवहार में कोई अंतर नहीं आया। वे निरंतर जन साधारण से जुड़े रहे। अभिमान उनको छू भी नहीं गया था। वे उच्च कोटि के विद्वान थे। किन्तु इस विद्वता का दम्भ उनके अंदर नहीं था। उनकी विनम्रता और संकोच उनके ज्ञान को ढके रहते थे।

स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों की बात है। रात के आठ बजे राजेन्द्र बाबू किसी स्टेशन पर उतरे। वहाँ पर किसी परिचित को न देखकर वे बिस्तर की गठरी बगल में दबाये स्टेशन मास्टर के कमरे में गये। उन्होंने बड़े विनीत स्वर में कहा– 'एक आवश्यक टेलीफोन करना है'।

स्टेशन मास्टर ने उनकी वेशभूषा देखकर उन्हें कोई देहाती समझा। बोला 'फोन करना है। तुम हो कौन?'

राजेन्द्र बाबू ने इतना कहा 'राजेन्द्र प्रसाद........कांग्रेस'। स्टेशन मास्टर ने उनकी पूरी बात भी नहीं सुनी। उसने यह कहकर उन्हें टाल दिया– 'जाओ, जाओ, राजेन्द्र प्रसाद जी नहीं आये आज'।

बचपन और शिक्षा :

राजेन्द्र प्रसाद का जन्म बिहार प्रदेश में छपरा जिले के जीरादेई ग्राम में ३ सितम्बर १८८४ ई को हुआ था। उनके पिता महादेव सहाय संस्कृत और फारसी के ज्ञाता थे। माँ से उनको नित्य प्रातः काल भजन और रामायण की कथाएँ सुनने को

मिलती थीं। ये संस्कार जीवन भर उनके साथ रहे। रात में जल्दी सोने और सवेरे चार बजे उठ जाने की आदत भी उनको बचपन में ही पड़ गयी थी। यह आदत भी जीवन भर बनी रही। इससे वे अपना सब काम पूरा करके सार्वजनिक कार्यों के लिए पर्याप्त समय निकाल लेते थे।

पाँच वर्ष की उम्र में उनकी शिक्षा आरम्भ हुई। घर पर ही मौलवी फारसी और उर्दू पढ़ाने आया करते थे। फिर वे आगे की पढ़ाई के लिए छपरा गये। वहीं से उन्होंने १९०२ ई० में कलकत्ता यूनिवर्सिटी की मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। इस में बंगाल, बिहार और उड़ीसा इन तीन राज्यों के छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करके राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया। बाद में उन्होंने कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज में प्रवेश लिया और वहीं से एम० ए० और एल- एल० बी० की उपधियाँ प्राप्त कीं।

उस समय की प्रथा के अनुसार जब वे कक्षा ५ के छात्र थे, १३ वर्ष की उम्र में ही श्रीमती राजवंशी के साथ उनका विवाह हो गया था।

कुछ दिन तक अध्यापन का काम करने के बाद राजेन्द्र बाबू ने १९११ ई० में कलकत्ता में वकालत शुरू की। जब १९१६ ई० में पटना में हाई कोर्ट की स्थापना हुई तो वे पटना आकर वकालत करने लगे। थोड़े समय में ही उनकी गणना चोटी के वकीलों में होने लगी थी।

स्वतन्त्रता संग्राम में :

जनसेवा और देश की स्वतन्त्रता की भावना राजेन्द्र बाबू के अन्दर आरम्भ से विद्यमान ही थी। उन्होंने १९०५ के 'बंग-भंग' विरोधी आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और १९०६ की कलकत्ता कांग्रेस में स्वयं सेवक के रूप में सम्मिलित हुए। गोपाल कृष्ण गोखले उनकी योग्यता से बहुत प्रभावित थे। १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में राजेन्द्र बाबू का गाँधी जी सहित देश के सभी बड़े-बड़े नेताओं से परिचय हुआ। गाँधी जी के निकट सम्पर्क में वे चंपारन में आये। चंपारन के नील उगाने वाले किसानों की दशा की जाँच करने के काम में पटना के जिन वकीलों ने गाँधी जी को सहयोग दिया, उनमें राजेन्द्र बाबू प्रमुख थे। गाँधी जी की कार्य शैली का, निर्भयता का, सादगी का और स्पष्टवादिता का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे जीवन भर के लिए उनके पक्के अनुयायी बन गये।

राजेन्द्र बाबू गाँधी जी के साबरमती आश्रम गये। १९२० में जब गाँधी जी ने

असहयोग आंदोलन आरम्भ किया तो अपनी जमी जमायी वकालत छोड़ कर स्वतन्त्रत संग्राम में कूद पड़ने में उन्हें एक क्षण भी नहीं लगा। उसके बाद वे गाँधी जी द्वारा संचालित प्रत्येक आंदोलन में सम्मिलित हुए और जेल की यातनाएँ सहीं। १९३० ई० से नमक सत्याग्रह में उन्हें भागलपुर के विहपुर नामक स्थान में पुलिस की लाठियाँ भी सहननी पड़ी थीं।

राजेन्द्र बाबू का गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों पर पूरा विश्वास था। जब कुछ नेता 'स्वराज्य पार्टी' बना कर विधान सभाओं के अंदर संवैधानिक संघर्ष चला रहे थे, राजेन्द्र बाबू ने चर्खा और खादी का प्रचार, मद्य निषेध, अस्पृश्यता निवारण, सम्प्रदायिक एकता जैसे कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। राष्ट्रीय शिक्षा के लिए बिहार विद्यापीठ की स्थापना उनका एक और प्रमुख काम था। उन्होंने राष्ट्रीय भावना के प्रचार के लिए 'देश' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाल कर उसका सम्पादन भी किया।

राजेन्द्र बाबू बिहार में पैदा हुए थे, उनका आरम्भिक कार्य क्षेत्र भी बिहार प्रदेश ही था, किन्तु अपनी योग्यता और त्याग की भावना के कारण शीघ्र ही उनकी गणना देश के प्रथम कोटि के नेताओं में होने लगी। १९३४ में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन से अध्यक्ष वही चुने गये। १९३९ में सुभाष बाबू के त्याग पत्र देने पर एक बार उन्होंने पुनः कांग्रेस का अध्यक्ष पद सँभाला था।

द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने पर जब अंग्रेजों ने भारत की स्वतन्त्रता की माँग स्वीकार नहीं की तो गाँधी जी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ करने की घोषण की। इस पर नेता गिरफ्तार कर लिये गये। राजेन्द्र बाबू भी गिरफ्तार हुए और लगभग तीन वर्ष जेल में रहे।

राजेन्द्र बाबू अच्छे लेखक भी थे। नौ पृष्ठों की 'आत्मकथा' उन्होंने जेल में केवल स्मृति के सहारे पर लिखी। उनकी अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें हैं- खंडित भारत, पंचारन में सत्याग्रह, महात्मा गाँधी और बिहार, बापू के कदमों में और कुछ संस्मरण। वे हिन्दी भाषा के प्रबल समर्थक थे और अपना काम हिन्दी में करते थे। नित्य चर्खा चलाने का क्रम उन्होंने राष्ट्रपति बनने के बाद भी जारी रखा।

१९४६ ई० में पंडित जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में जो अंतरिम सरकार बनी उसमें राजेन्द्र बाबू खाद्य और कृषि मंत्री के रूप में सम्बन्धित हुए। बाद में वे संविधान सभा के अध्यक्ष चुने गये। इस पद के उत्तरदायित्वों का निर्वाह उन्होंने बड़ी गरिमा

के साथ किया।

देश के प्रथम राष्ट्रपति :

२६ जनवरी १९५० ई० को देश का नया संविधान लागू हुआ। उसी दिन डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति का पद-भार सँभाला। १९५७ ई० के दूसरे आम चुनाव के बाद आप पुनः राष्ट्रपति बने। इस तरह देश के इस सर्वोच्च पद पर आप बारह वर्ष तक रहे। राष्ट्रपति के रूप में राजेन्द्र बाबू ने संसार के अनेक देशों की राजकीय यात्रा की और लोगों को भारतीय जीवन, नीतियों तथा आदर्शों से परिचित कराया।

राजेन्द्र बाबू के कार्यकाल में राष्ट्रपति भवन का रूप एकदम बदल गया था। उसके दरवाजे जनसाधारण के लिए खुल गये। उस विशाल भवन का थोड़ा सा हिस्सा अपने उपयोग के लिए रख कर उन्होंने शेष भवन सरकारी कार्यालयों के लिए दे दिया था। उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रपति के लिए निर्धारित १० हजार रु० वेतन और ढाई हजार रु० भत्ता बहुत अधिक है। वे स्वेच्छा से केवल ढाई हजार रु० महीना ही लेते थे। वे जन्म से तो किसान नहीं थे, पर अपने व्यवहार से उन्होंने गाँधी जी का यह सपना साकार करने का प्रयत्न अवश्य किया कि भारत का भावी राष्ट्रपति कोई किसान होगा।

१२ मई १९६२ ई० को राष्ट्रपति पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद राजेन्द्र बाबू अपने पुराने स्थान 'सदाकत आश्रम' पटना में जाकर रहने लगे थे। उन्हें देश के सर्वोच्च नागरिक अलंकरण 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया। पटना में ही २८ फरवरी १९६३ ई० को राम-राम जपते हुए उन्होंने शरीर का त्याग कर दिया।

प्रथम राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किये, वे सदा याद किये जाएंगे।

२३४, राजेन्द्रनगर,
लखनऊ-४

●

लाला हरदयाल

—पृथ्वीनाथ पाण्डेय

बालक हरदयाल बचपन से ही अत्यन्त गम्भीर किस्म के व्यक्ति थे। वह लिखने-पढ़ने में बहुत तेज विद्यार्थी थे। उनकी याददाश्त बहुत तेज थी। एक घटना है :

बालक हरदयाल का एक मित्र था। वह उनकी रिश्तेदारी में आता था। वह कक्षा नौ का विद्यार्थी था। तब हरदयाल पाँचवीं कक्षा में पढ़ते थे। एक दिन की बात है। उनका वह मित्र अपना कोई पाठ याद कर रहा था। वह बार-बार एक ही पाठ दुहराये जा रहा था। बालक हरदयाल से रहा नहीं गया। उन्होंने आखिर पूछ ही लिया, 'अरे शिवनारायण भइया! तब से अब तक तुम एक ही पाठ को न जाने कितनी बार दुहरा चुके हो। आखिर दुहराने की भी कोई सीमा होती है।'

इस पर उनका वह मित्र बोला, 'हरदयाल! अभी तुम बच्चे हो, बड़े होकर सब समझ जाओगे।'

बालक हरदयाल को शिवनारायण का यह उत्तर बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। हरदयाल ने तड़ से जवाब दिया, 'अच्छा, तो यह बात है। तो सुनिये जनाब शिव नारायण जी! आप जिस पाठ को मिट्ठू मियाँ की तरह रटे पड़े थे, उसे मैं बिना पढ़े आपको बता सकता हूँ, सुना सकता हूँ।'

'सुनाओ तो जानूँ', शिवनारायण की यह चुनौती हरदयाल ने स्वीकार करते हुए उस पाठ को ज्यों का त्यों सुना दिया। शिवनारायण को काटो तो खून नहीं।

जब हरदयाल छह वर्ष के थे तब समाचार-पत्रों को पढ़ने में, उन्हें समझने में बहुत रुचि लिया करते थे। वह अपने समय के दो अखबारों- 'ट्रिब्यून' और 'हरविञ्जर' में छपे सम्पादकीय को चाव के साथ पढ़ा करते थे।

हरदयाल को 'किताबी कीड़ा' कहा जा सकता है। वह जिस पुस्तक को पसन्द

कर लेते थे, उसे लिये बिना नहीं रह सकते थे। वह अपने पहनावे पर जरा भी ध्यान नहीं देते थे। वह ढीला-ढाला पाजामा या पैंट पहन कर जाया करते थे। कई बार उनके दोस्तों ने उन्हें समझाया भी कि वह बढ़िया कपड़े पहना करें, ठीक-ठाक पहना करें। उन पर किसी का कोई असर नहीं पड़ा।

ऐसे महान् व्यक्ति का जन्म १४ अक्टूबर, सन् १८८४ ई० को दिल्ली में हुआ था। उनकी माँ का नाम श्रीमती भोलीरानी और पिता का नाम श्री गौरी दयाल माथुर था।

प्रतिभाशाली छात्र :

हरदयाल ने इंटरमीडिएट परीक्षा में अपने प्रान्त में सर्वाधिक अंक प्राप्त किये। इससे उनका मनोबल बहुत बढ़ा उन्हें एक साथ दो-दो छात्रवृत्तियाँ दी गयीं। उन्हें मेडल भी मिले। गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर से हरदयाल ने अंग्रेजी विषय में एम० ए० की परीक्षा बहुत ही अच्छे अंकों में उत्तीर्ण की। उन्हें ९२ प्रतिशत अंक मिले। उन दिनों लाहौर भारत का ही एक अंग था। उसके बाद उन्होंने इतिहास विषय में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने एक ही वर्ष में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। उनको इतने अधिक अंक प्राप्त हुए थे कि किसी को विश्वास नहीं हो रहा था। पूरे विश्वविद्यालय में उन्हें इतने अधिक अंक मिले कि आज तक किसी को नहीं मिले हैं और न उनके पहले किसी को मिले थे।

दो विषयों में एम० ए० करने वाले हरदयाल को 'सेण्ट स्टीफेंस कॉलेज', दिल्ली में प्राध्यापक पद पर नियुक्त कर लिया गया।

लंदन की यात्रा :

उस समय की अंग्रेजी सरकार हरदयाल की विद्वता से बहुत प्रभावित हुई। उन्हें सरकार ने छात्रवृत्ति देकर आगे की पढ़ाई के लिए आक्सफोर्ड (इंग्लैण्ड) भेजा। सन् १९०५ से १९०७ ई० तक वह ऑक्सफोर्ड के सेंट जॉन कॉलेज में रहे। वहाँ उन्होंने देखा कि अंग्रेज भारतीयों की प्रगति को फूटी आँख भी देखना पसन्द नहीं करते थे। वहाँ अंग्रेज भारतीयों के विरुद्ध कुचक्र रच रहे थे। अंग्रेजों की वह रीति-नीति उन्हें जरा भी पसन्द नहीं आयी। वह वहाँ से अपने देश भारत लौट आये।

इंग्लैण्ड जाने से पूर्व ही उनका विवाह श्री गोपाल चन्द्र माथुर की पुत्री से हो

चुका था।

उन्हीं दिनों लाहौर के एक प्रमुख समाचार-पत्र 'पंजाबी' में एक सूचना छपी थीः-

लाला हरदयाल 'पहाड़ से सिर मारने' की बातें कहते हैं। वह अब अंग्रेजी सरकार की खिलाफत करने पर उतारू हैं। यदि किसी ने उनका साथ दिया तो उसकी खैर नहीं।

क्रांति के अग्रदूत :

अंग्रेजों की कुटिल चाल को हरदयाल बहुत अच्छी तरह से समझते थे। लाला हरदयाल तो संकल्प-शक्ति के धनी थे। उन्होंने जब भी कोई संकल्प किया, उसे पूरा किया। उनके निश्चय से उन्हें कोई डिगा सकने का साहस नहीं रखता था।

वह दैनिक 'पंजाबी' समाचार-पत्र के सम्पादक बने। उस समाचार-पत्र में वह अंग्रेजों की कुटिल योजनाओं के प्रति भोली-भाली जनता को हरदम आगाह करते रहे। उनकी क्रान्तिकारी भावना को अंग्रेज सरकार पनपने नहीं देना चाहती थी। वह हरदयाल को शीघ्र ही गिरफ्तार कर लेना चाहती थी। दूसरी ओर हरदयाल को इसकी भनक मिल चुकी थी। वह कुछ समय के लिए भारत से बाहर जाना चाहते थे।

इस तरह हरदयाल कई देशों के अभियान पर निकल पड़े। वह पेरिस पहुँच गये। वहाँ उन्होंने सितम्बर, सन् १९०९ ई० में 'वन्देमातरम्' समाचार पत्र का सम्पादन-कार्य शुरू कर दिया। उन दिनों पेरिस सभी देशों के क्रान्तिकारियों का केन्द्र-बिन्दु था। वहाँ उन्होंने फ्रेंच-भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनके वहाँ रहने की भनक अंग्रेजों को लग चुकी थी। इसकी खबर उन्हें भी हो चुकी थी। वह वहाँ से निकल पड़े। वह अनेक देशों में गये। अन्ततः वह संयुक्त राज्य अमेरिका पहुँचे।

गदर पार्टी की स्थापना :

संयुक्त राज्य अमेरिका में उन्होंने अपने क्रान्ति के उद्देश्यों को लेकर अनेक कार्य किये। उन्होंने 'गदर पार्टी' की स्थापना यहीं की। संयुक्त राज्य अमेरिका में भारतीयों से मजदूरी करवायी जाती थी। उन्हें मजदूरी बहुत कम दी जाती थी। लाला हरदयाल उन मजदूरों के बीच गये। भारत को स्वाधीन कराने में उनके सहयोग की मांग की।

इस तरह से बहुत से भारतीय उनके समर्थन में उनके साथ हो लिये।

संयुक्त राज्य अमेरिका के अरिगन प्रान्त में लाला हरदयाल को भारतीयों का भरपूर समर्थन मिला। उस प्रान्त में अंग्रेजों के विरुद्ध एक आन्दोलन चलाया गया। वहीं से नवम्बर, सन् १९१४ ई० में 'गदर' नामक एक समाचार पत्र निकाला गया। उसके सम्पादक लाला हरदयाल थे। उस पत्र में अंग्रेजों के षडयन्त्रों को छापा जाता था। इस तरह 'गदर पार्टी' की अनेक शाखाएँ विदेशों में हो गयीं। कनाडा, पनामा, चीन और जापान में भी 'गदर पार्टी' की शाखाएँ खोली गयीं। लाला हरदयाल इस पार्टी के महासचिव थे। वह संन्यासी की वेश-भूषा में अपनी क्रान्तिकारी योजनाओं का प्रचार करते रहे, क्रान्तिकारी तैयार करते रहे। इस तरह उन्होंने अंग्रेजों का जीना दूभर कर दिया।

२३ दिसम्बर, सन् १९१२ ई० को दिल्ली में वायसराय लार्ड हार्डिंग पर हथगोला फेंका गया। उसके बाद इस घटना के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक पुस्तिका तैयार की। उस पुस्तिका को अनेक देशों में वितरित किया गया। उस पुस्तिका में साफ शब्दों में लिखा था, 'क्रान्तिकारी साथियों! तैयार हो जाओ। देश-विदेश में अपने को संगठित करो। सेवा-बलिदान के लिए तैयार रहो। देखो, बम ने अपना सन्देश सुना दिया है। हिन्दुस्तान के नौजवान स्त्री-पुरुषों को इसका उत्तर देना चाहिए।"

अगस्त, सन् १९१४ ई० में महायुद्ध छिड़ गया। जितने भारतीय थे, स्वदेश के लिए रवाना हो गये। हजारों की संख्या में भारतीयों की वापसी हुई। उस समय भी अंग्रेजी जासूस उन भारतीयों की गतिविधियों पर निगाहें रखे थे। वे जासूस उन्हीं जहाजों पर सवार थे। यही कारण था कि जहाज के भारत में रुकते ही, अधिकांश भारतीय पकड़ लिये गये। कुछ ही बचते-बचाते अपने घर लौट पाये।

लाला हरदयाल ने संयुक्त राज्य अमेरिका में रहना अपने हित में नहीं समझा। वह संन्यासी वेश में तो थे ही, वहाँ से वह जर्मनी के लिए रवाना हो गये। उनकी एक योजनानुसार पंजाब और बंगाल में विद्रोह की रूपरेखा तैयार की गयी। उसके मुताबिक पंजाब और बंगाल में एक साथ विद्रोह होना था। इस काम के लिए दो भारतीयों - सत्येन्द्रनाथ सेन और पिंगले को चुना गया। जर्मनी से इन दोनों को भारत भेजा गया। जून, सन् १९१५ ई० में जर्मनी से दो जहाजों में भरकर बन्दूकें बंगाल के लिए भेजी

गयीं, किन्तु अंग्रेजों को मुखबिरों ने इसकी सूचना दे दी। इस प्रकार दोनों जहाज रास्ते में ही पकड़ लिये गये।

अपनी इस बहुत बड़ी योजना को असफल होते देखकर लाला हरदयाल ने जर्मनी से चले जाना ही हितकर समझा। वह स्वीडन के लिए रवाना हो गये। कुछ समय तक वहाँ रहे। उसके बाद सन् १९२७ ई० में वह इंग्लैण्ड पहुँचे। वहाँ उन्हें किसी तरह का सहयोग नहीं मिला। उनका आर्थिक आधार भी बहुत कमजोर हो चुका था। किसी भी प्रकार का नैतिक सहयोग न पाकर वह क्रान्ति के उद्देश्यों के प्रति उदासीन हो गये।

लाला हरदयाल भारत पहुँचना चाहते थे। भारत में उनके लिए किराये के कमरे की भी व्यवस्था कर दी गयी थी। वह सिर्फ अध्ययन करना चाहते थे। वह स्वदेश आना तो चाहते थे, किन्तु ४ मार्च सन् १९३९ ई० को वहीं उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी।

ऐसे महान पुरुष विरले ही होते हैं। उन्होंने देश की आजादी के लिए अपना परिवार छोड़ा। पत्नी का साथ तो मात्र विवाह तक सीमित था। उसके बाद से तो वह जीवन-पर्यन्त बाहर ही रहे। इतना महान त्यागी और निर्मोही व्यक्ति भला कहाँ मिलेगा? ऐसे क्रान्तिकारी महापुरुष को हमारा कोटि-कोटि नमन!

११० २, नयी बस्ती, अलोपीबाग,
इलाहाबाद-२११ ००६

पं० गोविन्द बल्लभ पंत

—रामऋषि शुक्ल

भारत माता के सूपतों में पं० गोविन्द बल्लभ पंत का एक विशेष स्थान है। पंतजी की छवि एक शांत चित्त, सरल स्वभाव और मीठी वाणी बोलने वाले सज्जन की छवि थी। उनका हृदय हिमालय की भाँति विशाल और निर्मल था। अपनी सहनशीलता से वह हर विरोध को शांत कर देते थे। अपनी धीरता से वह हर कठिनाई को दूर करने का रास्ता निकाल लेते थे। विरोधी का भी मन मोह लेना उनका सहज गुण था।

स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में पंत जी हमारे सेनानियों की अगली पंक्ति में दिखायी देते हैं। इसी प्रकार स्वाधीन भारत में वह एक कुशल प्रशासक और एक भरोसेमंद साथी के रूप में सामने आते हैं। क्या गाँधी–युग और क्या नेहरू–युग, दोनों में ही वह एक गौरवशाली कीर्ति–स्तम्भ के रूप में प्रकाशित हैं। इन दोनों ही युगों में ऐसे अवसर आये जब राष्ट्रीय नेतृत्व ने पंत जी की ओर निहारा, और पंत जी ने अपनी सूझ–बूझ तथा मृदु तर्क शैली से हर मुश्किल को आसान बना दिया।

पूर्वज :

पंत जी के पूर्वज पं० जयदेव पंत अपने परिवार तथा अन्य ब्राह्मण परिवारों के साथ ग्यारहवीं सदी में महाराष्ट्र से हिमालय की तीर्थ–यात्रा पर आये थे। इसी तीर्थ–यात्रा में वह सपरिवार कुमाऊँ पधारे। पर्वत का रमणीय स्थान उनको भा गया। उनकी विद्वत्ता के कारण उस समय राजा ने उनसे वहीं बस जाने का निवेदन किया, जिसे मान कर पंत लोग कुमाऊँ में बस गये। इन्हीं जयदेव पंत की पच्चीसवीं पीढ़ी में बालक गोविन्द बल्लभ पंत ने जन्म ग्रहण किया।

बालक गोविन्द बल्लभ का जन्म ३० अगस्त १८८७ को अनंत चतुर्दशी के दिन अल्मोड़ा जिले के खूँट गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम मनोरथ पंत और

माता का नाम गोविन्दी था। संवत् १९४६ में जब बालक का जन्म-दिवस धूम-धाम से मनाया गया उस वर्ष अनंत चतुर्दशी १० सितम्बर को पड़ी थी। इस तरह उसके बाद पंतजी का जन्म-दिवस १० सितम्बर को ही मनाया जाने लगा। उनका बचपन ज्यादातर अपने नाना पं० बद्रीदत्त जोशी की देख-रेख में अल्मोड़ा में बीता। लोक-सेवा के संस्कार पंत जी को अपने नाना जी से ही प्राप्त हुए थे।

नाना के देहान्त और फिर सन् १९१३ में पिता पं० मनोरथ पंत की मात्र ४५ वर्ष की अवस्था में आकस्मिक मृत्यु के कारण गोविन्द बल्लभ पंत को शुरू में काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। किन्तु धैर्य और साहस ने बराबर उनका साथ दिया। हर कठिनाई को पार करते हुए, पंत जी ने नियमित शिक्षा अच्छे नम्बरों से पास होते हुए पूरी की। उसके बाद वह १९ वर्ष की आयु में आगे की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद आ गये। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के साथ ही पंत जी के जीवन में सार्वजनिक सेवा का भी आरम्भ होता है।

गोखले का प्रभाव :

सन् १९०५ में बनारस में श्री गोपालकृष्ण गोखले की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस अधिवेशन में युवा गोविन्द बल्लभ पंत ने स्वयं सेवक के रूप में कार्य किया। गोखले के गरिमामय व्यक्तित्व की उन पर गहरी छाप पड़ी। दो वर्ष बाद जब गोखले इलाहाबाद पधारे, उस समय पंत जी बी० ए० के अन्तिम वर्ष के छात्र थे। अपनी इस यात्रा में गोखले ने देश-सेवा का व्रत लेने की युवकों से मार्मिक अपील की। गोखले की इस अपील का पंत जी के मन पर अमिट प्रभाव पड़ा और उन्होंने तय कर लिया कि वह सरकारी नौकरी नहीं करेंगे तथा वकील बन कर जनता की सेवा करेंगे। सन् १९०९ में हुई इलाहाबाद विश्वविद्यालय की कानून की परीक्षा में गोविन्द बल्लभ पंत सर्व प्रथम रहे। इसके बाद पंत जी पहाड़ लौटे और उन्होंने पहले अल्मोड़ा में फिर रानीखेत में और बाद में स्थायी तौर पर काशीपुर में वकालत की।

सार्वजनिक जीवन आरम्भ :

काशीपुर में पंत जी के सार्वजनिक जीवन की शुरूआत हुई। १९१६ में वह काशीपुर नोटीफाइड एरिया कमेटी में नामजद हो गये और कमेटी की शिक्षा समिति के अध्यक्ष बना दिये गये। पहले-पहल इस नगर में निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा लागू करने का श्रेय पंत जी को जाता है। आपके ही प्रयासों से 'कुमाऊँ परिषद्' की

स्थापना हुई जिसने आगे चलकर पहाड़ में कुली–बेगार प्रथा को समाप्त करने में अहम् भूमिका निभायी। इसी सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस का प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ, जिसमें पंतजी ने कुमाऊँ के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यहीं पर उन्होंने सर्वप्रथम महात्मा गाँधी, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि राष्ट्रीय नेताओं के दर्शन किये। सन् १९१६ से १९५४ तक पंतजी कुमाऊँकी राजनीति में छाये रहे। पंत जी के प्रयत्नों से सन् १९२६ में प्रदेश का राजनीतिक सम्मेलन काशीपुर में सफलता के साथ सम्पन्न हुआ।

सन् १९१९ में अमृतसर में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें पंतजी ने भाग लिया। अगले वर्ष वह सन् १९२० की ऐतिहासिक नागपुर कांग्रेस में भी शरीक हुए, जिसमें गाँधीजी ने असहयोग का बिगुल बजाया और देश एक नयी राष्ट्रीय चेतना से आन्दोलित हो उठा। असहयोग आन्दोलन बड़े जोरों से चला, किन्तु गोरखपुर जिले में चौरी–चौरा में हिंसात्मक काण्ड होने के कारण गाँधी जी ने उसे अचानक स्थगित कर दिया।

स्वराज्य पार्टी के नेता :

इसी बीच देश में नये शासन सुधार लागू हुए जिनके तहत सन् १९२३ में उत्तर प्रदेश में विधान–परिषद् का गठन हुआ। चुनावों में भाग लेने के लिए पं० मोती लाल नेहरू ने 'स्वराज्य पार्टी' बनायी। इस प्रदेश में स्वराज्य पार्टी का नेतृत्व पंत जी ने किया। सन् १९२२ में पंत जी ने अपनी अच्छी–खासी चलती वकालत से हाथ खींच लिया और वह कांग्रेस के कार्यों में जुट गये।

राज्य विधान परिषद् के चुनावों में पंत जी विजयी हुए। स्वराज्य पार्टी के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या तीस थी जिसका नेतृत्व पंत जी ने किया। विपक्षी दल के रूप में १९२४ से १९२६ तक उत्तर प्रदेश विधान परिषद् में स्वराज्य पार्टी का बोलबाला रहा और इसी बीच प्रदेश स्तर पर पंडित पंत के तेजस्वी नेतृत्व का उदय हुआ।

सन् १९२५ और १९२८ की अवधि में दो विशेष घटनाएँ हुई, जिन्होंने पंत जी के राजनीतिक नेतृत्व को राष्ट्रीय स्तर पर उजागर किया। ९ दिसम्बर १९२५

को काकोरी ट्रेन डकैती काण्ड हुआ, जो भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की प्रमुख घटना के रूप में जाना जाता है। इसमें चन्द्रशेखर आजाद, राम प्रसाद 'बिस्मिल', अशफ़ाक उल्ला खाँ आदि प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों ने अपने दल के लिए सरकारी खजाना लूटा था। सरकार ने क्रांतिकारियों पर जो मुकदमा चलाया वह आठ महीने चला और देश में चर्चा का प्रमुख विषय बन गया। पंतजी ने एक दक्ष वकील के रूप में क्रान्तिकारियों की ओर से पैरवी की।

लाठियों की मार :

अंग्रेज सरकार ने फरवरी १९२८ में भारत में 'साइमन कमीशन' भेजा था जिसका देश में घोर विरोध हुआ। २९ नवम्बर १९२८ को लखनऊ में विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया गया, जिसका नेतृत्व पं० जवाहर लाल नेहरू और पं० गोविंद बल्लभ पंत कर रहे थे। जब पुलिस लाठी वर्षा कर रही थी और प्रदर्शनकारियों पर घोड़े दौड़ाये जा रहे थे, नेहरू जी और पंत जी साथ-साथ इनकी चपेट में आ गये। इस अवसर पर पंत जी अपने लम्बे डील-डौल के कारण नेहरू जी के लिए छाया बनकर सामने आ गये। नेहरू जी को तो गम्भीर चोट लगते-लगते बची, किन्तु पंत जी को इतनी चोट लगी कि जिन्दगी भर उसकी पीड़ा झेलते रहे। १९३० के नमक सत्याग्रह आन्दोलन में पंत जी गिरफ्तार कर लिये गये और ६ मास जेल में रहे।

प्रदेश के प्रथम मुख्यमन्त्री :

अंग्रेज सरकार के नये शासन विधान के अन्तर्गत १९३७ में प्रांतों (प्रदेशों) में चुनाव हुए उनमें प्रदेश में कांग्रेस को शानदार सफलता मिली। प्रदेशों में पहली विधान सभा गठित होने पर कांग्रेस ने सरकार बनायी। इस राज्य के प्रथम मुख्यमन्त्री के रूप में पंत जी ने १७ जुलाई १९३७ को शासन-तन्त्र सम्भाला। थोड़े ही समय में एक कुशल प्रशासक के रूप में पंत जी की धाक जम गयी। यह सरकार लगभग दो साल तक चली और इसने जनता के कल्याण के अनेक कार्य किये। ३ सितम्बर १९३९ को विश्व-युद्ध शुरू हो जाने के बाद पंत सरकार ने अक्टूबर के अंत में त्याग-पत्र दे दिया, क्योंकि अंग्रेजों ने भारत को जबरदस्ती युद्ध में घसीटा था।

लम्बी जेल यात्रा :

विश्व युद्ध की अवधि में गाँधीजी ने दो आन्दोलन चलाये। एक व्यक्तिगत

सत्याग्रह आन्दोलन था, जो वर्ष १९४०–४१ में चला। अन्य नेताओं तथा कार्यकर्ताओं की भाँति पंत जी ने भी सत्याग्रह किया और जेल–यात्रा की। दूसरा १९४२ के अगस्त मास में प्रारम्भ हुआ "भारत छोड़ो" आन्दोलन था, जो स्वतन्त्रता के अन्तिम तथा निर्णायक संग्राम के रूप में जाना जाता है। अन्य प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं के तरह पंत जी को गिरफ्तार कर लिया गया और इनको भी अहमदनगर किले में नजरबंद रखा गया। लगभग तीन साल की नजरबंदी के बाद सभी नेता १५ जून १९४५ को रिहा कर दिये गये और पंत जी भी रिहा हुए।

शासन–सत्ता भारतीयों को सौंपने के सिलसिले में मुहम्मद अली जिन्ना से जो बातचीत चली उसके लिए उस समय के कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद ने पंत जी को ही नियुक्त किया था। किन्तु वार्ता–कुशल पंत जी को इसमें कामयाबी मिल ही कैसी सकती थी, जबकि अंग्रेजों की शह पाकर जिन्ना साहब समझौता न करने का निश्चय किये बैठे थे।

पुनः मुख्यमन्त्री :

सन् १९४६ में जब भारत की आजादी बिल्कुल करीब आ गयी थी, तभी विधान सभाओं के चुनाव हुए। उत्तर प्रदेश विधान सभा के चुनावों में कांग्रेस को भारी सफलता मिली और अप्रैल १९४६ में पंत जी पुनः उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री बने। पंत जी के नेतृत्व में उन्मूलन कानून बना और राज्य की किसान जनता जमींदारी प्रथा के शोषण से मुक्त हो गयी। १९५२ के आम चुनाव के बाद पंत जी पुनः मुख्यमन्त्री बने।

मुख्यमन्त्री के रूप में पंत जी ने १९५४ तक इस प्रदेश के शासन का सफलता के साथ संचालन किया। उनका ज्ञान इतना गम्भीर था और बुद्धि इतनी तेज थी कि बड़े–बड़े अफसर उनका सामना करने में बहुत ही सावधानी बरतते थे। किन्तु प्रशासन में दक्ष पंतजी आम आदमी से ऐसे मिलते थे कि लोगों का मन मोह लेते थे। शाम को वह खुला दरबार लगाते थे जिसमें जाकर कोई भी आदमी अपनी बात बेझिझक कह सकता था।

देश के गृहमन्त्री :

जनवरी १९५५ में पंत जी ने भारत सरकार के गृह मन्त्री के रूप में कार्य–भार सम्भाला। सरदार पटेल के निधन के बाद प्रधान मन्त्री नेहरू जी को एक सशक्त और

कुशल गृहमन्त्री का अभाव खटकने लगा था। अतः उन्होंने पंत जी को १९५७ में लखनऊ से दिल्ली बुला लिया। २६ जनवरी १९५७ को भारत के सर्वश्रेष्ठ अलंकरण 'भारत रत्न' से पंत जी को सम्मानित किया गया। अपने अनुभव और कुशल कार्य शैली से भारत के शासन–संचालन में पंत जी ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

पं० गोविन्द बल्लभ पंत का ७ मार्च १९६१ को दिल्ली में देहान्त हो गया। वह अपनी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व तक कार्यरत रहे। ऐसे देशभक्त विरले ही होते हैं। अपनी कीर्ति के कारण पंत जी अमर हैं।

कक्ष संख्या १५६,
दारुलसफा, ए–ब्लाक,
लखनऊ–१

●

मौलाना अबुल कलाम आजाद

—डॉ० पाण्डेय रामेन्द्र

भारत को आजादी दिलाने के लिए अनेक लोगों ने अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग किया। उन्होंने हँसी-हँसी कष्टों को गले लगाया। मौलाना अबुल कलाम आजाद उन्हीं देश भक्तों की पहली पंक्ति के नेता थे।

मौलाना आजाद के पूर्वज बड़े ऊँचे पदों पर रह चुके थे। उनके एक विद्वान पूर्वज का सम्राट् अकबर के दरबार में सम्मान हुआ था। उनके पिता मौलाना खैरुद्दीन का भी बड़ा नाम था। वे धार्मिक विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी थीं। भारत के मुसलमानों के साथ पश्चिमी एशिया में उनके बड़े अनुयायी थे। सन् १८५७ के पहले स्वतन्त्रता संग्राम के बाद देश में बड़ा दमन हुआ। उस समय मौलाना खैरुद्दीन भारत छोड़कर मक्का चले गये। वहीं उन्होंने एक प्रसिद्ध विद्वान की कन्या से विवाह कर लिया।

जन्म और शिक्षा :

१७ नवम्बर सन् १८८८ ई० को मक्का में मौलाना आजाद का जन्म हुआ। उनका नाम अहमद रखा गया। किन्तु बड़े होने पर अबुल कलाम नाम दिया गया। अबुल कलाम के जन्म के कुछ वर्ष बाद मौलाना खैरुद्दीन को एक दुर्घटना में चोट लग गयी थी। जब हड्डी अच्छी तरह से नहीं जुड़ सकी तो लोगों ने उन्हें कलकत्ता जाकर चिकित्सा कराने की राय दी। मौलाना कलकत्ता आ गये और यहीं रह गये। कुछ समय बाद उन्होंने अबुल कलाम सहित अपने परिवार को भी भारत बुला लिया।

मौलाना खैरुद्दीन पुराने विचारों के व्यक्ति थे। वे मानते थे कि आजकल की

शिक्षा से लोग धार्मिक विचारों से हट जाते हैं। इसलिए उन्होंने अबुल कलाम की शिक्षा की घर पर ही व्यवस्था की। अलग-अलग विषयों को पढ़ाने के लिए अलग-अलग अध्यापक रखे गये। उन दिनों इस्लामी शिक्षा पच्चीस वर्ष की उम्र में जाकर पूरी होती थी। लेकिन अबुल कलाम इतने प्रतिभाशाली थे कि उन्होंने सोलह वर्ष में ही यह सारी शिक्षा पूरी कर ली।

स्वाध्यायी :

इसी बीच अबुल कलाम को सर सैयद अहमद खाँ के कुछ लेख पढ़ने को मिले। इससे उनके विचारों में भी परिवर्तन हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि आधुनिक विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इन विषयों की पुस्तकें उस समय अंग्रेजी भाषा में ही मिलती थीं। अबुल कलाम ने एक मित्र की सहायता से अंग्रेजी वर्णमाला सीखी। फिर शब्दकोश और समाचार पत्रों का सहारा लेकर थोड़े दिनों में ही अपना अंग्रेजी का ज्ञान पक्का कर लिया। अब वे अंग्रेजी में भी गम्भीर विषयों की पुस्तकें पढ़ने लगे। मौलाना आजाद पढ़ने के लिए एक भी दिन किसी विद्यालय में नहीं गये। स्वाध्याय और अपने परिश्रम से कोई कितनी उन्नति कर सकता है वे इसके उदाहरण हैं।

आजाद :

इस समय देश में राष्ट्रीय भावनाएँ करवट ले रहीं थीं। मौलाना आजाद पर भी इसका प्रभाव पड़ा। अलग-अलग धर्मों को मानने वालों के बीच का भेद-भाव उनकी समझ में नहीं आया। उन्होंने निश्चय किया कि वे परिवार में चली आ रही परम्परा से बँध कर नहीं रहेंगे। बचपन से उनमें जो संस्कार डाले गये थे उनसे उन्होंने स्वयं को आजाद कर लिया, अपने नाम के साथ 'आजाद' शब्द जोड़ लिया और 'मौलाना अबुल कलाम आजाद' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

सफल पत्रकार :

बंगाल उस समय क्रान्तिकारियों का गढ़ था। इसी को कमजोर करने के लिए अंग्रेजों ने १९०५ ई० में बंगाल का विभाजन कर दिया। इसका देश में जोरदार विरोध हुआ, मौलाना भी उसमें सम्मिलित थे। वे क्रान्तिकारियों के भी सम्पर्क में आये और कई बार उनकी सहायता की। इसी बीच उन्हें विदेशों की यात्रा करने का

भी अवसर मिला। भारत लौटाने पर मौलाना ने कलकत्ता से 'अलहिलाल' नामक उर्दू साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ किया। यह पत्र बड़ा ही लोकप्रिय हुआ। मौलाना का कहना था कि मुसलमानों का हित राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जुड़े रहने में है, न कि अंग्रेजों का साथ देने में। उनके विचारों से ब्रिटिश सरकार कुपित हो उठी। 'अलहिलाल' से पहले दो बार जमानत माँग कर जब्त की गयी। फिर पत्र को ही जब्त कर लिया। इस पर मौलाना ने 'अलवकाल' नामक पत्र निकाला। किन्तु अंग्रेज सरकार उनके राष्ट्रीय विचारों को कुचलने का निश्चय कर चुकी थी। सन् १९१६ ई० में उन्हें कलकत्ता से निष्कासित करके राँची में नज़रबंद कर दिया गया जहाँ से वे १९२० में ही छूट गये। नज़रबंदी के इन दिनों में मौलाना आजाद ने दो पुस्तकें लिखीं- 'गुबारे खातिर' जिसमें उनके संस्मरण हैं और दूसरी 'कुरआन शरीफ की टिप्पणी'।

राष्ट्रीय नेता :

१९२० में नजरबंदी से रिहा होने के बाद मौलाना आज़ाद दिल्ली में गाँधी जी से मिले और वे कांग्रेस के आन्दोलन से जुड़ गये। उन्होंने देश के कोने-कोने में जाकर गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन का सन्देश लोगों को सुनाया। आन्दोलन आरम्भ होने पर १९२१ ई० में अन्य नेताओं के साथ मौलाना आज़ाद भी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक वर्ष की सजा हुई। मुकदमें के समय अदालत में मौलाना आज़ाद ने कहा था- "गुलामी की जंजीरों के लिए चाहे कितने ही खूबसूरत अल्फाज़ दिये जायँ फिर भी गुलामी-गुलामी है और खुदा व कुदरत के कानून के खिलाफ़ है। अपने मुल्क की गुलामी से छुटकारा दिलाना मेरा फ़र्ज है"।

जेल से छूटने पर मौलाना आजाद पूरे देश के नेता थे। कांग्रेस के १९२३ के सम्मेलन का उन्हें सभापति बनाया गया। उस समय उनकी उम्र केवल ३५ वर्ष थी। तब तक इतनी कम उम्र को कोई भी व्यक्ति कांग्रेस का सभापति नहीं बना था। नमक सत्याग्रह के समय और गोलमेज सम्मेलन असफल होने के बाद मौलाना आज़ाद फिर जेल में डाले गये। अंतिम बार वे १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय गिरफ्तार किये गये। जिस समय गाँधी जी ने यह आन्दोलन आरम्भ किया उस समय भी मौलाना आज़ाद ही कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने छह वर्ष तक कांग्रेस की अध्यक्षता की।

१९४५ ई० में नेताओं की रिहाई के बाद भारत की स्वतन्त्रता के लिए

विचार-विमर्श के कई दौर चले। इनमें मौलाना आज़ाद ने प्रमुख रूप से भाग लिया। १९४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो मौलाना आज़ाद को नेहरू जी के मन्त्रिमण्डल में शिक्षा मन्त्री का पद दिया गया। ग्यारह वर्ष तक वे इस पद पर रहे। २२ फरवरी १९५८ ई० को उनका देहांत हो गया।

मौलाना आज़ाद राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख नेता तो थे ही वे उर्दू भाषा के प्रथम कोटि के विद्वान, पत्रकार और लेखक थे। वे बड़े ही कुशल वक्ता थे। अपनी इन योग्यताओं से उन्होंने बड़े कठिन समय में देश की सेवा की थी। उनके निधन पर पंडित जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि- 'हमारे काफ़िले का अमीर (नेता) चला गया।'

मौलाना आज़ाद सभी धर्मों का आदर करते थे। अपनी पुस्तक 'तर्जुमान-आल-कुआर्ने' में उन्होंने लिखा है- 'सभी धर्मों का आदर करना इस्लाम का मूल सिद्धान्त है क्योंकि सभी धर्मों में 'दीने' अथवा 'मूल तत्त्व' एक ही है। धार्मिक आस्था के साथ उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे भारत के विभाजन के कट्टर विरोधी थे क्योंकि धर्म के आधार पर राष्ट्र भी दो होने चाहिए यह बात उनको कदापि स्वीकार नहीं थी।

राष्ट्रवादी होते हुए भी मौलाना आज़ाद का दृष्टिकोण व्यापक था। वे सभी देशों की स्वतन्त्रता के समर्थक थे। वे चाहते थे कि सब को न्याय मिले, आपस में भाई-चारा हो, सब को अपने विकास का रास्ता चुनने का अधिकार है।

प्रथम कोटि के राष्ट्रवादी देश भक्त, विद्वान, लेखक, पत्रकार और शिक्षा शास्त्री के रूप में मौलाना आज़ाद का योगदान सदा याद किया जायगा।

१६४३ (प्रा०) चन्द्रमणिपुरी,
इंदिरा नगर (मध्य),
रायबरेली।

महात्मा गाँधी

—कौशलेन्द्र पाण्डेय

महात्मा गाँधी का पूरा नाम मोहन दास करमचन्द गाँधी था, करमचन्द इनके पिता थे तथा इनकी माता का नाम पुतली बाई था। पुतली बाई का अधिकांश समय पूजा–पाठ में व्यतीत होता। उनकी परमेश्वर पर बड़ी आस्था थी। २ अक्टूबर १८६९ ई० को पोरबंदर में मोहनदास का जन्म हुआ। इस कारण उनका बचपन पोरबंदर में ही बीता। वहीं पर देहाती पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा हुई। बाद में इनके पिता राजकोट के दीवान नियुक्त हुए तो मोहनदास भी वहीं आ गये।

बचपन :

बचपन में मोहनदास कुछ झेंपू स्वभाव के थे। दूसरे लड़कों की सोहबत में उन्होंने कई गल्तियाँ भी कीं, लेकिन एक बहुत बड़ा गुण उनके अंदर था। ज्योंही वह समझते कि उनसे कोई अनुचित काम हो रहा है, तुरन्त अपनी गलती स्वीकार करते। साथ ही फिर वैसी गलती नहीं करते थे। अपने पिता का वह बड़ा सम्मान करते थे। उन्हें 'श्रवण कुमार की पितृ भक्ति' पुस्तक पढ़ने को मिली तो उन्होंने उसी के अनुसार बनने का प्रयत्न किया। इसी तरह 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक देखकर उन्होंने निश्चय किया कि चाहे जितने संकट आ जायँ वह सत्य के मार्ग से नहीं डिगेंगे।

सन् १८८७ में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की और सितम्बर १८८८ में बैरिस्ट्री पढ़ने के लिए विलायत चले गये। लंदन में उन्होंने कुछ दिन अपने को पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में ढालने में लगाये। किन्तु शीघ्र ही विभिन्न महापुरुषों की जीवनियों के प्रभाव से वह समझ गये कि सादा जीवन ही उत्तम जीवन है। इसके बाद उन्होंने अपना पूरा ध्यान अध्ययन में लगाया।

दक्षिण अफ्रीका में :

बैरिस्टर बनने के बाद सन् १८९१ में उन्होंने बम्बई में वकालत शुरू की। इसके

बाद ही पोरबंदर के एक व्यवसायी का मुकदमा लड़ने के लिए गाँधी जी चौबीस वर्ष की उम्र में दक्षिण अफ्रीका गये। वहाँ उन्हें काले रंग, हिन्दुस्तानी पहनावे और एक पराधीन देश का निवासी होने के कारण स्थान-स्थान पर अपमान झेलने पड़े। प्रथम श्रेणी का रेल का टिकट होने पर भी गोरों ने उन्हें सामान सहित रेल के डिब्बे से बाहर फेंक दिया। उनके ऊपर पत्थर बरसाये गये। पगड़ी पहन कर उन्हें मुकदमे में नहीं जाने दिया गया। इसी तरह वहाँ के अन्य भारतीयों को भी अपमानित होना पड़ता था। यह दशा देखकर गाँधी जी बहुत दुःखी हुए। उन्होंने सभी भारतीय मूल के लोगों में आत्म सम्मान की भावना जाग्रत की। उन्हें साथ लेकर आन्दोलन चलाया और जेल की यातनाएँ सहीं। इससे भारतीयों के प्रति होने वाले अत्याचार कुछ कम हुए।

भारत के एक मात्र नेता :

अफ्रीका में गाँधी जी द्वारा चलाये गये इस आन्दोलन के समाचार भारत पहुँचे तो वे समस्त देशवासियों की नजरों में चढ़ गये। दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर जन नेता के रूप में उनका भारी स्वागत किया गया। इस प्रकार पेशे से वकील श्री मोहनदास करमचन्द गाँधी भारतीय राजनीति में आये। १९१५ में गाँधी जी ने अन्तिम बार दक्षिण अफ्रीका से वापस आने पर देश का भ्रमण किया। चम्पारन में उन्होंने जो साहस दिखाया उससे उनका सम्मान और भी बढ़ा।

अंग्रेजों ने वायदा किया था कि पहले विश्व युद्ध में, जो सन् १९१४ में आरम्भ हुआ था, भारत की मदद से यदि वे विजयी होते हैं तो इस देश को स्वशासन के अधिकार दिये जायेंगे। किन्तु बाद में वे अपनी बात से मुकर गये। यही नहीं देश की स्वतन्त्रता की माँग को दबाने के लिए उन्होंने 'रौलट एक्ट' लागू कर दिया।

असहयोग आन्दोलन :

गाँधी जी पर अंग्रेजों के इस व्यवहार का बड़ा जबरदस्त असर पड़ा। जब ब्रिटिश सरकार ने रौलट एक्ट वापस नहीं लिया तो गाँधी जी ने उसके विरोध में पूरे देश में असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा- 'हम विदेशी सरकार से किसी तरह का सम्बन्ध न रखें। लोग अदालतों का बहिष्कार करें। विद्यार्थी सरकारी स्कूलों से बाहर आकर राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़ें। विदेशी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं का पूरी तरह से बहिष्कार किया जाय। जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के

कारण देश में असंतोष की आग और भी भड़क उठी थी।

इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। अनेक प्रमुख वकीलों ने वकालत छोड़ दी। विद्यार्थी बाहर आ गये। जगह-जगह विदेशी वस्त्रों की होली जलायी गयी। खादी का प्रचलन भी इसी समय आरम्भ हुआ। यह आन्दोलन जोरों पर था कि उत्तर प्रदेश की चौरी-चौरा की एक घटना के कारण गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने राजद्रोह का मुकदमा चला कर छह वर्ष के लिए गाँधी जी को जेल में डाल दिया। जिस समय गाँधी जी जेल से रिहा हुए, विदेशियों के षड़यन्त्र से देश में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। इन्हें रोकने के लिए उन्होंने इक्कीस दिन का लम्बा उपवास किया।

१९३० ई० में गाँधी जी ने नमक कर का विरोध करने के लिए 'डांडी मार्च' किया। इससे देश में बड़ी जागृति आयी और लोग निर्भय होकर जगह-जगह नमक बनाने तथा अंग्रेजों का कानून तोड़ने लगे। सरकारी दमन के बाद भी लोगों का उत्साह बढ़ता रहा। इससे अंग्रेज शासकों की नींद हराम हो गयी। दूसरे ही वर्ष गाँधी जी को गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन जाने का निमन्त्रण दिया गया। वहाँ भी उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में भारत की आजादी की हिमायत की। परिणामस्वरूप कुछ दिन के आन्दोलन के बाद अंग्रेज भारतीयों को आन्तरिक स्वशासन के कुछ अधिकार देने के लिए तैयार हुए और प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने।

गाँधी जी ने अपना समय और शक्ति हरिजनों के उद्धार, छुआछूत के निवारण, हिन्दू-मुस्लिम एकता, महिलाओं के उत्थान और चर्खा तथा खादी के प्रचार में लगाया।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन :

१९३९ ई० में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। अंग्रेजों ने पुनः चाहा कि भारत के लोग तथा सेनाएं प्रथम विश्व युद्ध की भाँति ही इसमें भी सहयोग करें। किन्तु गाँधी जी ने ऐसा करने से साफ मना कर दिया। उन्होंने सम्पूर्ण स्वराज्य की माँग को दोहराया। उन्होंने कहा- 'देश की पूरी तरह से आजादी उनका प्रथम लक्ष्य है।' कुछ समय बाद अंग्रेजों के विरुद्ध जापान भी युद्ध में कूद पड़ा। इससे भारत के लिए

और भी खतरा पैदा हो गया।

अब गाँधी जी ने साफ–साफ कहा कि अंग्रेज तुरंत भारत से चले जायँ। इसके लिए उन्होंने ८ अगस्त १९४२ ई० को 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ करने की घोषणा की। इस पर गाँधी जी तथा अन्य नेता तत्काल पकड़ लिये गये। लेकिन देश की जनता ने अंग्रेजी शासन की जड़ें हिलाने के लिए पूरी शक्ति से आन्दोलन चलाया। लोगों ने अकल्पित कष्ट उठाये और बड़ी संख्या में शहीद हुए।

गाँधी जी को गिरफ्तारी के बाद पूना के आगाखाँ महल में कैद में रखा गया था। वहाँ उन्हें दो आघात सहने पड़े। पहले उनके सचिव महादेव देसाई का देहान्त हो गया और फिर २२ फरवरी १९४४ का आगाखाँ महल के अन्दर ही कस्तूरबा भी चल बसीं।

इसी बीच एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटी। १९४१ ई० में नेता जी सुभाष चन्द्र बोस अंग्रेजों की पुलिस की आँखों में धूल झोंककर सिंगापुर जा चुके थे। वहाँ उन्होंने आज़ाद हिन्द फ़ौज का गठन किया। इस फौज ने भारत की पूर्वी सीमा में अंग्रेजों की फौज का सामना भी किया था। इसका प्रभाव अंग्रेजों की सेना के भारतीय सैनिकों के मनोबल पर पड़ा।

गाँधी जी के नेतृत्व में चले आंदोलनों से भारतवासियों में पर्याप्त राजनीतिक जागृति पैदा हो चुकी थी। युद्ध में विजयी होने पर भी ब्रिटेन जर्जर हो चुका था। किसी नये आंदोलन का सामना करने की ताकत उसमें नहीं रह गयी थी। इसलिए पहले गाँधी जी को तथा बाद में अन्य नेताओं को जेल से छोड़ दिया गया। भारत से अपना जाना निश्चित देखकर अंग्रेजों ने एक कुटिल चाल अवश्य चली। वे मुस्लिमों के नेता मुहम्मद अली जिन्ना के साथ मिलकर देश का विभाजन कर गये। गाँधी जी को भारी मन से यह कड़ुवा घूँट पीना पड़ा। भारी खून--खराबे के बीच १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ और बापू के नेतृत्व में हमें दासता से मुक्ति मिली।

हे राम!:

गाँधी जी महान संत थे। उन्होंने मनसा, वाचा, कर्मणा समस्त देशवासियों को भारतीय समझा। वे जाति, धर्म या मजहब, भाषा या प्रदेश के आधार पर किसी को

भी भिन्न नहीं मानते थे। वे सभी को एक ही ईश्वर की संतान मानते थे। वे यही शिक्षा देते थे कि किसी प्रकार विभिन्नता के बावजूद लोग परस्पर मिल कर एक ही परिवार के सदस्यों की तरह रहें। छोटी-छोटी बातों में लड़-झगड़कर अपने ही भाइयों का खून न बहायें।

देश की आजादी के तुरन्त बाद साम्प्रदायिक दंगों की आग यत्र-तत्र फैल रही थी। इस आग को रोकने के लिए वे नौआखाली गये, दिल्ली में आमरण अनशन आरम्भ किया तथा अपने उद्देश्य में सफल भी रहे। लेकिन इसके लिए उन्हें अपने प्राणों की आहुति भी देनी पड़ी। अत्यन्त दुखद अनहोनी घटित हुई। ३० जनवरी, १९४८ ई० को संध्या के समय दिल्ली में जब वे अपनी प्रार्थना सभा में जा रहे थे, नाथूराम गोडसे नामक एक नराधम ने लगातार तीन गोलियों से इस महापुरुष के जीवन का अंत कर दिया। उनके मुँह से 'हे राम' निकला और वें सदा के लिए सो गये।

यह समाचार मिलते ही सम्पूर्ण राष्ट्र दुख के सागर में डूब गया था। सभी को लगा जैसे भारतवर्ष निर्जीव हो गया है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था- 'हमारी जिन्दगी में जो ज्योति थी वह बुझ गयी और अब चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा है।' विश्व के सब देशों ने इस महान आत्मा के सम्मान में अपने-अपने झंडे झुका दिये थे। सर्वत्र श्रद्धांजलियाँ भेंट की गयीं। अपार जन समूह उनकी अन्तिम यात्रा में सम्मिलित हुआ।

राष्ट्रपिता बापू ने 'सत्य के प्रयोग' नाम से आत्मकथा लिखी है। गाँधी जी ने कभी भी अपने शिक्षकों को धोखा नहीं दिया। उन्होंने परीक्षा में कभी किसी दूसरे की नकल नहीं की। साधारणतः वे स्कूली पुस्तकों को ही पढ़ते थे। किन्तु जब एक बार उनके पिता 'श्रवण पितृभक्ति' नामक पुस्तक खरीद कर लाये तो गाँधी जी ने उसे बड़े मनोयोग से पढ़ा। उनकी 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक को बार-बार देखने की इच्छा होती थी। गाँधी जी कहते थे कि सभी बच्चों को श्रवण की तरह होना चाहिए तथा राजा हरिश्चन्द्र की तरह विपत्तियों को नकार कर प्रत्येक दशा में सत्य का पालन करना चाहिए। खेलों में गाँधी जी की रुचि नहीं थी, किन्तु बाद में उन्होंने समझा की खेलों के प्रति उनकी अरुचि उचित नहीं थी तथा विद्याभ्यास के दौरान शारीरिक शिक्षा

का स्थान मानसिक शिक्षा के समान ही होना चाहिए। वे सब भाषाओं का सम्मान करते थे। उनका अत्यन्त प्रिय भजन था– 'वैष्णव जन तो तैने कहिये जे पीर पराई जाणैरे'।

देश की पराधीनता के कारण गाँधी जी का समय अधिकतर स्वतन्त्रता संग्राम में बीता। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने समाज सुधार के कामों में भी बहुत रुचि ली। महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने का बहुत बड़ा श्रेय उन्हीं को है। सत्य और अहिंसा को वे सबसे अधिक महत्त्व देते थे। रहन–सहन और खान–पान में उनकी सादगी चरम सीमा तक पहुँची हुई थी। अछूत समझे जाने वाले लोगों को समानता का अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने स्वयं भी दूसरों का मलमूत्र साफ किया। चर्खा, खादी और स्वदेशी उनके जीवन के अभिन्न अंग थे। शरीरिक श्रम को वे पूजा मानते थे और सब धर्मों का समान आदर करते थे। भारत भाग्यशाली है कि उसे ऐसे महापुरुष का नेतृत्व मिला।

सी–१३/१,
पेपर मिल कालोनी,
लखनऊ।

आचार्य नरेन्द्रदेव

—निरंजन कुमार सिंह

सन् १९१९–२० की बात है। उस समय हमारे देश पर अंग्रेज़ों का शासन था। अंग्रेजी सरकार के जुल्म और अत्याचार से पूरे देश में असंतोष और विद्रोह की ज्वाला धधक रही थी। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अंग्रेजी दासता से देश को छुटकारा दिलाने के लिए असहयोग आन्दोलन का बिगुल फूँका था।

गाँधी जी की पुकार ने जादू का सा असर किया। अनेक सरकारी अफसरों और कर्मचारियों ने नौकरी छोड़ दी, बड़े–बड़े नामी वकीलों ने वकालत छोड़ दी। हजारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल और कॉलेज छोड़ दिये और ये सभी असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े।

वकालत छोड़कर आजादी की लड़ाई में शामिल होने वाले वकीलों में आचार्य नरेन्द्र देव का विशेष स्थान था। वे एक नामी वकील तो थे ही, पर साथ ही बड़े विद्वान भी थे। अनेक भाषाओं के अच्छे ज़ानकार थे और अच्छे वक्ता थे। उनमें राष्ट्रीयता की भावना कूट–कूट कर भरी हुई थी। महात्मा जी की पुकार पर उन्होंने क्षण भर की भी देरी नहीं की और वकालत पर लात मारकर आजादी की लड़ाई में शामिल हो गये।

नरेन्द्र देव का जन्म ३० अक्टूबर सन् १८८९ को सीतापुर में हुआ। उनका नाम अविनाशी लाल रखा गया। उनके पिता श्री बलदेव प्रसाद एक नामी वकील थे। उनका पैतृक निवास फैजाबाद में था। अविनाशी लाल के जन्म के दो वर्ष बाद श्री बलदेव प्रसाद फैज़ाबाद आ गये और वहीं वकालत करने लगे। वहाँ की उनकी वकालत खूब चल निकली।

श्री बलदेव प्रसाद के एक घनिष्ठ मित्र थे पंडित माधव प्रसाद मिश्र। वे बड़े देशभक्त और अच्छे लेखक थे। उन्होंने बालक अविनाशी लाल का नाम बदलकर नरेन्द्रदेव रखा और आगे चलकर यही नाम सारे देश में प्रसिद्ध हुआ।

नरेन्द्रदेव के पिता श्री बलदेव प्रसाद बड़े देशभक्त और धार्मिक भावना के

व्यक्ति थे। उनका जीवन बड़ा ही सरल और सादा था। वे बच्चों को सदा यही सिखाते थे कि सच बोलो, कुछ भी हो पर झूठ मत बोलो, बड़ों का अदब करो, घर पर कोई आये तो उसका उचित स्वागत-सत्कार करो, बातचीत और व्यवहार में नम्रता बनाये रखो, बीड़ी-सिगरेट पीने की बुरी आदत से बचे रहो। बालक नरेन्द्र पर पिता की इस शिक्षा की गहरी छाप पड़ी। उनमें ये अवगुण कभी नहीं आये। शिष्टाचार और सच्चरित्रता के तो वे अवतार थे।

धर्म और संस्कृति की शिक्षा :

नरेन्द्र देव के घर पर प्रायः साधु-सन्तों का आवागमन होता रहता था। संतों और विद्वानों की बातें सुनने में नरेन्द्र देव को बड़ा आनन्द आता था। एक बार उनके घर स्वामी रामतीर्थ आये। उनके उपदेश पर तो नरेन्द्र देव अत्यन्त मुग्ध हो गये। बड़े होने पर उन्होंने लिखा कि 'स्वामी रामतीर्थ के चेहरे पर बड़ा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बाद में मैंने उनके ग्रंथों का अध्ययन किया।'

घर के इस वातावरण का नरेन्द्रदेव के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनमें धर्म तथा संस्कृति के अध्ययन के प्रति गहरी रुचि पैदा हो गयी।

बालक नरेन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। उनके पिता ने बच्चों के लिए हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू की पाठ्य पुस्तकें लिखीं। इन्हीं पुस्तकों से नरेन्द्र का पढ़ना लिखना शुरू हुआ। बाबू बलदेव प्रसाद प्रतिदिन कुछ समय तक अवश्य पढ़ाते थे। उन्होंने घर पर एक छोटा सा पुस्तकालय भी खोल रखा था। इससे नरेन्द्रदेव में अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़ने की आदत पड़ गयी। बचपन में ही उन्होंने रामचरित मानस, महाभारत आदि पुस्तकें पढ़ डालीं। गीता के अधिकतर श्लोक उन्हें कंठस्थ हो गये थे। महाराष्ट्र के एक विद्वान उन्हें सस्वर वेद पाठ सिखाते थे। नरेन्द्रदेव के संस्कृत के शुद्ध उच्चारण सुनकर लोग चकित रह जाते थे और बड़ी सराहना करते थे।

शिक्षा और राजनीति साथ-साथ :

घर के वातावरण से नरेन्द्रदेव को देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना की भी शिक्षा मिली। बाबू बलदेव प्रसाद राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यों में भाग लेते थे। सन् १८९९ में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। इस अधिवेशन में बाबू बलदेव प्रसाद के साथ नरेन्द्र देव भी गये। उस समय उनकी उम्र केवल १० वर्ष की थी। यह

देशभक्ति आगे चलकर उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम में खींच लायी।

नरेन्द्रदेव बड़े प्रतिभाशाली छात्र थे। विद्यालय की परीक्षाओं में वे हमेशा सर्वप्रथम स्थान पाते थे। उनके शिक्षक उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। सन् १९०४ में पंडित मदन मोहन मालवीय फैजाबाद आये। वे बाबू बलदेव प्रसाद से मिलने उनके घर आये। वे नरेन्द्रदेव की कुशाग्र बुद्धि देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्हीं की सलाह पर नरेन्द्रदेव एण्ट्रेंस पास करने के बाद इलाहाबाद पढ़ने गये और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे।

हिन्दू बोर्डिंग हाउस उस समय राजनीति का केन्द्र था। पंडित सुन्दर लाल छात्रों के नेता थे। पंडित गोविन्द बल्लभ पंत भी इसी बोर्डिंग हाउस में थे। इस वातावरण में नरेन्द्रदेव की देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना और भी पक्की हो गयी। यहीं उनका सम्पर्क अंग्रेजी शासन के खिलाफ लड़ने वाले क्रांतिकारियों से भी हुआ। उन्होंने लाला हरदयाल, श्याम जी कृष्ण वर्मा और दामोदर विनायक सावरकर के लेख पढ़े और क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित हुए।

लोकमान्य के समर्थक :

सन् १९०४ में अंग्रेजों ने बंगाल को दो हिस्सों में बाँट दिया था। सारे देश ने इस विभाजन का जोरदार विरोध किया। यह विरोध 'बंग-भंग' आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। इस आंदोलन के नेताओं में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष का नाम सारे देश में फैल चुका था। बाल गंगाधर तिलक का कहना था– 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।' कांग्रेस में इन नेताओं के दल को 'गरम दल' कहा गया। नरेन्द्रदेव के मन पर इस आन्दोलन का बहुत प्रभाव पड़ा और वे लोकमान्य तिलक के पक्के समर्थक बन गये।

इस प्रकार नरेन्द्रदेव अपनी पढ़ाई के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े रहे, पर अपने अध्ययन में उन्होंने कमी नहीं आने दी। हाई स्कूल, इण्टर और बी० ए० की परीक्षाओं में वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। प्राचीन इतिहास, संस्कृत और पुरातत्त्व के अध्ययन में उनकी विशेष रुचि थी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० करने के बाद वे क्वीन्स कॉलेज, काशी में पढ़ने गये। वहाँ से उन्होंने संस्कृत में एम० ए० किया और पुरातत्त्व का भी विशद अध्ययन किया। सन् १९१५ में वे एल- एल० बी० पास करके फैजाबाद आये और वकालत करने लगे। अब उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलनों

में खुलकर भाग लेने का अवसर मिला।

राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल :

लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बेसेण्ट ने सन् १९१५ में 'होम रूल लीग' की स्थापना की। नरेन्द्रदेव ने इसकी शाखा फैजाबाद में खोली। लीग की ओर से राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए सभाएँ आयोजित होने लगीं। इन सभाओं में नरेन्द्रदेव को भाषण देने पड़ते थे। शीघ्र ही वे एक कुशल और प्रभावशाली वक्ता बन गये।

सन् १९१६-१७ में देश के राजनैतिक रंग-मंच पर महात्मा गाँधी का आगमन हुआ। कुछ ही समय में वे कांग्रेस के सर्वमान्य नेता बन गये। उन्होंने देश को आज़ाद कराने के लिए जनव्यापी आन्दोलन शुरू किया। कांग्रेस का प्रचार गाँव-गाँव होने लगा। लाखों किसान और मजदूर काँग्रेस में शामिल हो गये। सन् १९१९ में पूरे भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन तेज होता गया। इसी समय जलियांवाला बाग हत्या काण्ड से सारे देश में तहलका मच गया। इस दर्दनाक घटना पर गाँधी जी ने कहा- 'यह शैतानी हुकूमत है और इससे सहयोग करना महा पाप है।' उन्होंने अंग्रेजी शासन के खिलाफ सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ दिया। उनकी पुकार पर लाखों देशभक्त इस आन्दोलन में कूद पड़े। नरेन्द्रदेव ने भी वकालत छोड़ दी और सत्याग्रह आन्दोलन में शामिल हो गये।

काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक :

गाँधी जी ने सरकारी स्कूलों और कालेजों की शिक्षा का विरोध किया और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया। उनके इस विचार से प्रेरित होकर काशी के महान राष्ट्रसेवी बाबू शिव प्रसाद गुप्त ने सन् १९२१ में काशी विद्यापीठ की स्थापना की। वे नरेन्द्रदेव के सहपाठी रह चुके थे और उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से परिचित थे। उन्होंने नरेन्द्रदेव को काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक के पद पर बुला लिया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी नरेन्द्रदेव को काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक होने की सलाह दी थी। देश के प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० भगवानदास काशी विद्यापीठ के अध्यक्ष थे। उन्होंने नरेन्द्रदेव को उपाध्यक्ष बना दिया। सन् १९२६ में डॉ० भगवानदास ने स्वयं अध्यक्ष पद छोड़ दिया और नरेन्द्रदेव को अध्यक्ष बनाया। नरेन्द्रदेव अध्यापन कार्य के साथ-साथ अध्यक्ष पद का उत्तरदायित्व भी बड़ी योग्यता और कुशलता से निभाते रहे। सभी प्राध्यापक और छात्र उनका बड़ा सम्मान करते थे। उनकी विद्ववत्ता, अध्यापन-कुशलता, वक्तृत्व कला के साथ-साथ सरलता,

त्याग, विनम्रता आदि गुणों ने सबका हृदय जीत लिया था। काशी विद्यापीठ में इसी सम्मान के कारण उनके नाम के साथ 'आचार्य' की पदवी का प्रयोग होने लगा। फिर तो वे 'आचार्य जी' के नाम से ही पुकारे जाने लगे।

काशी विद्यापीठ के जीवन काल में वे राष्ट्रीय आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। उन्हें अनेक बार जेल जाना पड़ा, पर जेल से छूटते ही वे फिर काशी विद्यापीठ में आ जाते और राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लेते रहते। इसी कारण उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा है कि 'मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियाँ रहीं हैं- एक पढ़ने-लिखने की और दूसरी राजनीति की। यदि दोनों की सुविधा एक साथ मिल जाय तो मुझे बड़ा संतोष रहता है। यह सुविधा मुझे विद्यापीठ में मिली। इसी कारण मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा वह है जो विद्यापीठ की सेवा में व्यतीत हुआ और आज भी मैं उसे अपना कुटुम्ब समझता हूँ।'

समाजवादी विचारधारा के समर्थक :

आचार्य नरेन्द्र देव समाजवादी विचारधारा के समर्थक थे। उनका विश्वास था कि समाजवाद को अपनाने से ही देश की गरीबी दूर हो सकती है, धनी-निर्धन की खाई पाटी जा सकती है।

समाजवादी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए सन् १९३४ में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। आचार्य नरेन्द्रदेव इसके अध्यक्ष बने और जयप्रकाश नारायण इसके मन्त्री। इसके प्रयत्न से सन् १९३६ में 'अखिल भारतीय किसान सभा' की स्थापना हुई। अब आचार्य जी का कार्यक्षेत्र पूरे देश में फैल गया। सन् १९३९ में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू काँग्रेस के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने आचार्य जी को अपनी कार्यकारिणी समिति में शामिल कर लिया। पंडित नेहरू उनका बहुत सम्मान करते थे।

महान शिक्षाविद् :

आचार्य नरेन्द्रदेव की विद्वत्ता और ज्ञान की ख्याति पूरे देश में फैल गयी थी। देश के सभी नेता उन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। गाँधी जी ने तो उन्हें महान नर-रत्न कहा था।

आचार्य जी अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, बँगला, अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा अच्छी तरह जानते थे। हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी

में तो वे धारा प्रवाह भाषण देते थे। एक महान शिक्षक के रूप में वे विख्यात थे। शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही क्रान्तिकारी थे। १९३७-३८ में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल का शासन था। उस समय प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए जो आयोग बनाया गया, आचार्य जी उसके अध्यक्ष बनाये गये। उस आयोग की रिपोर्ट आज भी शिक्षा शास्त्रियों के लिए आदर्श बनी हुई है।

आचार्य जी इस बात पर बहुत बल देते थे कि हिन्दी को ही प्रारम्भ से उच्च स्तर तक की शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए। उनका यह भी कहना था कि भारत में राष्ट्रीय एकता बनाये रखने के लिए सभी विश्वविद्यालयों में राष्ट्रभाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम होना चाहिए।

महान शिक्षाविद् होने के कारण ही आचार्य जी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लखनऊ विश्वविद्यालय और फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति बनाये गये। इन दोनों विश्वविद्यालयों में उन्होंने शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाया, अनुशासन पर विशेष बल दिया। ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया कि लोग आज भी बड़ी श्रद्धा से उन्हें याद करते हैं। आज़ादी की लड़ाई के दिनों में आचार्य जी को अनेक बार जेल जाना पड़ा था। जेल में उनका स्वास्थ्य बिगड़ता गया और वे दमा के रोग से पीड़ित रहने लगे। दिनोंदिन उनका शरीर दुर्बल होता गया। अस्वस्थ होने पर भी वे देश सेवा में लगे रहे। फल यह हुआ कि बीमारी और भी बढ़ती गयी। फरवरी १९५६ में वे विश्राम तथा स्वास्थ्य लाभ के लिए अपने घनिष्ठ मित्र श्री श्रीप्रकाश के यहाँ मद्रास गये थे। श्री श्रीप्रकाश उस समय मद्रास के राज्यपाल थे। मद्रास के पास पेंडुराई में आराम के लिए आचार्य जी को रखा गया था, पर उनका शरीर साथ नहीं दे सका। १९ फरवरी सन् १९५६ को उनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के समाचार से सारे देश में शोक की लहर छा गयी। अत्यन्त शोक विह्वल होकर नेहरू ने कहा– "आचार्य जी दुर्लभ गुणों की खान थे।"

जे १३/९३ काटन मिल कालोनी,
चौकाघाट, वाराणसी।

पंडित जवाहरलाल नेहरू

—लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

पंडित जवाहरलाल नेहरू का आज के भारत के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। गाँधी जी के नेतृत्व में हमने स्वतन्त्रता प्राप्त की। नेहरू जी ने देश के प्रथम प्रधानमन्त्री के रूप में इस स्वतन्त्रता को पक्की नींव पर खड़ा किया। उनका जन्म ऐसे घर में हुआ था, जहाँ धन–दौलत की कोई कमी नहीं थी। आगे चलकर वे स्वयं भी इतने योग्य हो गये थे कि चाहते तो धन कमाकर सुख से जीवन बिता सकते थे। परन्तु उनके अन्दर बचपन से ही देश–प्रेम की भावना भरी हुई थी। इसलिए उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने और देश के लिए कष्ट सहन करने का मार्ग अपनाया।

हृदय सम्राट और चाचा :

जवाहरलाल नेहरू बड़े लोकप्रिय नेता थे। युवक उन्हें अपना 'हृदय सम्राट' मानते थे। बच्चों के 'चाचा नेहरू' तो वे जीवन भर बने रहे। इसी प्यार की याद में, उनका जन्म दिन १४ नवम्बर को प्रतिवर्ष बाल दिवस के रूप में मनाया जाता है। लोग उनकी एक झलक देखने के लिए मीलों पैदल चल कर आते और घंटों खड़े रहते थे। गाँधी जी उन्हें हृदय से चाहते थे। उन्होंने नेहरू जी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

सुख–चैन का बचपन :

पंडित जवाहरलाल नेहरू का जन्म १४ नवम्बर १८८९ ई० को इलाहाबाद में हुआ था। उनके पिता पं० मोती लाल नेहरू अपने समय के बड़े प्रसिद्ध और धनी वकील थे। माता स्वरूप रानी धार्मिक विचारों की महिला थीं। जवाहरलाल का बचपन आराम से बीता। किसी चीज की कमी न थी। घर पर पढ़ाने के लिए अंग्रेज

शिक्षक थे। माँ से रामायण की कहानियाँ सुनने को मिलतीं। मोतीलाल जी के एक मुंशी मुबारक अली थे उनसे जवाहर लाल जी को १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम की घटनाओं की जानकारी मिली। इस तरह वे बचपन में ही अंग्रेजों के अत्याचारों से परिचित हो गये थे।

इंग्लैण्ड में शिक्षा :

पन्द्रह वर्ष के जवाहर लाल को १९०५ ई० में पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेजा गया। लगभग सात वर्ष वे वहाँ रहे। उन्होंने विज्ञान और कानून की शिक्षा पायी और बैरिस्टर बने। इंग्लैण्ड में भारत की भाँति गुलामी का वातावरण नहीं था। इसका नेहरू जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने संसार के विभिन्न देशों के स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास पढ़ा। लन्दन में रहने पर भी वे भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में परी रुचि लेने लगे थे। उनके विचार लोकमान्य तिलक के गरम विचारों से मिलते थे।

नेहरू जी १९१२ ई० में बैरिस्टर बन कर लंदन से भारत लौटे। उसी वर्ष बिहार में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। अपने पिता के साथ जवाहरलाल जी ने भी उसमें भाग लिया। उन्होंने इलाहाबाद में वकालत शुरू की और साथ-साथ राजनीतिक कार्यों में भी रुचि लेने लगे।

गाँधी जी के सम्पर्क में :

१९१६ ई० में जवाहर लाल जी का विवाह कमला कौल के साथ हुआ। उसी वर्ष लखनऊ काँग्रेस में उनकी गाँधी जी से भेंट हुई। कुछ ही दिनों बाद गाँधी जी बिहार के चंपारन जिले में पहुँचे। वहाँ गोरे लोग किसानों से बल पूर्वक नील की खेती करवाते और उनका शोषण करते थे। वहाँ गाँधी जी ने जो साहस दिखाया उसका जवाहरलाल जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

लोकमान्य तिलक और ऐनी बेसेंट ने 'होम रूल लीग' नाम की संस्था बनायी थी। जिसका उद्देश्य था भारतवासियों को अपना शासन स्वयं चलाने का अधिकार

दिलाना। नेहरूजी ने इस संस्था में भी काम किया।

काले कानून का विरोध :

सन् १९१४ से १९१८ तक पहला विश्व युद्ध चला। भारत की स्वतन्त्रता के लिए इस बीच दो तरह के काम चल रहे थे। क्रान्तिकारियों का मानना था कि अंग्रेजों के शत्रुओं से सहायता लेकर भी सम्भव हो तो देश को स्वतन्त्र कर लिया जाय। दूसरी ओर ऐसे भी नेता थे जो ब्रिटेन को युद्ध के संकट की घड़ी में परेशान नहीं करना चाहते थे। वे मानते थे कि ब्रिटेन अपनी आजादी को बचाने के लिए लड़ रहा है। इसलिए युद्ध में विजय के बाद वह भारत की स्वतन्त्रता की माँग भी स्वीकार कर लेगा।

लेकिन युद्ध में विजय के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत को और भी दबाने की तैयारी की। उसने 'रौलट एक्ट' नाम का एक कानून पास किया। इसके अनुसार पुलिस का साधारण सिपाही भी किसी आदमी को गिरफ्तार करके जेल में डाल सकता था। उस पर मुकदमा चलाना भी आवश्यक नहीं था। गाँधी जी ने इस कानून को 'काला कानून' का नाम दिया। उन्होंने देशवासियों से पूरी शक्ति के साथ इस कानून का विरोध करने की अपील की। नेहरू जी भी गाँधी जी के साथ इस कानून का विरोध करने के लिए आगे आ खड़े हुए। सारे देश में हड़ताल हुई।

इस पर ब्रिटिश सरकार ने देश भर में और भी अधिक दमन का राज्य कायम कर दिया। इसी समय 'जलियांवाला बाग हत्याकांड हुआ। अमृतसर का जलियावाला बाग चारों ओर से घिरा था। अंग्रेजों की फौज ने बाहर निकलने के एक मात्र रास्ते को रोक लिया। यहाँ से निहत्थे लोगों पर सेना ने बिना चेतावनी के गोलियाँ चला दीं। इस हत्याकांड में एक हजार से अधिक स्त्री, पुरुष, बच्चे शहीद हो गये। घायलों की संख्या भी हजारों में थी।

जवाहरलाल जी पर इन सब घटनाओं का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वे पूरी तरह से स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। वकालत छोड़ दी और गाँधी जी के साथ असहयोग

आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। इसमें जेल जाना साधारण बात थी। पंडित मोतीलाल जी इससे बड़े चिंतित हुए। वे देशभक्त थे पर यह सोच कर ही काँप उठे कि फूलों की सेज पर पला उनका इकलौता बेटा जेल का कष्ट उठाये। लेकिन दोनों पर गाँधी जी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि पिता–पुत्र दोनों ही बार–बार जेल जाते रहे।

लाठियों की मार :

१९२१ ई० में ब्रिटेन के युवराज का देशभर में बहिष्कार किया गया। जवाहर लाल जी इसी सिलसिले में पहली बार गिरफ्तार हुए। उसके बाद तो यह क्रम चलता रहा। स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के कारण वे आठ बार गिरफ्तार हुए और अपनी जवानी के १० मूल्यवान वर्ष उन्होंने जेलों के अन्दर बिताये। अंतिम बार वे १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में गिरफ्तार किये गये थे और १९४५ में जेल से बाहर आये।

आन्दोलन के दिनों में नेहरू जी को पुलिस की लाठियों की मार भी सहनी पड़ी। १९२८ ई० की बात है। अंग्रेज सरकार ने भारत के सम्बन्ध में राय देने के लिए एक कमीशन बनाया। साइमन नाम का अंग्रेज इसका अध्यक्ष था। इसलिए इसका नाम 'साइमन कमीशन' पड़ा। भारतवासियों ने दो कारणों से इसका विरोध किया। पहला कारण यह था कि भारत के सम्बन्ध में राय देने का अधिकार केवल भारतवासियों को है, ब्रिटिश सरकार को नहीं। दूसरे उस कमीशन के सब सदस्य अंग्रेज थे। किसी भारतवासी को उसमें सम्मिलित नहीं किया गया था। इसलिए कमीशन देश में जहाँ–जहाँ गया उसे 'साइमन गो बैक' के नारों का और प्रदर्शन का सामना करना पड़ा था।

ऐसे ही एक प्रदर्शन के नेता लखनऊ में पंडित जवाहरलाल नेहरू और पंडित गोविन्द बल्लभ पंत थे। कमीशन के आते समय वे चारबाग स्टेशन के सामने अपने साथियों के साथ पंक्ति बनाकर शान्त खड़े थे। उसी समय उन लोगों को तितर–बितर करने के लिए घुड़सवार पुलिस ने उनके ऊपर घोड़े छोड़ दिये और उन्हें लाठियों

से पीटा। नेहरू जी की पीठ पर लाठियाँ मारी गयीं। इससे उन्हें चक्कर आने लगा, सारा शरीर थरथराने लगा। उसी समय स्वंयसेवकों ने आगे बढ़कर उनको बचा लिया, अन्यथा कुछ भी हो सकता था। उसी दिन पंडित गोविन्द बल्लभ पंत पर इतनी मार पड़ी कि उसका प्रभाव जीवन भर उनके शरीर पर रहा। पंजाब के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपत राय की तो पुलिस की मार के कारण कुछ दिन बाद मृत्यु ही हो गयी थी।

स्वतन्त्रता की घोषणा :

नेहरू जी बड़े प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे। वे सदा आगे की सोचा करते और देश को भी उस दिशा में ले जाने का प्रयत्न करते। कुछ नेताओं का विचार था कि भारत को ब्रिटिश सरकार के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध बनाये रखना होगा। लेकिन नेहरू जी इसके विरुद्ध थे। उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता से कम कोई चीज स्वीकार नहीं थी। १९२९ की लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। उस समय पंडित जवाहरलाल नेहरू ही कांग्रेस के अध्यक्ष थे।

पूरा परिवार जेल में :

सामान्यतः पिता का प्रभाव पुत्र पर पड़ता है, किन्तु नेहरू जी के सम्बन्ध में इससे भिन्न बात देखने में आती है। पंडित मोती लाला जी नरम विचारों के राजनीतिज्ञ थे। पर जवाहरलाल जी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे और उनका पूरा परिवार गाँधी जी का अनुयायी बनकर आंदोलन में कूद पड़ा। पिता–पुत्र तो जेल गये ही, श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू, कमला नेहरू, विजय लक्ष्मी पंडित, उनके पति रणजीत पंडित, कु० कृष्णा नेहरू, इंदिरा गाँधी, उनके पति फिरोज गाँधी और विजय लक्ष्मी पंडित की पुत्री चन्द्रलेखा कोई भी तो जेल की सजा से नहीं बचा।

जवाहर लाल जी ने जेल का अपना लम्बा समय कई तरह के कार्यों में लगाकर बिताया। पढ़ने–लिखने में उनकी बड़ी रुचि थी। जेल में लिखी हुई उनकी तीन पुस्तकें– 'विश्व इतिहास की झलक', 'मेरी कहानी' और 'भारत की खोज' संसार भर में प्रसिद्ध हुई। इन पुस्तकों के कारण उनकी गणना संसार के चोटी के लेखकों में की

जाती है।

वे जेल में नियम से व्यायाम करते और चर्खा काता करते थे। फूल-पत्तियों की देखभाल करने और चिड़ियों का चहकना-फुदकना देखने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। बरेली की जेल में उन्होंने शीशी के अन्दर काला बिच्छू पाला था वे उसे मक्खियाँ आदि खिलाया करते थे। देहरादून जेल में मैना का एक जोड़ा उनसे बहुत हिल-मिल गया था। वे उन्हें खाना देते थे। कभी खाना देमे में देर हो गयी तो ये पक्षी उनके निकट आकर खाना माँगा करते थे। उसी जेल के किसी अधिकारी के बिलौटे से नेहरू जी की दोस्ती हो गयी थी। वह उन्हीं के पास पड़ा रहता था। जब अधिकारी की बदली हो गयी और वह अपना बिलौटा भी लेता गया तो नेहरू जी को बहुत सुनसान लगा। वहीं एक कुतिया ने पिल्ले दिये तो नेहरू उनकी देखभाल करने लगे थे।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन :

सन् १९३९ और १९४५ के बीच द्वितीय विश्व युद्ध चला। भारत अपनी ओर से इस युद्ध में सम्मिलित नहीं था। किन्तु अंग्रेजों के यहाँ रहने के कारण उनके शत्रुदेशों की ओर से भारत के लिए भी खतरा था। दूसरे, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन ने भारत विरोधी जो नीति अपनायी उसे भी राष्ट्रीय नेता जानते थे। इसलिए गाँधी जी ने कहा- 'अंग्रेज तुरन्त भारत से चले जायँ।' 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का यह प्रस्ताव ८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस ने बम्बई में स्वीकार किया। उसी रात में गाँधी जी नेहरू जी और अन्य कई नेता गिरफ्तार कर लिये गये।

नेताओं की गिरफ्तारी के कारण देश में असंतोष और भी भड़का। सब जगह व्यापक आन्दोलन हुआ। अंग्रेज सरकार ने इसे दबाने में बड़े अत्याचार किये। किन्तु इससे जनता के अन्दर उत्पन्न स्वतन्त्र होने की भावना नहीं दबी। १९४५ में युद्ध समाप्त होते-होते स्थिति बहुत बदल गयी। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की 'आजाद हिन्द फौज' के प्रभाव से भारतीय सेना के मन में भी अंग्रेजों के विरुद्ध विचार पनपने लगे। ऐसी

स्थितियों में अंग्रेजों के सामने नेताओं को जेल से मुक्त करने और उनसे बात करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया।

प्रथम प्रधानमंत्री :

१९४५ ई० में नेहरू जी भी अन्य नेताओं के साथ जेल से बाहर निकले। ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के साथ बातें हुईं। अंग्रेज भारत छोड़ने के लिए बाध्य थे। जवाहर लाल जी ने २ सितम्बर १९४६ को अंतरिम सरकार के उपाध्यक्ष के रूप में केन्द्रीय सरकार की बागडोर अपने हाथ में ली। अंग्रेजों के प्रोत्साहन पर मुस्लिम लीग देश के विभाजन पर अड़ गयी। इसके लिए उसने जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे कराये। अंत में परिस्थितियों से बाध्य होकर कांग्रेस को भी देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा। १५ अगस्त १९४७ को भारत पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया। पंडित जवाहर लाल जी देश के प्रथम प्रधान मन्त्री बने।

उस समय देश के सामने अनेक समस्याएँ थीं। बँटवारे के कारण बेघर होकर आये लाखों लोगों को बसाना था। देश में अन्न का अभाव था। युद्ध के कारण आर्थिक स्थिति भी बहुत बिगड़ चुकी थी। नेहरू जी के नेतृत्व में देश इन समस्याओं का सामना करता हुआ आगे बढ़ा। विदेशों में भी भारत के सम्मान में वृद्धि हुई। एक के बाद दूसरी पंचवर्षीय योजनाएं आरम्भ की गयीं। इनमें कृषि और उद्योग दोनों को पूरा महत्त्व दिया गया। इसी का परिणाम है कि अनाज के मामले में आज हम अपने पैरों पर खड़े हैं।

नेहरू जी संसार में शान्ति चाहते थे। उन्होंने पंचशील के आधार पर सब देशों के साथ मैत्री के सम्बन्ध बढ़ाये। किन्तु १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। इससे नेहरू जी के विश्वास को बहुत बड़ा धक्का लगा। उन्होंने जीवन भर देश की स्वतन्त्रता और उसे आगे बढ़ाने के लिए काम किया था। गाँधी जी के बाद वे स्वयं को बहुत अकेला अनुभव करते थे। चीन के विश्वासघात की चोट ने उनको हिला दिया। वे ७५ वर्ष की उम्र में रात में अपना सब काम निपटाने के बाद २७

मई १९६४ ई० को सदा के लिए सो गये।

वसीयत का अंश :

जो व्यक्ति उत्पन्न होता है वह एक दिन मरता भी है। लेकिन उसका यश पीछे रह जाता है। नेहरू जी भारत को और अपने देशवासियों को कभी नहीं भूले। अपनी वसीयत में वे लिख गये हैं:

"मैं चाहता हूँ कि यदि लोग मेरे सम्बन्ध में कुछ सोचना चाहें तो वे यह कहें कि यह वह आदमी था जो अपने पूरे दिलोदिमाग से भारत और भारत की जनता को प्यार करता था और उसके बदले में वे उसके प्रति श्रद्धालु थे तथा उन्होंने उसे अपना अधिक से अधिक प्रेम दिया।

२३४ राजेन्द्र नगर,
लखनऊ - २२६ ००४

डॉ० भीमराव अम्बेदकर

—राधेश्याम कुशवाहा

हमारी भारत भूमि हर युग और हर काल में महापुरुषों की जन्मभूमि रही है। वे महापुरुष चाहे—महावीर हों, बुद्ध हों या गाँधी, नेहरू, सुभाष हों। ये सभी महापुरुष हमारे देश के निर्माता बने और एक ऐसा इतिहास बना गये कि आज भी हम उन्हें किसी न किसी रूप में याद करते चले आ रहे हैं। उदाहरण के रूप में भगवान गौतम बुद्ध सत्य, अहिंसा परमोधर्म के पुजारी थे। इसी तरह राष्ट्रापिता महात्मा गाँधी, पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार पटेल, सुभाष चन्द्र बोस, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि महापुरुषों ने भारत—मांता को दासता से मुक्ति दिलायी। इन्हीं महापुरुषों की पंक्ति में हमारे भारतीय संविधान के निर्माता डॉ० भीमराव अम्बेदकर थे, जिन्होंने भारतीय संविधान का निर्माण्र तो किया ही, साथ ही हमारे देश में जाति—पाँति एवं छुआ—छूत के भेद—भाव को मिटाने में अपना जीवन समर्पित कर देश के इतिहास में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित कराया।

भीमराव अम्बेदकर का जन्म १४ अप्रैल, १८९१ ई० को महू छावनी, इन्दौर के पास अम्बाबाड़े गाँव में एक महार परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम सूबेदार मेजर रामजी मालोजी सकपाल तथा माता का नाम श्रीमती भीमाबाई था। बाबा साहेब अपनी माता—पिता की १४वीं संतान थे। उनका बचपन का नाम भीम सकपाल था। बाबा साहेब के जन्म के ५ वर्ष बाद ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया, जिससे इनके लालन—पालन का भार इनकी बुआ मीरा और पिता पर आ पड़ा। इनके पिता ने बाबा साहेब की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सतारा में प्रारम्भ हुई। उनकी स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि विद्यालय में एक बार अध्यापक जो पढ़ा देते थे, उसे बाबा साहेब फिर कभी नहीं भूलते थे। इसी कारण अध्यापकों के यह सबसे प्रिय शिष्य थे। इन्हें अपने मास्टर से पिता के समान प्यार मिलता था। 'अम्बेदकर' नाम इन्हीं का रखा हुआ था।

बचपन के कटु अनुभवः

स्कूली शिक्षा से ही शुरू होती है इनके संघर्ष की कहानी। सतारा के मराठी प्राइमरी

स्कूल में अछूत को कुआँ, नल आदि छूने का अधिकार नहीं था। यह बात बालक भीम को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने एक दिन पानी स्वयं नल खोलकर पी लिया। इससे पाठशाला में हंगामा मच गया। स्कूल के कुछ विद्यार्थी और चपरासी भीम को मारने के लिए बढ़े। परन्तु भीम ने अपने बचाव के तरीके से उन्हें डरा दिया, जिससे वह सब घबरा गये। परन्तु इससे उसका मन शान्त नहीं हुआ। बल्कि उसके अन्दर छुआ-छूत की भावना घर कर गयी और वह बालक उस आयु में ही गम्भीर हो गया।

बालक बड़ा स्वाभिमानी थीं। उसने देखा कि मेरे परिवार में खाने वाले ज्यादा हैं और कमाने वाले केवल पिताजी हैं। अतः वह विद्यालय के बाद रेलवे स्टेशन में कुली का कार्य करने लगा। परन्तु उसके पिता जी को यह बात पसन्द नहीं आयी। उन्होंने उसे स्व० माता की बातों की याद दिलायी और कहा- तुम्हारी माता की इच्छा थी कि तुम्हें खूब पढ़ना है और अन्याय के खिलाफ लड़ना है। यह बातें तभी सम्भव हो सकती हैं जब तुम पढ़-लिख कर विद्वान बनोगे। समय मिलने पर उनके पिता स्वयं अंग्रेजी, गणित, मराठी का ज्ञान कराते थे। सूबेदार बालक भीमराव की शिक्षा-दीक्षा के लिए सतारा छोड़कर सन् १९०५ में बम्बई आ गये, जहाँ बाबा साहेब ने १९०७ में मैट्रिक की परीक्षा पास की। बाबा साहेब पढ़ाई के साथ-साथ खेलों में भी रुचि लेते थे। उनका प्रिय खेल फुटबाल था।

विदेश में शिक्षा :

उस समय बाल विवाह की प्रथा का चलन था और उनका विवाह १४ वर्ष की आयु में रमाबाई से सम्पन्न हुआ। वे मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद बी० ए० परीक्षा पास करने हेतु १९१२ में बड़ौदा चले गये। परन्तु दुर्भाग्य कि २ फरवरी, १९१३ को बाबा साहेब के पिता का स्वर्गवास हो गया, जिससे उन्हें वापस घर आना पड़ा। कुछ समय घर पर पत्नी एवं बच्चों के खर्च की व्यवस्था करने के उपरान्त वह महाराजा बड़ौदा की छात्रवृत्ति पर जुलाई १९१३ में शिक्षा के लिए अमेरिका चले गये। वहाँ से पी-एच० डी० करने के बाद वे १९१७ में भारत आये।

रियासत की छात्रवृत्ति की शर्त के अनुसार उन्हें १० वर्ष वहाँ सेवा करनी थी। राजा ने अम्बेदकर को अपना सैनिक सचिव नियुक्त किया। परन्तु यहाँ भी उन्हें छुआछूत के भेदभाव के बड़े ही कटु अनुभव हुए। उन्होंने समझ लिया कि उन्हें

अपना जीवन अछूत समझे जाने वाले लोगों को ऊपर उठाने में लगाना है। यह काम वे स्वतन्त्र रह कर ही कर सकते थे। इसीलिए वे १९२० में बैरिस्टरी की पढ़ाई के लिए लन्दन गये। १९२२ में बैरिस्टर बनकर भारत आये। अब उन्होंने बंबई में वकालत करने के साथ-साथ अपने जाति भाइयों के उद्धार में अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

आरम्भ में बाबा साहेब की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। इस बात की जानकारी एक घटना से होती है- बाबा साहेब का एक पुत्र इलाज के अभाव के कारण चल बसा। उनके दूसरे बच्चे की भी मृत्यु सख्त बीमारी के कारण हुई। अब बाबा साहेब के पाँच बच्चों में से तीन बच्चे ही बचे। अपने बच्चों की अकाल मृत्यु को उनकी पत्नी रमाबाई ज्यादा दिन तक सहन न कर पायी और अक्सर बीमार रहने लगीं। निरन्तर गिरते स्वास्थ्य के फलस्वरूप २७ मई, १९३५ में वे भी चल बसीं।

पत्नी की मृत्यु ने बाबा साहेब को झकझोर कर रख दिया, परन्तु उनकी कही हुई बातें निरन्तर याद आने लगीं जिससे बाबा साहेब को संयम से काम लेना पड़ा। पत्नी ने कहा था- 'देखो मेरे सात करोड़ अछूत बच्चों का ख्याल रखना। उनकी सेवा ही आपका व्रत है। इस पथ से कभी विचलित नहीं होना। उन्हें मान-सम्मान अवश्य दिलाना।' इस बात का स्मरण आते ही बाबा साहेब ने लोक-कल्याण के मार्ग को अपना लिया। बाबा साहेब बड़े निर्भीक व्यक्ति थे। उनका कहना था- 'मैं एक बहादुर सैनिक का पुत्र हूँ, कायर नहीं हूँ, मेरा जो हो, मैं मौत के भय से अछूतों के उद्धार का मार्ग छोड़ नहीं सकता। दूसरों को खतरे में डालकर अपनी जान को बचाने वाला मैं नहीं हूँ।' इतना ही नहीं उन्होंने कहा- 'बकरे का बलिदान किया जाता है, लेकिन सिंह का बलिदान करने का साहस कोई नहीं करता। इसलिए आप लोग सिंह की भाँति अपने अधिकारों के लिए गर्जना करें।'

मंदिर प्रवेश का आन्दोलन :

नागपुर में अछूतों का एक बड़ा सम्मेलन हुआ। करीब एक लाख लोग इस सम्मेलन में जमा हुए। इस अवसर पर बाबा साहेब ने कहा- हम अछूतों की दासता की बेड़ियों को सदा-सदा के लिए काटेंगे। सन् १९२५ ई० में बाबा साहेब ने

अछूतों के लिए मंदिर प्रवेश आन्दोलन चलाया, जो ५ वर्षों तक चलता रहा। इस बीच बाबा साहेब की हत्या का प्रयास भी किया गया। परन्तु 'जाको राखै साइयाँ मार सके न कोय' की उक्ति चरितार्थ हुई। बाबा साहेब जीवित बच गये जब कि कई लोग लहू-लुहान हो गये। १९३५ में बाबा साहेब ने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य अछूतों का हर तरह से कल्याण करना और उन्हें समानता का अधिकार दिलाना था। बाबा साहेब चाहते थे कि दुःखी, पीड़ित और शोषित जनता अपनी शक्ति को पहचाने और खुद अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करे।

सन् १९३० में लंदन में हुए गोलमेज सम्मेलन में भी अछूतों की भलाई के लिए उन्होंने कहा- जहाँ स्वराज्य हर भारतीय का जन्म सिद्ध अधिकार है वहीं इस भारत में रहने वाले अछूतों को सम्मान पूर्वक जीने-मरने का भी जन्म सिद्ध अधिकार है।

उनका कहना था कि केवल स्वराज्य की संविधान सभा से ही हमारे हाथों में राजनीतिक शक्ति आ सकती है। उन्होंने जोर देकर कहा कि कट्टरपंथियों को अछूतों के प्रति अपने व्यवहार और सामाजिक दृष्टिकोण को तत्काल बदलना चाहिए।

डॉ० अम्बेदकर की विद्वत्ता का सब लोग बड़ा सम्मान करते थे। स्व० महामना मदनमोहन मालवीय जी ने डॉ० अम्बेदकर की विद्वत्ता के सम्बन्ध में कहा था कि डॉ० अम्बेदकर बाबा साहेब सरस्वती के पुत्र हैं, उनका ज्ञान अगाध है, उनके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है, उन्होंने उसी अपरमित ज्ञान के आधार पर समाज और धर्म को सुधारना चाहा है। वे सफल हुए, हिन्दू धर्म को अगर जीवित रखना है तो डॉ० अम्बेदकर के विचारों को मानकर चलना होगा।

सन् १९३७ में बाबा साहेब को पुनः जान से मार डालने का कुचक्र रचा गया। उन्होंने 'प्रबुद्ध भारत' साप्ताहिक पत्र का सम्पादन किया। इसमें उन्होंने लिखा- "मेरे बाद अछूतों का आन्दोलन जारी रखा जाय। अगर धन की आवश्यकता पड़े तो मेरे एक घर को बेच दिया जाय और उस धन को अछूतों के उपयोग में लाया जाय।"

हिन्दुओं की कट्टरता से अछूतों में, जिन्हें गाँधी जी हरिजन कहते थे, बड़ा

असंतोष था। अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाना चाहा। उन्होंने घोषणा की कि भविष्य के चुनावों में हरिजन अन्य हिन्दुओं से अलग माने जाएंगे। इससे हिंदू समाज सदा के लिए बँट जाता। गाँधी जी ने इसके विरोध में आमरण अनशन किया। इस पर हरिजनों के एक मात्र नेता डॉ० अम्बेदकर ने भी अंग्रेजों की योजना को अस्वीकार करके भारतीय समाज की एकता का पक्ष लिया।

संविधान के निर्माता :

वाइसराय ने बाबा साहेब को अपनी मन्त्रि परिषद् में मनोनीत किया। उन्होंने उस समय अछूतों और दलितों के लिए कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सन् १९४६ में अन्तरिम सरकार बनी। डॉ० अम्बेदकर की योग्यता देखकर उन्हें नेहरू जी के मन्त्रिमण्डल में प्रथम कानून मंत्री बनाया गया।

स्वतन्त्रता के बाद बहुत बड़ा प्रश्न देश के संविधान की रचना का था। देश के लोगों का भविष्य क्या होगा? शासन कैसे चलेगा? चुनाव कैसे होगा? कानून कैसे बनेंगे और उन पर अमल किस प्रकार होगा? इस काम के लिए संविधान सभा ने १९४७ में एक समिति बनायी। इस समिति के अध्यक्ष डॉ० भीम राव अम्बेदकर चुने गये। समिति में कुछ अन्य व्यक्ति भी थे। पर उनके दूसरे कार्यों में व्यस्त रहने के कारण संविधान की रूपरेखा तैयार करने का पूरा भार डॉ० अम्बेदकर पर ही आया और उन्होंने इसे बड़ी योग्यता से पूरा किया।

हमारे इस संविधान में नागरिकों को सभी अधिकार समान रूप से प्राप्त हैं। जाति, धर्म या स्त्री–पुरुष के आधार पर कोई भेदभाव नहीं। समाज के सब वर्ग बराबर हैं और छुआछूत को कानूनन अपराध घोषित कर दिया गया है। इसका श्रेय बहुत कुछ डॉ० अम्बेदकर हो है।

बौद्ध धर्म की दीक्षा :

१९५१ में मन्त्रिमंडल से इस्तीफा देने के बाद डॉ० अम्बेदकर ने अपना समय पढ़ने–लिखने और पुस्तकों की रचना में लगाया। वे भगवान बुद्ध के विचारों से पहले से प्रभावित थे। १४ अक्टूबर १९५६ को उन्होंने नागपुर में बौद्ध धर्म की

दीक्षा ले ली।

भारत के इस महान सपूत का ६ दिसम्बर १९५६ को निधान हो गया। पाँच लाख लोग उनकी शव यात्रा में सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर शोक प्रकट करते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था– "डॉ० अम्बेदकर ने हिन्दू समाज के सभी दमनकारी तत्त्वों के विरोध में बगावत की। असल में यह बगावत हम सबको करनी चाहिए थी।"

आज भारत के संविधान के रचयिता बाबा साहेब हमारे बीच नहीं हैं। किन्तु उनकी की गयी दलितों–अछूतों के प्रति समर्पित सेवा–भावना को भुलाया नहीं जा सकता। वे प्रकांड विद्वान और उच्च कोटि के वक्ता थे। उनकी देश, समाज, अछूतों के प्रति की गयी राष्ट्रीय सेवाएँ हमें समता, अखण्डता, समानता, भाई–चारे का संदेश सदा देती रहेंगी।

३१२, निशातगंज, चौथी गली,
लखनऊ

विनोबा भावे

—डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

हमारे देश की राजधानी दिल्ली में संसद-भवन जैसे आलीशान मकान अनेक हैं। इसी नगर में कितने ही बहुमंजिले मकान हैं। मगर विदेशों के राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और राजदूत आदि यहाँ के एक स्थान पर ही पहले जाते हैं। वे राजघाट पर भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की समाधि पर भक्ति भाव से फूल चढ़ाते हैं। कारण यह कि गाँधी जी की साधना और बलिदान भारत की आजादी के प्रमुख कारण थे। स्वतन्त्रता के संग्राम में महात्मा गाँधी जी के साथ हजारों निःस्वार्थ देश सेवक थे। देश और देशवासियों का कल्याण ही उनका अकेला जीवन-लक्ष्य रहा।

गाँधी जी के ऐसे प्रिय शिष्यों और सहयोगियों में विनोबा भावे प्रमुख रहे थे। विनोबा भावे गाँधी जी के सही अर्थों में उत्तराधिकारी, गाँधीवाद के आदर्श प्रतिनिधि थे। गाँधी जी के जीवन काल में भी और उसके बाद देश-विदेश के महान नेता, विद्वान और समाज-सुधारक, सलाह-परामर्श के लिए उनके पास पहुँचते थे।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के राजाओं के विषय में लिखा था- वे शैशव में विद्या का अध्ययन करते थे और यौवन में सांसारिक सुखभोग का जीवन बिताते थे। वृद्धावस्था में वे मुनियों की जीवन-वृत्ति स्वीकार करते थे और अंत में योग साधना के द्वारा अपनी इच्छा से भौतिक शरीर त्यागते थे। बीसवीं सदी में भी भारत के उन प्राचीन महापुरुषों की परंपरा नष्ट नहीं हुई है। विनोबा भावे की जीवन-गाथा इसका प्रमाण है। हमारे देश में ऐसे महापुरुष यत्र-तत्र अब भी मिलेंगे। रत्न अपना प्रचार नहीं करते। लोगों को रत्नों की खोज में जाना पड़ता है।

जन्म और बचपन :

हम महात्मा गाँधी जी को कितने ही नामों से पुकारते हैं- गाँधी जी, महात्मा जी, बापू आदि। उनका पूरा गुजराती नाम तो मोहनदास करमचंद गाँधी था। इसी तरह विनोबा जी को भी कई नामों से पुकारा जाता है। उनका मूल मराठी नाम विनायक

नरहरि भावे था। उनका अपना नाम विनायक था। पिता जी का नाम था नरहरि। भावे उस ब्राह्मण परिवार का नाम रहा जिसमें वे पैदा हुए। महाराष्ट्र प्रदेश के कोलाबा जिले में गागोदा गाँव में बसा 'भावे' परिवार प्रतिष्ठित तथा खुशहाल था। विनायक के दादा शंभूराव भगवद्भक्त थे। वे अपने दिनों में छुआछूत की भावना से दूर थे। हरिजनों को वे अपने मंदिर में बुलाते थे। उत्सव में वे उन्हें अपने हाथ से भोजन कराते थे। यह धार्मिक उदारता दादा से विरासत में पोते को मिली। शंभूराव के तीन पुत्रों में नरहर पंत मंझले थे। नरहरि के तीन पुत्र हुए– विनायक, बालकृष्ण और शिवा जी। नरहरि पंत की पत्नी रघुमाई देवी बड़ी दयालु, मेहनती और मिठबोली थीं। उन्होंने ११ सितम्बर १८९५ को विनायक को जन्म दिया। माँ बच्चे को प्यार से 'विन्या' पुकारती थी।

माँ रघुमाई देवी में भक्ति, विराग आदि के प्रति बड़ी रुचि थी। उनका दृढ़ विचार था कि उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन करने से कई पीढ़ियाँ तर जाती हैं। माँ के प्रभाव के भी कारण विनायक बालपन से ही सुख-चिंता से दूर थे। उन्होंने दस वर्ष की ही अवस्था में जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत स्वीकार कर लिया। उनके दोनों भाई भी जीवन भर ब्रह्मचारी रहे थे।

शिक्षा के दिन :

माता की भक्ति भावना और पिता जी की अनुशासन–प्रियता ने बालक विनायक को एक अच्छा छात्र बनाया। स्कूली शिक्षा के दिनों में विनायक के लिए मराठी प्रिय विषय था। गणित उनका सबसे प्रिय था। वे गणित का कठिन से कठिन सवाल भी आसानी से हल कर लेते थे। उनकी स्कूली शिक्षा गाँव में और बड़ौदा में हुई थी।

जिन दिनों वे स्कूल में पढ़ते थे उन दिनों बंगाल और महाराष्ट्र में राष्ट्रीय चेतना फैल रही थी। बड़ौदा में वे केन्द्रीय पुस्तकालय में घंटों बैठकर बहुत सी पुस्तकें पढ़ लेते थे। लेकिन जब इंटर परीक्षा देने बंबई जाने का वक्त आया तब विनायक ने मन ही मन तय किया कि मुझे नौकरी नहीं करनी है, व्यापार भी नहीं करना है। उनकी प्रकृति की एक विशेषता यह थी कि वे एक बार जो निश्चय कर लेते उससे किसी भी हालत में नहीं हटते थे। वे बंबई के बदले काशी गये और वहाँ संस्कृत के शास्त्रग्रंथ, उपनिषद् आदि के अध्ययन में लग गये। काशी निवास के दिनों में उनके

जीवन की दिशा ही बदल गयी।

गाँधी जी का प्रभाव :

सन् १९१६ ई० में महात्मा गाँधी जी ने काशी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास उत्सव में भाषण दिया। विनायक भी इस उत्सव में भाग लेने गये। गाँधी जी ने जोरदार शब्दों में राजाओं-महाराजाओं के आडम्बरपूर्ण जीवन की आलोचना की। उन्होंने कहा कि भारत की आजादी गरीब किसानों के द्वारा होगी। इस पर समारोह में उपस्थित अनेक राज-महाराजा नाराज होकर उठकर चले गये। विनायक के मन में गाँधी जी के साहसी और दृढ़ व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। उन्होंने गाँधी जी से मिलने की इच्छा व्यक्त की। अनुमति लेकर वे गाँधी जी के आश्रम में चले गये। गाँधी जी को विनोबा जी का निराला व्यक्तित्व बहुत पसंद आया। उन्होंने विनायक भावे को प्रेम से विनोबा पुकारा और आश्रम का सदस्य बनाया। फिर वे गाँधी जी के अंतरंग शिष्य बन गये। सारा भारत उन्हें विनोबा नाम से ही पुकारने लगा।

सत्याग्रही :

विनोबा गाँधी जी के आश्रम में बड़ी श्रद्धा से सफाई, कताई और गाँधी जी के प्रिय कार्यक्रमों में लगे रहते थे। अतिथियों से वे कम बोलते। लेकिन गाँधी जी उनकी इच्छा शक्ति से खूब परिचित थे। १९ अप्रैल १९२३ को देशभर में झंडा दिवस मनाया गया। वर्धा आश्रम में विनाबा के नेतृत्व में झंडा दिवस मनाया गया। जुलूस निकालने के अपराध में वे गिरफ्तार किये गये। कुछ मास बाद अन्य सत्याग्रहियों के साथ वे भी छोड़े गये। १९२४ में उन्होंने गाँधी जी के आदेश से केरल में वैक्कम मंदिर के हरिजन-प्रवेश के सत्याग्रह का नेतृत्व किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए गाँधी जी ने विनोबा भावे को ही पहला सत्याग्रही बनाया। पूरे भारत में विनोबा जी का नाम फैल गया। इस बार जेलवास लम्बा रहा। जेल में रहते हुए वे हर हफ्ते गीता के कुछ अंशों पर मराठी में प्रवचन देते थे। साधारण लोगों के लिए भी सहज भाषा में दिये ये प्रवचन बड़े अच्छे थे। साने गुरुजी नामक शिष्य उन्हें लिख लेते थे। बाद में 'गीता प्रवचन' मराठी, हिन्दी और भारत की अन्य भाषाओं के अलावा विदेशी भाषाओं में

भी छपा। उसकी लाखों प्रतियाँ बिक गयीं।

विनोबा जी की जीवन चर्चा :

विनोबा जी कोई हट्टे-कट्टे नहीं थे। मगर उनका घोर परिश्रम देखकर गाँधी जी और सहयोगी दंग रह जाते थे। सबेरे तीन-चार बजे वे जगकर प्रार्थना करते। तब से रात को आठ बजे तक वे अविराम काम करते थे। आठ बजे विश्राम निश्चित था। गाँधी जी की तरह उनका भी भोजन बड़ा सात्विक रहा। उसमें भी वे प्रयोग करते थे घुटने तक की धोती, ओढ़ने की एक चादर और पैरों पर खड़ाऊँ – यही पहनावा था। बीच-बीच में वे केश व दाढ़ी घुटवाते थे। समय की पाबंदी का वे कठोरता से पालन करते थे।

भूदान का यज्ञ :

विनोबा भावे की जीवन साधना का सबसे बड़ा प्रसंग भूदान यज्ञ का है। १९५१ से लेकर करीब ३० वर्ष तक वे भूदान के कार्य में लगे थे। भूदान यज्ञ के आरम्भ की कथा बड़ी रोमांचक है।

गाँधी जी का स्वर्गवास १९४८ में हुआ था। उसके बाद वर्धा में उनके शिष्यों ने एक सभा करके 'सर्वोदय समाज' की स्थापना की। विनोबा जी ने उसका नेतृत्व किया। समाज के सम्मेलन जगह-जगह होने लगे। १९५१ में कार्यकर्ताओं ने विनोबा जी से आग्रह किया कि आप इस वर्ष के हैदराबाद सम्मेलन में जरूर चलें। सम्मेलन हैदराबाद के पास शिवराम पल्ली गाँव में हो रहा था। विनोबा जी पैदल तीन सौ मील की यात्रा पूरी करके वहाँ पहुँचे। हैदराबाद आदि का क्षेत्र आँध्र में तेलंगाना कहलाता है। तेलंगाना में उन दिनों कम्युनिस्टों के समर्थकों ने उत्पात मचा रखा था। लूट-मार, हत्या आदि होती थी। लोग डरे हुए थे।

विनोबा जी अपनी यात्रा में पोच्चंपल्लि पहुँचे। इस समय पोच्चपल्लि का नाम रेशमी साड़ी के लिए मशहूर है। मगर उन दिनों वह गरीब हरिजनों की बस्ती थी। विनोबा समझ गये कि किसानों का हाल बहुत खराब है। वही उत्पात का कारण है। उन्होंने वहाँ के हरिजनों से इसका उपाय पूछा। हरिजनों ने कहा कि हम लोगों को ४० एकड़ तरी की जमीन और ४० एकड़ खुश्क जमीन मिले तो हम खेती करके, बिना भूखे रहे अपना जीवन बिता सकेंगे। विनोबा जी ने सभा में पूछा कि क्या कोई

भूस्वामी जमीन देने को तैयार है? श्री रामचन्द्र रेड्डी नामक सज्जन उठे और कहा– 'मैं अपने पाँच भाइयों की तरफ से कुल १०० एकड़ जमीन देने को तैयार हूँ।' विनोबा जी की खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने वह जमीन कानून के अनुसार उनसे लेकर किसानों में बाँट दी। इस प्रकार भूदान का महायज्ञ शुरू हो गया।

भूदान आंदोलन देश भर में तेजी से फैलने लगा। विनोबा जी यही कहते थे– अपनी जमीन का छठा हिस्सा भूमिहीन को दान करो। शीघ्र ही गाँवों के दान होने लगे। कई देश प्रेमी कार्यकर्ता अपना शेष जीवन भूदान आंदोलन के लिए समर्पित करने को तैयार हुए। ऐसे जीवन दानियों में स्व० जय प्रकाश नारायण प्रमुख रहे। विनोबा जी ने 'जय भारत' नारे की जगह 'जय जगत' नारा स्वीकार कर लिया। अफसोस है कि आगे चलकर भूदान आंदोलन किसी कारण उलझ गया। अगर वह कार्यक्रम ठीक जारी रहता तो किसानों और गरीबों की कई समस्याएँ सुलझ जातीं।

विनोबा जी ग्राम, गरीब और हरिजन–तीनों की उन्नति पर जोर देते थे। वे गाँव को स्वावलम्बी बनाना चाहते थे। गराबों को भूमि व काम देना उनका व्रत रहा। पैसे की मदद देकर गरीब को भिखारी बनाना वे नहीं चाहते थे। वे स्वयं भगवान के भक्त थे। मगर जिस मंदिर में हरिजनों का प्रवेश मना था उसमें वे भी प्रवेश नहीं करते थे। वे सब को अपनी रोटी परिश्रम से कमाने का उपदेश देते थे। कताई में चर्खा और तकली की विद्या में वे आचार्य रहे। उनके विचार कई पुस्तकों में संग्रहीत किये गये हैं। उनका भूदान भारत के ग्रामीण अर्थ शास्त्र का अंग हो गया है।

विद्यार्थियों से :

विनोबा जी ने विद्यार्थियों से कहा था कि तुम्हें चार बातें करनी चाहिए–

१–अपना दिमाग खुला रखना। जो बात जँचे उसे मानना। जो न जँचे उसे बिल्कुल नहीं मानना चाहिए।

२–छात्रों को अपने आप पर, इन्द्रियों पर काबू पाना चाहिए।

३–छात्र हमेशा देश सेवा की आदत डालें क्योंकि सेवा के बिना ज्ञान नहीं मिलता।

४–विद्यार्थी सदा सावधान रहें। वे दुनिया भर की बातें पढ़ें, समझें, पर अपने

को सबसे अलग, विश्वमानव समझें।

स्पष्ट है कि छात्रों की भलाई के लिए विनोबा जी के सुझाव बड़े उपयोगी हैं।

विनोबा जी गोरक्षा के समर्थक थे। गोहत्या को कानून से बंद कराने का प्रयत्न उन्होंने किया इसके लिए उन्होंने उपवास तक किया। जब सरकार ने आश्वासन दिया तब उपवास छोड़ा। उनकी वह इच्छा अभी पूरी नहीं हुई है।

विनोबा जी को भाषाएँ सीखने का बड़ा शौक था। नयी-नयी भाषा सीखने की अजीब क्षमता उनमें थी। वे अक्सर जेल यात्रा में नयी भाषाएँ सीखते थे। उन्होंने करीब-करीब सारी भारतीय भाषाएँ कुछ-कुछ सीख ली थीं। वे कई विदेशी भाषाएँ भी जानते थे। उनका मत है कि नागरी लिपि का उपयोग करने पर कोई भी आदमी अनेक भाषाएँ सीख सकता है।

अंतिम दिन :

विनोबा जी जीवन भर सक्रिय और स्वस्थ रहे। उन्होंने जीवन के करीब ८७ वर्ष पूरे किये। अंतिम दिनों में वे कुछ बीमार पड़े। मित्रों एवं शिष्यों ने दवा कराने का अनुरोध किया। परन्तु विनोबा ने निश्चय किया कि मैं तुलसीजल और गंगाजल के अलावा कोई दवा नहीं लूँगा। वे अपने निश्चय पर अटल रहे और १५ नवम्बर १९८२ को उन्होंने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया।

संसार में राजनीति, अर्थशास्त्र आदि के क्षेत्रों में बड़े-बड़े नेता मिल सकते हैं। परन्तु मानव सेवा के ऐसे उदाहरण मुश्किल से मिलेंगे। विनोबा जी के जीवन में शिक्षा देने वाली कितनी ही घटनाएँ हुई हैं। बालकों के लिए रोचक दो घटनाएँ यहाँ पर दी जा रही है।

विद्यार्थी जीवन की बात है। विनोबा जी बड़ौदा में पढ़ रहे थे। वे उन दिनों घंटों तक बड़ौदा के प्रसिद्ध कारमैकिल पुस्तकालय में पढ़ते थे। गर्मियों के दिन थे। बालक विनोबा ने कुर्ता उतार कर रखा और पुस्तक पढ़ता रहा। पुस्तकालय के दरबान को यह व्यवहार अशिष्ट लगा। उस पुस्तकालय के बड़े अधिकारी एक अंग्रेज सज्जन थे। दरबान ने उनसे शिकायत की। वे बड़े क्रोध से आये और विनोबा जी को डाँटा कि तुम अशिष्टता कर रहे हो। विनोबा जी ने शांत स्वर में कहा-

'हमारे भारत देश में गर्मियों में नंगा बदन रहना असभ्यता नहीं है।' अंग्रेज ने अपनी बात दुहरायी तो विनोबा जी ने उदाहरण से समझाया कि भारतीय वेश भूषा के आडंबर को सभ्यता नहीं मानते। उन्होंने यह भी बताया कि अंग्रेज साहब कुरसी पर खुद बैठकर विनोबा को जमीन पर खड़ा करके बातें कर रहे हैं। यह असभ्यता है। अंग्रेज भी शरीफ थे। वे शरमाये और माफी माँगी। उन्होंने विनोबा जी से जान लिया के वे बहुत सी पुस्तकें पढ़ चुके हैं। इससे वे बहुत खुश हुए। दोनों ने मित्रता कर ली। फिर विनोबा जी को कोई कठिनाई नहीं हुई।

दूसरी घटना विनोबा जी के आश्रम की है। आश्रम में एक लड़का बड़ा मेहनती था और सारे काम सावधानी से करता था। मगर उसे एक बुरी लत लगी थी। वह बीड़ी पीता था। एक दिन आश्रम के एक भाई ने उसे बीड़ी पीते देख लिया। लोगों ने उसे रंगे हाथ पकड़कर विनोबा जी के सामने पेश किया। विनोबा ने बालक से कहा– 'बीड़ी पीना कोई बुरी बात नहीं है। बड़े–बड़े लोग बीड़ी पीते हैं। लेकिन चोरी से बीड़ी पीना बुरी बात है। हम तुम्हारे लिए एक छोटी कोठरी का प्रबन्ध करते हैं। तुम उसमें जाकर इच्छानुसार बीड़ी पी लेना।' लोग यह सुनकर अचरज और गुस्से में आये। विनोबा जी ने कहा कि दूसरों की बातों को सहन करना चाहिए। उन्हें तकलीफ नहीं पहुँचानी चाहिए। उस बालक को बीड़ी छोड़ने का मौका देने के लिए ही विनोबा जी ने यह व्यवस्था की। इस प्रकार वे चोरी के साथ व्यसन भी छुड़ाते थे।

२६/१०३५, ट्यूटर्स लेन,
तिरूवनंतपुरम् – ६९५००१ (केरल)

●

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

—विनोद चन्द्र पाण्डेय

भारतभूमि को स्वतन्त्र कराने के लिए वीरों ने अपना बलिदान किया, जिसके लिए विश्व इतिहास में उनका नाम सदैव आदर के साथ लिया जायगा। वीरता, साहस एवं देशप्रेम की प्रतिमूर्ति के रूप में नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके त्याग एवं बलिदान के लिए उनका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।

सुभाष चन्द्र बोस का जन्म २३ जनवरी सन् १८९७ ई० में कटक में हुआ था। इनके पिता राय बहादुर जानकी नाथ बोस एक प्रबुद्ध प्रभावशाली तथा सम्पन्न व्यक्ति थे। इनकी माता श्रीमती प्रभावती साध्वी और धर्मपरायणा महिला थीं। वह अत्यन्त गुणवती एवं बुद्धिमती थीं। सुभाष अपने पिता के प्रखर व्यक्तित्व एवं माँ के उदारमना हृदय के सुन्दर समन्वय थे।

सुभाष का गौरवर्ण, बड़ी–बड़ी आँखें, चौड़ा माथा, हृष्ट–पुष्ट शरीर और गम्भीर मुखाकृति उनके असाधारण व्यक्तित्व का आभास देती थी। बचपन से ही वह साधारण बालकों की तरह खेलकूद में समय न गवाँकर चिन्तन में डूबे रहते थे। उस समय उनकी मुखाकृति किसी बालयोगी की सी दिखायी देती थी।

देशभक्त और सेवाव्रती :

बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के होने के कारण वह अपनी कक्षा के अच्छे विद्यार्थियों में गिने जाते थे, परन्तु कदम–कदम पर अपने हिन्दुस्तानी साथियों के साथ अंग्रेजों के सौतेले व्यवहार को देखकर सुभाष का खून खौल उठता था। वह अपमान को बर्दाश्त नहीं कर पाते थे।

जाजपुर में हैजे का भीषण प्रकोप और उससे होने वाली क्षतियों का समाचार पढ़कर सुभाष का हृदय द्रवित हो उठा। वह जाजपुर गाँव गये। वहाँ रहकर कई

महीनों तक रोगियों की सेवा सुश्रूषा करते रहे। उनकी सादगी, विनम्रता और सेवा–तत्परता देखकर किसी को अनुमान भी न हो सका कि वह कटक के सरकारी वकील रायबहादुर जानकीनाथ के पुत्र हैं। जब लोगों को उस सच्चाई का ज्ञान हुआ तो विस्मित रह गये। वहाँ से लौटकर सुभाष ने सर्वप्रथम पिता के चरणों में प्रणाम किया और अत्यन्त विनम्र भाव से कहा– 'क्षमा कीजिएगा पिताजी मैं आपका आदेश लिये बिना जाजपुर चला गया था।' पिताजी ने कहा 'तुम्हें इन सब कामों से ज्यादा पढ़ाई में मन लगाना चाहिए।' उनके पिताजी ने उनका दाखिला प्रेसीडेंसी कॉलेज में एफ० ए० में करा दिया।

स्वामी विवेकानंद का प्रभाव :

कलकत्ता में रामकृष्ण मिशन का वार्षिक उत्सव मनाया गया जिसमें सुभाष ने विवेकानन्द का सारगर्भित भाषण सुना। वह भाषण से अत्यधिक प्रभावित हुए। सोलह वर्ष की आयु में वह सत्य की खोज करने निकल पड़े। हिमालय की कन्दराओं से लेकर मथुरा, वृन्दावन, काशी आदि धार्मिक स्थानों में साधु–सन्तों से सम्पर्क कर सत्य का स्वरूप जानना चाहा किन्तु उन्हें कोई सही मार्ग दर्शन न प्राप्त हो सका और वे पुनः घर लौट आये। उन्होंने अध्ययन प्रारम्भ किया। बी० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की।

आई० सी० एस० से इस्तीफा :

उनके पिता की इच्छा थी कि सुभाष आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठें और व्यवस्थित तथा सम्मानित जीवन व्यतीत करें, परन्तु सुभाष की इच्छा केवल मातृभूमि की सेवा करने की थी। उनके पिता ने कहा कि यह क्यों नहीं कहते कि तुम आई० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर सकते, इसलिए सेवाव्रत का बहाना लिया हुआ है। सुभाष ने कहा कि अब मैं यह परीक्षा पास करके ही दिखाऊँगा और लंदन के कैम्ब्रिज विद्यालय में जाकर पूर्ण लगन से पढ़ाई में जुट गये। परीक्षा में सुभाष ने असाधारण योग्यता का परिचय दिया। उन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की और प्रतियोगिता में उनका चौथा स्थान रहा। यह सफलता उस समय किसी भी हिन्दुस्तानी के लिए बड़े ही गौरव की बात थी। परन्तु कुछ ही दिनों बाद उन्होंने सेवा से त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र में उन्होंने लिखा कि मैं एक विदेशी सत्ता के अधीन कार्य नहीं कर सकता। अपने पिता से उन्होंने कहा कि आपकी इच्छा के लिए

मैने यह परीक्षा पास की थी, परन्तु देश के प्रति मेरे उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य शेष हैं।

स्वतन्त्रता संग्राम को समर्पित :

स्वदेश लौटकर उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में स्वयं को समर्पित कर दिया। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया, जहाँ उन्हें कठोर यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। जेल की यातनाओं से सुभाष विचलित नहीं हुए, वरन् वह मानसिक रूप से और भी अधिक मातृभूमि की सेवा के लिए व्यग्र हो उठे। उनके त्याग, उत्साह, ओजस्विता और संगठनशक्ति से उस समय के शीर्षस्थ नेता देशबन्धु चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू आदि प्रभावित हुए बिना न रह सके।

सन् १९२८ में कलकत्ता काँग्रेस अधिवेशन में सुभाष स्वयं सेवक दल के नायक बनाये गये। जिस अद्‌भुत क्षमता के साथ उन्होंने अपनी संगठन शक्ति का परिचय दिया, उससे वे काँग्रेस में उत्तरोत्तर बढ़ते चले गये। अन्ततोगत्वा १९३८ में हरिपुरा अधिवेशन में वे सर्वसम्मति से काँग्रेस के राष्ट्रपति चुने गये। कार्यकौशल से प्रभावित होकर १९३९ में अधिकांश लोगों ने त्रिपुरा काँग्रेस के अधिवेशन में भी उन्हें राष्ट्रपति पद पर आसीन देखना चाहा, किन्तु गाँधी जी सहित कुछ वरिष्ठ नेताओं को उनकी उग्र नीति की सफलता में सन्देह हुआ और उस वर्ष काँग्रेस के राष्ट्रपति के पद के लिए सुभाष तथा पट्टाभि सीतारम्मैया के बीच चुनाव हो गया। सुभाष जीते, किन्तु जो विरोध उनके प्रति खड़ा हो गया था उसमें अपने ढंग से कार्य करना उनके लिए सम्भव न हो पाया। साथ ही वह काँग्रेस का विघटन नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने काँग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और फारवर्ड ब्लाक (अग्रगामी दल) की स्थापना की।

फारवर्ड ब्लाक की गतिविधियों से तथा सुभाष के कार्यकलाप से संशकित अंग्रेज शासक हाथ धोकर उनके पीछे पड़ गये और रुग्णावस्था में भी उन्हें नजरबन्द रखा। इस अवधि में वे भीतर ही भीतर साधना करते रहे और दाढ़ी बढ़ाकर एक दिन अर्द्धरात्रि के समय एक पठान का रूप बनाकर सशस्त्र पहरेदारों को चकमा देकर घर से निकल पड़े। महीनों की कठोर और भयंकर यात्रा कर वे पेशावर होते हुए जर्मनी पहुँचे। उस समय अंग्रेजों और जर्मनों में युद्ध चल रहा था। भारतीय सैनिक अंग्रेजों की ओर से लड़ रहे थे। जर्मनों की प्रेरणा और सहयोग से वहाँ पर उन्होंने भारतीय

सैनिकों को संगठित करके भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के लिए उनका आह्वान किया, किन्तु वह स्थान भारत से इतनी दूर था कि वहाँ से योजना का कार्यान्वयन सम्भव न हो सका। फलतः वहाँ से वे जापान पहुँचे, जहाँ रासबिहारी बोस ने आज़ाद हिन्द सेना की रूपरेखा पहले से बना रखी थी। उन्होंने सुभाष का स्वागत किया और उन पर उस सैन्य के संगठन का भार सौंपा।

आजाद हिन्द फौज के सेनानी :

सुभाष जापानियों के सहयोग से सिंगापुर पहुँचे और वहाँ पहुँचकर उन्होंने आजाद हिन्द फौज (आई० एन० ए०) का संगठन किया जिसमें प्रवासी भारतीयों का अपूर्व सहयोग मिला। उनका नारा था जयहिन्द, दिल्ली चलो, तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूँगा। उत्तेजक ओजपूर्ण नारों से गगनमण्डल गूँज उठा। क्रांति की भीषण लहर उठी। आजाद हिन्द फौज ने ढिल्लन, शाहनवाज और सहगल जैसे सेनानियों के साथ अंग्रेजों के विरुद्ध लोहा लिया। इसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली और उनकी आजाद हिन्द फौज इम्फाल तक बढ़ आयी। अंग्रेजी शासन सुभाषचन्द्र बोस के नाम से भयभीत होने लगा।

किन्तु विधि का विधान कुछ और था। इधर द्वितीय विश्व युद्ध का अन्त हुआ, उधर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का विमान भी दुर्घटनाग्रस्त हो गया। यह विमान दुर्घटना अभी तक विवादास्पद है। वर्षों तक जनता अपने प्रिय नेता की प्रतीक्षा करती रही। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में अमर सेनानी सुभाष चन्द्र बोस का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

नेताजी का पार्थिव रूप हमारे बीच में भले ही न हो परन्तु उनका त्याग और बलिदान सदैव हमारा पथ–प्रदर्शन करता रहेगा और यह संदेश देगा कि हम देश के लिए जियें और देश के लिए मरें।

सी–१२, राजकीय आवास,
निराला नगर, लखनऊ

जयप्रकाश नारायण

—चंद्रोदय दीक्षित

उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद में गंगा और सरयू का संगम है। यहाँ से गंगा बिहार में प्रवेश करती है। गंगा की धारा के कटान से दियारा का क्षेत्र इस समय बलिया जनपद में है और कभी-कभी वह बिहार के छपरा जिले में चला जाता है। दियारा क्षेत्र के सिताब-दियारा को बसाया था राजा सिताब राय ने और उन्हीं के नाम से इसका नाम सिताब दियारा हो गया।

जयप्रकाश नारायण का जन्म इसी गाँव में हरसूदयाल और उनकी पत्नी फूलरानी के यहाँ विजय दशमी के दिन, ११ अक्टूबर १९०२ ई० को हुआ था।

बचपन :

जयप्रकाश नारायण के दाँत चार वर्ष की आयु तक नहीं निकले और वे बहुत कम बोलते थे। अतः उनका घर का नाम 'बाउलजी' पड़ गया। पाँच वर्ष की आयु में गाँव के प्राइमरी स्कूल में उन्हें दाखिल कराया गया। आगे की पढ़ाई के लिए उन्हें पटना भेजा गया। अप्रैल १९१९ में उन्होंने इंट्रेंस की परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १९२१के जाड़े के दिनों में वे इंटरमीडिएट द्वितीय वर्ष के छात्र थे, उस समय गाँधी जी ने असहयोग का आह्वान किया और जयप्रकाश कॉलेज की परीक्षा छोड़कर आन्दोलन में कूद पड़े।

१६ मई १९२० को उनका विवाह बाबू बृजकिशोर प्रसाद की पुत्री प्रभावती से हो गया था। असहयोग आन्दोलन में शामिल होने के बाद जयप्रकाश प्रभावती के साथ साबरमती आश्रम गये और प्रभावती बापू की प्रिय बेटी के समान आश्रम में रहने लगीं। जयप्रकाश ने बिहार विद्यापीठ से इंटर की परीक्षा पास की।

अमेरिका में अध्ययन :

आगे की पढ़ाई के लिए जयप्रकाश १६ मई १९२२ को कलकत्ते से अमेरिका के लिए रवाना हो गये। वहाँ पढ़ाई के अतिरिक्त उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन

किया। उन्होंने समाज शास्त्र में एम० ए० की डिग्री आहियो विश्वविद्यालय से प्राप्त की। वहाँ वे जे० पी० के नाम से जाने जाते थे। सितम्बर १९२९ को वे स्वदेश के लिए लौटे।

कांग्रेस में :

जे० पी० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में समाज शास्त्र विभाग खुलवाकर उसमें अध्यापन कार्य करना चाहते थे। लेकिन वे कांग्रेस के क्रिया-कलापों के प्रति आकृष्ट हो गये। १९२९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में गाँधी जी ने जे० पी० की भेंट पं० जवाहर लाल नेहरू से करायी और नेहरू जी ने उन्हें कांग्रेस महासचिव के इलाहाबाद स्थित कार्यालय में मजदूर खोज विभाग का कार्य सौंपा। २६ जनवरी १९३० को देश भर में पूर्ण-स्वाधीनता की शपथ सार्वजनिक रूप से ली गयी। जे० पी० उन दिनों इलाहाबाद में आनन्द भवन में रह रहे थे और नेहरू परिवार के सदस्य बन गये थे।

उन्हीं दिनों जे० पी० की माता का सिताब-दियारा में देहान्त हो गया और उनके पिता को पक्षाघात हो गया। कुछ समय बाद वे फिर इलाहाबाद के स्वराज भवन में पहुँच गये। गोलमेज कांफ्रेंस के बाद गाँधी जी को बम्बई पहुँचते ही गिरफ्तार कर लिया गया था। जे० पी० नेहरू जी के साथ बम्बई गये। कांग्रेस गैर कानूनी संस्था घोषित कर दी गयी और उसके नेता गिरफ्तार कर लिये गये। नेहरू जी की गिरफ्तारी के बाद वे श्रीमती सरोजिनी नायडू से मिले, फिर इलाहाबाद लौट आये।

जेल यात्राओं का आरम्भ :

कमला नेहरू और प्रभावती दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया था। जे० पी० गुप्त रूप से कांग्रेस संगठन के काम में लग गये। बनारस में बाबू शिव प्रसाद गुप्त के मकान पर कांग्रेस कार्य समिति की बैठक उन्होंने आयोजित की। बाद में वे मद्रास में गिरफ्तार कर बम्बई भेज दिये गये। १९३२ के आन्दोलन के समाप्त होने पर वे नासिक जेल से रिहा हुए। नासिक में युवा कार्यकर्ताओं का रुझान समाजवाद की ओर हो गया था।

समाजवादी :

जनवरी १९३४ को बिहार में आये भूकम्प की विनाश लीला में पीड़ितों की सहायता के लिए कांग्रेस की ओर से संगठित प्रयास किया गया। कांग्रेस महासमिति

का अधिवेशन पटना में बुलाया गया और १८ मई १९३४ को उसके बाद समाजवादियों के सम्मेलन में 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' का जन्म हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव थे। जे० पी० पार्टी के महासचिव चुने गये। वे बराबर पार्टी के महामन्त्री और नीति संचालक रहे। उन्होंने १९३९ के कांग्रेस समाजवादी पार्टी के फैजपुर अधिवेशन की अध्यक्षता भी की।

नजरबंद :

द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने के बाद देश के क्रान्तिकारियों को नजरबंद किया गया। जयप्रकाश नारायण को देवली कैम्प जेल में सिक्योरिटी प्रिजनर के रूप में नजरबन्द रखा गया। कांग्रेस समाजवादी पार्टी द्वितीय महायुद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध मानती थी और उस अवसर का लाभ उठाकर भारत में राष्ट्रीय लोकतांत्रिक क्रान्ति सम्पन्न कराना चाहती थी।

जेल से फरार :

देवली कैम्प जेल टूटने पर जयप्रकाश नारायण को हजारी बाग जेल में नजर बन्द कर दिया गया। फरवरी १९४२ में ही यह स्पष्ट हो गया था कि देश किसी बड़े आन्दोलन की कगार पर है। आठ अगस्त १९४२ को गाँधी जी ने 'अंग्रेजों भारत छोड़ो', 'करो या मरो' का संदेश देशवासियों को दिया। १९४२ में नवम्बर मास में दीपावली के दिन जय प्रकाश, योगेन्द्र शुक्ल, सूर्य नारायण सिंह, रामानन्द मिश्र आदि साथियों के साथ बिहार के हजारीबाग जेल से फरार हो गये।

फरार होने के बाद जय प्रकाश नारायण वाराणसी में बैठकर क्रान्ति की योजना बनाने लगे। १९४२ के आन्दोलनकारियों अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, राम मनोहर लोहिया आदि से सम्पर्क किया गया। १९४२ के आन्दोलन के समर्थन में आजादी के सैनिकों के नाम खुली चिट्ठियाँ प्रकाशित की गयीं।

बर्फ की सिल्ली पर :

जे० पी० के प्रयत्न से नेपाल में आजादी के सैनिकों के प्रशिक्षण का केन्द्र चलाया गया। उन्हें नेपाल में गिरफ्तार करके वहाँ की हनुमान गढ़ जेल में रखा गया। पर जयप्रकाश नारायण को 'आजाद दस्ते' ने आजाद करा लिया। वहाँ से वे कलकत्ता

आये। बाद में लाहौर में जयप्रकाश नारायण और डॉक्टर राम मनोहर लोहिया गिरफ्तार कर लिये गये। लाहौर के किले में इन दोनों नेताओं को नारकीय यंत्रणा दी गयी। बर्फ की सिल्लियों पर लिटाया गया। बाद में उन्हें आगरा किले में रखा गया। फिर दोनों नेता वहीं से रिहा हुए।

रिहाई के बाद जयप्रकाश नारायण और डॉ० राममनोहर लोहिया दिल्ली गये और वहाँ वे गाँधी जी से मिले। १९४६ में मौलाना अबुल कलाम आजाद के स्थान पर पं० जवाहर लाल नेहरू को कांग्रेस अध्यक्ष बनाया गया। नेहरू जी ने जयप्रकाश नारायण को कांग्रेस कार्य समिति का सदस्य मनोनीत किया।

१९४७ में कानपुर में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का ऐतिहासिक सम्मेलन डॉ० राम मनोहर लोहिया की अध्यक्षता में हुआ। उसमें पार्टी से कांग्रेस का शब्द हटा कर स्वतन्त्र सोशलिस्ट पार्टी के गठन का निश्चय किया गया।

भारत के अन्तिम वायसराय लार्ड माउण्ट बैटेन ने देश को स्वतन्त्र बनाने और विभाजन के लिए कांग्रेस नेताओं को राजी कर लिया। दिल्ली में राष्ट्रीय सरकार बनी और पं० जवाहर लाल नेहरू प्रधान मन्त्री बने।

१५ अगस्त १९४७ को भारत खंडित हो गया। पाकिस्तान और भारत दो स्वतन्त्र राष्ट्र बन गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना ने देश विभाजन की बात को सहने के लिए मजबूर कर दिया। १९४८ में मार्च के महीने में सोशलिस्ट पार्टी ने कांग्रेस से अलग होने का निश्चय किया। सन् १९४८ से १९५१ तक जयप्रकाश नारायण ने पार्टी के संगठन के लिए पूरे देश का लगातार दौरा किया। ३० जनवरी १९४८ को गाँधी जी की शहादत के बाद जयप्रकाश नारायण देश में कांग्रेस के विकल्प के रूप में सोशलिस्ट पार्टी का मजबूत संगठन बनाना चाहते थे। १९४९ के नवम्बर में पटना में 'किसान मार्च' का आयोजन जय प्रकाश के नेतृत्व में किया गया।

१९५२ के आम चुनाव में जयप्रकाश नारायण ने समाजवादी और लोकतान्त्रिक शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहा जिसमें काँग्रेस का संगठित विरोध किया जा सके। लेकिन चुनाव में समाजवादी पार्टी अपनी हार से चकित रह गयी। पटना में समाजवादी सम्मेलन में जयप्रकाश नारायण की कटु आलोचना हुई। उसी वर्ष पंचगढ़ी में डॉ० राममनोहर लोहिया की अध्यक्षता में सोशलिस्ट पार्टी का सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में जय प्रकाश नारायण और समाजवादियों के मतभेद और गहरे हो

गये।

सोशलिस्ट पार्टी और किसान मजदूर पार्टी के विलयन से प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन हुआ। डाक कर्मचारियों की हड़ताल खत्म करने के समझौते में यह स्वीकार किया गया था कि कर्मचारियों को हड़ताल के दिनों का वेतन दिया जायगा। बाद में नेहरू जी ने इससे इंकार कर दिया। पर जयप्रकाश नारायण ने पूना में २१ दिन का अनशन किया जिसका उनके स्वास्थ पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

जीवन दानी :

इसके बाद अप्रैल १९५४ में जय प्रकाश नारायण ने सर्वोदय और भूदान आन्दोलन के लिए अपने जीवनदान की घोषणा की। उन्होंने सरवो देवरा में सर्वोदय आश्रम की स्थापना की।

सन् १९५९ में चीन ने तिब्बत की स्वतन्त्रता को जिस प्रकार कुचला उससे जे० पी० चीन के इस अत्याचार से विचलित हुए। उन्होंने घोषणा की कि तिब्बत मरेगा नहीं। १९६० में उन्होंने कश्मीर, नागालैण्ड, नक्सलवाद और डाकू समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया।

१९६२ में चीन के आक्रमण के समय जय प्रकाश ने उसका कड़ा विरोध किया। १९६४ में पं० जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु से जय प्रकाश को बहुत सदमा पहुँचा।

डाकुओं का आत्म समर्पण :

१९६६ में १२ अक्टूबर को डॉक्टर राममनोहर लोहिया का एक आपरेशन के बाद निधन हो गया। जे० पी० उनके दुख में फूट-फूट कर रोये थे। अक्टूबर १९७१ में डाकुओं के नेता माधोसिंह ने आत्म समर्पण का संकल्प जे० पी० और विनोबा के सामने व्यक्त किया। १४ अप्रैल १९७२ को १४ डाकुओं ने आत्मसमर्पण कर दिया। हृदय परिवर्तन की इस घटना से लोग आश्चर्यचकित हो गये।

१९७२ के अक्टूबर में जय प्रकाश नारायण का एक आपरेशन काशी विश्वविद्यालय मेडिकल कॉलेज में हुआ और वे स्वस्थ हो गये। १९७३ की १५ अप्रैल को प्रभावती का निधन हो गया। उसके बाद एक वर्ष जयप्रकाश नारायण

सार्वजनिक जीवन से अलग रहे।

सम्पूर्ण क्रान्ति का आह्वान :

१९७४ का वर्ष भारत के इतिहास में सम्पूर्ण क्रान्ति के आह्वान के रूप में याद किया जायगा। जयप्रकाश नारायण ने गुजरात के युवाजनों और छात्रों की नव निर्माण समिति के अहिंसक आन्दोलन से नवीन प्रेरणा ली। उन लोगों ने गुजरात विधान सभा भंग करने की मांग की। जय प्रकाश नारायण ने उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, नागालैण्ड, त्रिपुरा और पांडिचेरी प्रदेशों के विधान सभाई चुनाव को ध्यान में रखकर लखनऊ में छात्रों और युवाओं का सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए आह्वान किया।

८ अप्रैल १९७४ को पटना में मूक जलूस का उन्होंने नेतृत्व किया। ५ जून १९७४ को उनके आन्दोलन के समर्थन में पटना में विशाल जनप्रदर्शन हुआ जिसमें वे घायल हो कर बेहोश हो गये। अन्याय और भ्रष्टाचार के विरुद्ध युवाजनों का विद्रोह भड़क उठा।

१९७५ में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के द्वारा श्रीमती इन्दिरा गाँधी के चुनाव को अवैध ठहरा दिया गया। उससे पूरे देश में सनसनी फैल गयी। जयप्रकाश नारायण ने देश भर में क्रान्ति का आह्वान किया। उसके परिणाम स्वरूप देश में सरकार की ओर से आपात स्थिति की घोषणा की गयी फिर देशव्यापी दमन शुरू किया गया।

१९७६ के अन्त में प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने आम चुनाव की घोषणा की। आपात कालीन स्थिति खत्म हो रही थी। १९७९ के चुनाव में केन्द्र में पहली बार जनता पार्टी की सरकार प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में बनी। लेकिन १९७८ में उसका विघटन शुरू हो गया। १९७९ में चरण सिंह अन्तरिम प्रधान मन्त्री बने और चुनाव में पुनः कांग्रेस सत्ता में आ गयी।

जय प्रकाश नारायण ने जब सम्पूर्ण क्रान्ति का आह्वान किया था उस समय वे लोक नायक के रूप में विख्यात हो गये थे। ८ अक्टूबर को उनके निधन से देश ने स्वतन्त्रता संग्राम का महान सेनानी, जनता और दीन दखियों की सेवा में निःस्वार्थ

आजीवन लगे रहने वाले महान त्यागी, अन्याय, अत्याचार और कुशासन के विरुद्ध निरंतर संघर्षरत जीवन दानी को हमेशा के लिए खो दिया।

उनके जेल से रिहा होते समय कवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी इस कविता से जयप्रकाश का स्वागत किया था–

"सेनानी! करो प्रयाण अभय
भावी इतिहास तुम्हारा है।
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।
जय प्रकाश है नाम समय की
करवट का अंगड़ाई का।

देश के नव निर्माण, शोषणहीन, वर्गहीन और सद्भावनापूर्ण समाज का सपना देखने वालों को जयप्रकाश नारायण सदैव प्रेरणा देते रहेंगे।

५०, नादान महल रोड,
लखनऊ।

लालबहादुर शास्त्री

—डॉ० सुरेन्द्र विक्रम

एक साधारण से परिवार में जन्म लेकर अपनी प्रतिभा, लगन, निष्ठा और ईमानदारी से भारत के प्रधान मन्त्री जैसे गरिमापूर्ण पद को सुशोभित करने वाले लालबहादुर शास्त्री का जन्म २ अक्टूबर सन् १९०४ को उत्तर प्रदेश के वाराणसी जनपद से लगभग १० मील की दूरी पर स्थित मुगलसराय नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता श्री शारदा प्रसाद श्रीवास्तव उच्चकुलीन कायस्थ परिवार से सम्बन्धित थे। माता श्रीमती रामदुलारी देवी विशुद्ध धार्मिक विचारधाराओं वाली महिला थीं।

अभावों का बचपन :

शास्त्री जी का बचपन बड़े अभावों में बीता। मात्र २८ वर्ष की आयु में पिता की अकाल मृत्यु हो गयी। उस समय बालक लालबहादुर की उम्र केवल डेढ़ वर्ष थी। माता के ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। पति की मृत्यु के बाद डेढ़ वर्ष के बालक को सीने से चिपकाये श्रीमती राम दुलारी देवी अपने पिता श्री हजारीमल के यहाँ रहने के लिए आ गयीं।

विपत्ति के इन दिनों में श्रीमती राम दुलारी देवी का मायके वालों ने बहुत साथ दिया और लालबहादुर का बचपन अपने ननिहाल में बीता। नाना-नानी, मामा-मामी सभी का उन्हें बेहद प्यार मिला। लालबहादुर की कुशाग्र बुद्धि से ननिहाल के लोग बहुत प्रभावित थे।

प्यार की इस सरिता में डूबते-उतराते लालबहादुर ने ननिहाल में ही छठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। यहीं से उनके अंदर आत्मविश्वास और स्वावलम्बन की ऐसी नींव पड़ी जो उन्हें जीवन भर मुसीबतों और परेशानियों से लड़ने की शक्ति प्रदान करती रही।

मुगलसराय में आरम्भिक शिक्षा ग्रहण करके लालबहादुर उच्च शिक्षा के लिए

वाराणसी चले गये। यहीं पर हरिश्चन्द्र हाई स्कूल में उनकी मुलाकात पं० निष्कामेश्वर मिश्र से हुई जो उसी स्कूल में विद्यार्थियों को अंग्रेजी और गणित पढ़ाते थे। लालबहादुर ने पं० निष्कामेश्वर मिश्र को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। पं० मिश्र ने लालबहादुर को कक्षा में पढ़ाये जाने वाले विषयों के अतिरिक्त प्राचीन भारत की परम्परा और उसकी गौरव-गाथा से भी परिचित कराया। उनकी भाषण शैली इतनी प्रखर और ओजपूर्ण थी कि विद्यार्थी अपने आप खिंचे चले आते थे। उन्होंने स्वाधीनता संग्राम का जो चित्र लालबहादुर के समक्ष खींचा, उसने लालबहादुर के अंदर राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भर दी।

हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के संस्कार लेकर लालबहादुर काशी विद्यापीठ में प्रविष्ट हुए। यहाँ पाठ्यक्रम के अतिरिक्त राजनीतिक विषयों पर भी खुली बहस होती थी। लालबहादुर ने इसका भरपूर लाभ उठाया तथा इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि विषयों का व्यापक अध्ययन किया। चार वर्ष तक काशी विद्यापीठ में अध्ययन करते हुए उन्होंने एक ओर जहाँ 'तत्त्वज्ञान' की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की, वहीं दूसरी ओर काशी विद्यापीठ से शास्त्री की उपाधि ग्रहण की। काशी विद्यापीठ की यह उपाधि उनके नाम के साथ ऐसी जुड़ी कि वे लालबहादुर से लालबहादुर शास्त्री हो गये।

स्वतन्त्रता संग्राम में :

काशी विद्यापीठ में अध्ययन करते हुए उन्होंने १९२१ में महात्मा गाँधी द्वारा चलाये गये असहयोग आंदोलन में न केवल हिस्सा लिया बल्कि अनेक बार जेल यात्राएँ भी कीं। आर्थिक कठिनाइयों और संघर्षों से जूझते हुए भी उन्होंने बड़े उत्साह से देश के स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया। इसी समय गाँधी जी की प्रेरणा से लाला लाजपतराय ने 'लोक सेवक मण्डल' की स्थापना की जिसका उद्देश्य आजीवन देश सेवा का व्रत लेने वाले राजनीतिक कार्यकर्ताओं को सहायता प्रदान करना था। लालबहादुर शास्त्री की प्रतिभा से प्रभावित होकर लाला लाजपतराय ने उन्हें इस संगठन का आजीवन सदस्य बना लिया। शास्त्री जी ने तन, मन, धन से लोक सेवक मण्डल की सेवा की। एक बार उन्होंने अपने व्याख्यान में इसके बारे में कहा था- 'इस मण्डल की आजीवन सदस्यता के कारण ही मुझे अपने देश की सेवा का सबसे अधिक मौका मिला।'

शास्त्री जी स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान अनेक बार अंग्रेजों की ज्यादतियों के

शिकार हुए तथा ग्यारह बार जेल गये। 'भारत छोड़ो' आंदोलन में वे पुलिस की आँखों में धूल झोंक कर गुप्त रूप से आनन्द भवन इलाहाबाद पहुँच गये थे। वहाँ रहकर उन्होंने इस आंदोलन का संचालन किया। इस समय शास्त्री जी प्रदेश कांग्रेस कमेटी के महामंत्री थे। बाद में वे इलाहाबाद में गिरफ्तार हुए। उनका जेल जीवन बड़ा अनुशासित होता था। हर बार जेल के दिनों में शास्त्री जी ने अपने ज्ञान का विस्तार किया। उन्होंने इन्हीं दिनों में कांटे, हीगेल, लॉस्की, रसल, हक्सले, मार्क्स आदि का गम्भीर अध्ययन किया। शास्त्री जी मैडम क्यूरी की जीवनी से बहुत अधिक प्रभावित हुए। उनकी जीवनी का भावानुवाद करते हुए एक जगह उन्होंने लिखा है– 'मैरी क्यूरी की जीवनी जो भी पढ़ेगा, प्रभावित होगा और उसका जीवन उसे असाधारण तथा महान प्रतीत होगा।'

शास्त्री जी सादा जीवन उच्च विचार के पोषक थे। कर्म में उनकी अटूट आस्था थी। वे फल की इच्छा किये बिना कर्म करने के समर्थक थे। सन् १९२१ से लेकर सन् १९४६ तक उन्होंने अपने देश के लिए अनेक प्रकार के कष्ट झेले।

शास्त्री जी का विवाह १६ मई १९२८ ई० को मिर्जापुर जनपद में चेतगंज निवासी श्री गणेश प्रसाद की पुत्री कु० ललिता (लालमणि) से हुआ था। विवाह के बाद श्रीमती ललिता शास्त्री ने कंधे से कंधा मिलाकर अपने पति को सहयोग दिया। उन्होंने शास्त्री जी से कभी भी किसी प्रकार की सुख–सुविधा की कामना नहीं की।

पक्के आदर्शवादी :

शास्त्री जी आदर्शवाद की साक्षात् मूर्ति थे। सन् १९३६ की बात है। शास्त्री जी इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के सदस्य थे। उन्हीं दिनों इलाहाबाद इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट की स्थापना हुई। बोर्ड के सदस्य के रूप में शास्त्री जी इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के ट्रस्टी बन गये। ट्रस्ट बोर्ड ने छोटे–बड़े प्लाट बनाकर एक बड़े भूखण्ड को बेचने का निश्चय किया। चूँकि प्लाट कीमत में कम थे इसलिए उन्हें लेने वालों की भीड़ लग गयी।

अचानक किसी काम से शास्त्री जी को इलाहाबाद छोड़कर बाहर जाना पड़ा। शास्त्री जी की अनुपस्थिति में इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के एक अन्य ट्रस्टी ने तत्कालीन कमिश्नर से मिलकर यह अनुमति प्राप्त कर ली कि वे तथा शास्त्री जी ट्रस्ट के ट्रस्टी होते हुए भी प्लाट खरीद सकते हैं। इसके पश्चात उन्होंने अपने लिए तथा

शास्त्री जी के लिए दो बड़े-बड़े प्लाट खरीद लिये तथा दोनों का पैसा भी जमा करवा दिया।

शास्त्री जी जब प्रवास से वापस लौटे तो उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। उन्हें बहुत पीड़ा हुई। उन्हें लगा जैसे उनके द्वारा कोई भयंकर अपराध हो गया हो। मित्र महोदय ने बहुत अनुनय-विनय की परन्तु शास्त्री जी को तब तक शांति नहीं मिली जब तक उन्होंने 'प्लाट' वापस नहीं कर दिया।

प्रदेश मन्त्रिमण्डल में :

शास्त्री जी के पास अनुभवों का भण्डार था। उनके अनुभवों से प्रभावित होकर सन् १९४६ में पं० गोविन्द बल्लभ पंत ने उन्हें मंत्रिमण्डल में पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी बनाया। शास्त्री जी किसी कार्य को छोटा नहीं समझते थे। वे सोलह से अठारह घंटे प्रतिदिन कार्य किया करते थे। सन् १९४७ में जब रफी अहमद किदवई केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में शामिल हो गये तब शास्त्री जी को मुख्यमंत्री गोविन्द बल्लभ पंत ने पहले पुलिस मंत्री फिर यातायात मंत्री बना दिया।

शास्त्री जी ने पहली बार पुलिस और यातायात विभाग में व्यापक फेर-बदल किया। आदर्श थानों की स्थापना शास्त्री जी की ही देन थी। उन्होंने पहली बार महिला बस कंडक्टरों की नियुक्तियाँ करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

केन्द्रीय मंत्री :

शास्त्री जी की गिनती योग्यतम मंत्रियों में की जाती थी। उन्हें किसी पद का लोभ नहीं रहता था। भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने केन्द्र में शास्त्री जी की कमी महसूस की। परिणामस्वरूप विधान सभा से त्याग पत्र देकर शास्त्री जी केन्द्र में चले गये जहाँ पर पं० नेहरू ने उन्हें अपने मंत्रिमण्डल में केन्द्रीय रेल एवं परिवहन मंत्री बनाया।

केन्द्रीय रेल मंत्री के रूप में उन्होंने देश की अभूतपूर्व सेवा की। चाहे वह रेलवे लाइनों का विस्तार हो या छोटे स्टेशनों का विकास। तृतीय श्रेणी के यात्रियों की सुख-सुविधा का शास्त्री जी ने विशेष ध्यान दिया। सन् १९५६ ई० के अगस्त माह की महबूबनगर रेल दुर्घटना से शास्त्री जी बहुत मर्माहत हुए। उस दुर्घटना में हुई ११२ यात्रियों की मौत की नैतिक जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए उन्होंने मंत्रिमण्डल से

त्याग पत्र दे दिया, परन्तु नेहरू जी ने त्यागपत्र स्वीकार नहीं किया।

प्रधानमंत्री :

२७ मई सन् १९६४ को प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू की असामयिक मृत्यु से देश को बड़ा आघात पहुँचा। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद भारत के लिए यह दूसरा बड़ा आघात था। इस समय श्री गुलजारी लाल नंदा के नेतृत्व में अस्थायी सरकार बनायी गयी। परन्तु शीघ्र ही २ जून १९६४ को कांग्रेस की संसदीय पार्टी की बैठक हुई जिसमें श्री लालबहादुर शास्त्री को सर्वसम्मति से नेता चुना गया तथा ४ जून को शास्त्री जी ने भारत के नये प्रधान मंत्री के रूप में शपथ ग्रहण की।

सारा देश परिवार :

भारत के प्रधान मंत्री के रूप में शास्त्री जी ने अनेक ऐसे आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किये जिनका देश के इतिहास में अपना स्थायी महत्त्व है। भारतवासियों को दिया हुआ उनका नारा 'जय जवान–जय किसान' आज भी हमें स्वावलम्बी बनकर जीने की प्रेरणा दे रहा है। वे देश को अपने परिवार से अधिक महत्त्व देते थे। उनके युवा पुत्र श्री सुनील शास्त्री ने जब उनसे परिवार के प्रति उदासीनता की शिकायत की तो उन्होंने अपने बेटे के सिर पर हाथ रखकर कहा– 'सुनील! अब हमारा परिवार तुम चार भाई और दो बहनों तक सीमित न रहकर देश की सम्पूर्ण जनता तक विस्तृत हो गया है। मुझे अब पूरे भारतवर्ष की जनता के दुःख-दर्द को देखना और सुनना है जिन्होंने हमें प्रधान मंत्री पद के लिए चुना है।'

अपने प्रधान मंत्रित्व काल में शास्त्री जी ने देश को कई बार मुसीबतों से उबारा। सन् १९६५ में जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो शास्त्री जी ने उसका मुँहतोड़ जवाब दिया। युद्ध के दिनों में एक दिन सुनील शास्त्री ने अपने पिताजी से पूछा– 'बाबूजी, अगर पाकिस्तान के साथ-साथ चीन ने भी भारत पर हमला कर दिया तो क्या होगा? क्या हम दो मोर्चों पर एक साथ लड़ पायेंगे?

शास्त्री जी ने जोरदार शब्दों में कहा– 'बेटा! मैं दो क्या दस हमलों से भी डरने वाला नहीं हूँ जो घबराकर घुटने टेक दूँ। अगर सारा संसार भी हमारे ऊपर एक साथ

हमला कर दे तो भी मैं आखिरी दम तक उनका मुकाबला करूँगा और अपनी मातृभूमि की रक्षा करूँगा।'

शास्त्री जी अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक भारत को एक समृद्ध और खुशहाल राष्ट्र बनाने का सपना देखते रहे। भारत की समृद्धि और सम्पन्नता के लिए ही उन्होंने ताशकंद समझौता स्वीकार किया। रूस के प्रधानमंत्री कोसीगिन ने अथक प्रयास करके पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खान और भारत के प्रधान मंत्री लालबहादुर शास्त्री को समझौते के लिए राजी किया था। कई वार्तालापों के बाद अंत में १० जनवरी १९६६ को ताशकंद समझौते पर दोनों के हस्ताक्षर हुए और दूसरे दिन ११ जनवरी १९६६ को शास्त्री जी का देहावसान हो गया। उनका पार्थिव शरीर ताशकंद से भारत लाया गया जहाँ हजारों की संख्या में भारतवासियों ने अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

आज शास्त्री जी हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उन्होंने हमें जो मार्ग दिखाया वह निश्चय ही युगों तक प्रेरणा देता रहेगा।

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
क्रिश्चियन डिग्री कॉलेज
लखनऊ – २२६ ०१८

चन्द्रशेखर आज़ाद

—रमाकांत मिश्र 'स्वतन्त्र'

भारत को स्वतन्त्र कराने वाले जिन महापुरुषों का नाम इतिहास के पन्नों पर स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है उन्हीं में से एक हैं महान क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आज़ाद।

चन्द्रशेखर आज़ाद एक गरीब परिवार में जन्मे थे। उनका जन्म मध्य प्रदेश के झबुआ तहसील के भावरा नामक गाँव में २३ जुलाई १९०६ ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम सीताराम तिवारी और माता का नाम जगरानी देवी था। सीताराम तिवारी उन्नाव जिले के बदरका नामक गाँव के निवासी थे। पर उन्हें अपने परिवार का पेट पालने के लिए भावरा ग्राम जाना पड़ा। वहाँ वे एक बगीचे की देखभाल करते थे और तनख्वाह में आठ रुपया माहवार मिलता था। इतने कम वेतन में ही उन्हें किसी प्रकार जीवन गुजारना पड़ता था।

गरीबी का बचपन :

इस प्रकार चंद्रशेखर आज़ाद का बचपन बड़ी गरीबी में बीता। लेकिन वे बड़े साहसी थे। पिता चाहते थे कि चन्द्रशेखर किसी छोटी–मोटी नौकरी में लगकर परिवार की सहायता करें। परन्तु वे इसके लिए तैयार नहीं हुए और सबकुछ छोड़कर बम्बई जा पहुँचे। पेट पालने के लिए वहाँ उन्होंने कुछ दिन मजदूरी भी की। परन्तु चन्द्रशेखर तो किसी बड़े काम के लिए पैदा हुए थे। वे बम्बई से वाराणसी आये और संस्कृत पाठशाला में भर्ती हो गये। यहाँ भोजन और निःशुल्क संस्कृत शिक्षा, कुछ दिन यही सिलसिला चला। पर उनका मन संस्कृत पढ़ने में कम लगता था।

उन्हें क्रान्तिकारियों के रोमांचक किस्से पढ़ने में असीम आनन्द प्राप्त होता था।

बेंत की सजा :

१९२१ ई० में भारत स्वतन्त्र नहीं था। परन्तु भारतवासी अब अंग्रेजों का शासन स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अंग्रेज सरकार को हटाने के लिए गाँधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। तेरह–चौदह साल के चन्द्रशेखर भी इस आन्दोलन में कूद पड़े। संस्कृत पढ़ने वाले दस–बारह लड़कों के साथ उन्होंने जुलूस निकाले और विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दुकानों पर धरना देने लगे। इस पर चन्द्रशेखर गिरफ्तार कर लिये गये। पारसी मजिस्ट्रेट के सामने पेशी हुई।

मजिस्ट्रेट ने कड़े स्वर में सवाल किया – 'तुम्हारा नाम क्या है?'

बालक ने निडरता से जवाब दिया – 'आज़ाद'

मजिस्ट्रेट ने फिर पूछा – 'तुम्हारे बाप का नाम?'

चन्द्रशेखर ने उत्तर दिया – 'स्वाधीन।'

मजिस्ट्रेट का अगला प्रश्न था – 'तुम्हारा घर कहाँ है?'

बालक ने उसी तरह तपाक से उत्तर दिया – 'जेलखाना।'

चन्द्रशेखर के इस प्रकार के उत्तरों से मजिस्ट्रेट बुरी तरह चिढ़ गया और उसने उन्हें पन्द्रह बेंत लगाकर छोड़ देने का आदेश दिया।

जेल के अन्दर यह सजा चन्द्रशेखर ने बिना उफ किये और हर बेंत पर 'महात्मा गाँधी की जय' कहते हुए सहन की। उनका शरीर खून से लथपथ हो गया था। तन की चमड़ी कई जगह से उधड़ चुकी थी। अब वे चन्द्रशेखर से 'चन्द्रशेखर आज़ाद' बन चुके थे। जेल से छूटने पर वाराणसी में एक सार्वजनिक सभा में उनका सम्मान किया गया था। स्वस्थ होने पर वे काशी विद्यापीठ में भर्ती हो गये।

क्रांतिकारी :

उन दिनों क्रान्तिकारी आन्दोलन भी जारी था। क्रांतिकारी मानते थे कि बिना

बल प्रयोग के अंग्रेजों को भारत से बाहर नहीं खदेड़ा जा सकता। वाराणसी उस समय क्रांतिकारियों का गढ़ था। आज़ाद का उनसे सम्पर्क हुआ। इस बीच गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया था। अब क्रांतिकारी अपने ढंग से विदेशी सरकार के विरुद्ध और तेजी से काम करने लगे। साहसी आज़ाद हर काम में आगे रहते थे। उन्होंने क्रांतिकारियों का एक बहुत बड़ा संगठन खड़ा किया। इसका नाम 'हिन्दुस्तान सोसलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' रखा गया। चन्द्रशेखर इसके प्रधान सेनापति थे। उनके सहयोगियों में सरदार भगतसिंह, शिवराम, राजगुरु, बटुकेश्वर और सुखदेव जैसे लोग थे।

महन्त के चेले :

क्रान्तिकारियों को हथियार खरीदने तथा अन्य कामों के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी। एक बार पता चला कि गाजीपुर का एक धनी महन्त बीमार है और वह अपनी गद्दी के लिए चेला खोज रहा है। क्रांतिकारियों की ओर से आज़ाद नाम बदल कर उसके चेले बन गये। लेकिन जब देखा कि महन्त के जल्दी मरने की और उसकी सम्पत्ति क्रान्तिकारियों के हाथ लगने की सम्भावना नहीं है, तो वे वहाँ से वापस आ गये।

काकोरी की घटना :

धनाभाव की समस्या हल करने के लिए क्रान्तिकारियों ने ९ अगस्त १९२५ को उत्तर प्रदेश में काकोरी स्टेशन से गुजर रही ट्रेन को रोक कर अंग्रेजी सरकार का खजाना लूट लिया। चन्द्रशेखर आज़ाद भी उसमें सम्मिलित थे। इस घटना के बाद बड़ी धर पकड़ हुई। अनेक क्रान्तिकारी पकड़े गये। उन पर मुकदमा चला। इस मुकदमें में राम प्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक उल्ला खाँ, राजेन्द्र लाहिड़ी और रोशन सिंह को फाँसी की सजा हुई। अनेक लोगों को लम्बी कैद हुई। किन्तु चन्द्रशेखर आज़ाद फरार हो गये और ब्रिटिश सरकार उन्हें गिरफ्तार न कर सकी।

लाला जी की मौत का बदला :

१९२८ ई० में अंग्रेजों ने एक 'साइमन कमीशन' भारत भेजा। इसका विरोध कर रहे पंजाब के वयोवृद्ध नेता लला लाजपत राय को बुरी तरह लाठियों से पीटा गया।

इससे कुछ दिन बाद उनका देहान्त हो गया। इस घटना से देश में बड़ी उत्तेजना फैली। चन्द्रशेखर आज़ाद और उनके साथियों ने लाला जी की हत्या का बदला लेने का फैसला किया। उन्होंने १७ सितम्बर १९२८ ई० को पुलिस ऑफीसर साण्डर्स को गोली मार दी। उस समय ब्रिटिश पुलिस किसी भी क्रान्तिकारी को गिरफ्तार नहीं कर सकी।

असेम्बली में बम :

उन्हीं दिनों अंग्रेज सरकार ने भारतवासियों का दमन करने के लिए केन्द्रीय असेम्बली में दो बिल पेश किये। इन बिलों के विरोध में आवाज़ उठाने के लिए चन्द्रशेखर आज़ाद और उनकी पार्टी ने एक योजना बनायी। इस योजना के अनुसार ७ अप्रैल १९२९ ई० को सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय असेम्बली में एक शक्तिशाली बम फेंका। बम फेंक कर वे लोग वहाँ से भागे नहीं, बल्कि अंग्रेज सरकार के खिलाफ नारे लगाते रहे। उन दोनों को वहीं पर गिरफ्तार कर लिया गया। योजना बनाने वाले चन्द्रशेखर आज़ाद को पुलिस इस बार भी गिरफ्तार न कर सकी।

ब्रह्मचारी के वेश में :

बहुत से क्रान्तिकारी काकोरी काण्ड में गिरफ्तार हो चुके थे। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त की गिरफ्तारी से चन्द्रशेखर आज़ाद अकेले रह गये। लेकिन उन्होंने अंग्रेजों की पुलिस की आँखों में धूल झोंकते हुए फिर से क्रांतिकारियों का संगठन बनाना आरम्भ किया। वेश बदलने में वे बड़े कुशल थे। फरारी के दिनों में लम्बे समय तक झाँसी और ओरछा के बीच सत्तार नदी के किनारे ब्रह्मचारी बन कर रहे। उन्होंने अपना नाम हरिशंकर रख लिया था। यों दल में उनका नाम 'बलराज' था। क्रांतिकारी अपना असली नाम नहीं लेते थे। यहाँ क्रांतिकारी साथी भक्त के रूप में उनके पास बिना किसी कठिनाई के पहुँच जाते थे।

शहीद :

संगठन के काम से आज़ाद इलाहाबाद पहुँचे। उनके साथ सुखदेव भी थे। कहते

हैं, क्रांतिकारी दल का कुछ रुपया एक व्यक्ति के पास रखा था। आज़ाद उसी को लेने के लिए वहाँ गये। एक गद्दार ने उनके साथ विश्वासघात किया। उसने आज़ाद के अल्फ्रेड पार्क में होने की सूचना पुलिस को दे दी। उसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन आज़ाद की जीवनी के एक लेखक ने इन शब्दों में किया है-

'जैसे ही अंग्रेज पुलिस अफसर नाट बाबर ने हाथ में पिस्तौल लिये हुए पार्क में घुस कर आज़ाद को ललकारा - तुम कौन हो? यहाँ क्या कर रहे हो? साथ ही उसने गोली भी चला दी। आजाद ने भी पिस्तौल निकाल कर उसकी गोली का उत्तर गोली से दिया। नाट बाबार की गोली आज़ाद की जाँघ में लगी। आज़ाद की गोली नाट बाबर के पिस्तौल वाले हाथ में लगी और पिस्तौल उसके हाथ से ज़मीन में गिर गया।

नाट बाबर ने आज़ाद की गोली से बचने के लिए पास ही एक नाले में कूद कर मौलसिरी के पेड़ की आड़ ले ली। आज़ाद ने सुखदेव को भाग निकलने का आदेश दिया और स्वयं पुलिस का सामना करने के लिए जामुन के पेड़ की आड़ में खड़े हो गये।

इतने ही में डी० वाई० एस० पी० विश्वेश्वर सिंह ने पुलिस दल के साथ आज़ाद को घेर लिया। दोनों ओर से गोलियाँ चलने लगीं। इसी बीच विश्वेश्वर सिंह ने आज़ाद के लिए कुछ अपशब्दों का प्रयोग किया। इस पर आज़ाद बोले- अच्छा तो इसका प्रसाद तुम तो लो और ऐसा निशाना लगाया कि गोली जाकर उसके जबड़े में लगी। फिर वह जिन्दगी भर ठोस अन्न नहीं खा सका।

आधे घंटे तक दर्जनों पुलिस वालों की गोलियों के साथ जूझते हुए अन्त में आजाद २७ फरवरी १९३१ को शहीद हो गये। यह पार्क अब 'चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क' के नाम से प्रसिद्ध है।

अंग्रेजों ने आज़ाद का शव अंतिम संस्कार के लिए जनता को नहीं दिया। यही

नहीं, जिस पेड़ की उन्होंने आड़ ली थी, उसे भी कटवा दिया। परन्तु अमर बलिदानी चन्द्रशेखर आज़ाद की याद भारतवासियों के हृदय में सदा बनी रहेगी और उनकी देशभक्ति और बलिदान से लोग प्रेरणा लेते रहेंगे।

बी- २७९२ (जनता भवन)
इंदिरा नगर, लखनऊ।

●

सरदार भगतसिंह

—डॉ० रोहिताश्व अस्थाना

भारत की आजादी की लड़ाई में पंजाब का बहुत बड़ा योगदान है। पंजाब की मिट्टी ने भगतसिंह जैसे शहीदे आजम को जन्म दिया, जो मातृभूमि को आज़ाद कराने के लिए हँसते–हँसते फाँसी पर झूल गया।

ऐसे बीर–बाँकुरे बालक भगतसिंह का जन्म २५ सितम्बर १९०७ ई० को पंजाब में लायलपुर जिले के बंगा नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम किशनसिंह और माता का नाम विद्यावती था। इनके बाबा का नाम अर्जुन सिंह था। स्वर्णसिंह और अजीतसिंह उनके चाचा थे। जिस दिन भगत सिंह का जन्म हुआ, उसी दिन उनके पिता और चाचा जेल से छूट कर आये थे। इस प्रकार क्रांतिकारी परम्परा एवं देश के लिए मर मिटने की प्रेरणा उन्हें विरासत में मिली थी।

१ जुलाई १९०९ को मदनलाल ढींगरा, लन्दन में कर्जन वाइली को गोली मारकर गिरफ्तार हो गये। उन्होंने गर्व से कहा– 'मैंने इसकी हत्या करके देशवासियों पर ढाये जा रहे अत्याचारों का बदला लिया है।'

भगतसिंह की दोनों चाचियाँ उन्हें गोद लेकर प्यार करतीं और रो पड़तीं। नन्हा भगतसिंह उनके गले में बाहें डालकर कहता– 'चाची रोओ मत, मैं अंग्रेजों को मार भगाऊँगा, उनसे बदला लूँगा।'

बंदूकों की खेती :

बात उन दिनों की है, जब भगतसिंह ढाई–तीन वर्ष के थे। जमीन तैयार करके आम के पौधे रोपे जा रहे थे। खिलाड़ी भगतसिंह अपने पिता किशन सिंह की उंगली छोड़कर खेत में जा बैठा और पौधे की तरह तिनके रोपने लगा। पिता ने

पूछा– 'क्या कर रहे हो, भगतसिंह?' 'बन्दूकें बो रहा हूँ', नन्हें भगतसिंह की जबान पर जैसे सरस्वती बैठ गयी थी।

सचमुच उन दिनों अंग्रेजों के अत्याचार बढ़ते जा रहे थे जिनको कुचलने के लिए बन्दूकों की आवश्यकता थी। पिता किशनसिंह प्रायः जेल में या क्रांतिकारी कार्यों में व्यस्त रहते। अतः भगतसिंह का बचपन उनके बाबा अर्जुन सिंह के संरक्षण में बीता। उन्होंने बाबा के मुख से देश के गौरवमय अतीत और महान परम्पराओं की कहानियाँ सुनीं जिससे देश भक्ति की भावना उनकी रग–रग में समा गयी थी।

भगतसिंह की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के स्कूल में हुई। जब वे चौथी कक्षा में थे, तभी घर में रखी छोटी–छोटी पचासों क्रांतिकारी पुस्तकें पढ़ डालीं थीं। दिसम्बर १९१२ में जब भगतसिंह सवा पाँच वर्ष के थे, दिल्ली के चांदनी चौक में वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया जिसके नायक रास बिहारी बोस थे।

प्राइमरी परीक्षा पास करके लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में दाखिल हो गये। इन्हीं दिनों करतार सिंह सराबा गदर पार्टी आन्दोलन के नायक बने। वे देश को अंग्रेजों की गुलामी से आज़ाद कराने के लिए बगावत कर रहे थे। बगावत सफल न हो सकी, वे गिरफ्तार हुए और उन्होंने हँसते–हँसते फाँसी का फन्दा चूम लिया। भगतसिंह इस घटना से इतने प्रभावित हुए कि मेले से शहीद सराबा की फोटो खरीद लाये। वे इस फोटो को सदा अपने साथ रखते थे और सराबा को अपना गुरु, साथी और भाई मानते थे।

१३ अप्रैल १९१९ को वैशाखी के दिन अमृतसर में जलियाँवाला बाग काँड हुआ जिसमें जनरल डायर की गोलियों से हजारों नर–नारी और बच्चे शहीद हो गये। अगले दिन जब भगतसिंह पढ़ने के लिए घर से निकले तो स्कूल के बजाय अमृतसर पहुँचे। सारे शहर में मौत का सन्नाटा छाया हुआ था। किसी प्रकार से वे जलियाँवाला बाग पहुँचे। उन्होंने शहीदों के खून से रंगी मिट्टी को चुटकी में भरकर माथे पर उसका टीक लगाया और थोड़ी सी मिट्टी एक शीशी में भरकर वे देर से घर लौटे। भगतसिंह बहुत दिनों तक उस मिट्टी पर श्रद्धा सुमन चढ़ाते रहे।

इसी बीच गुरुद्वारों को राजभक्त महन्तों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए अकाली

आन्दोलन चला। २१ फरवरी १९२१ को अंग्रेजों के सहयोग से ननकाना साहब में १५० सिक्खों की निर्दयता पूर्ण हत्या कर दी गयी। भगतसिंह ने लाहौर से बंगा जाते समय यह हत्या काँड भी देखा। वे लगातार सोचा करते कि अंग्रेजों से कैसे बदला लिया जाय, उन्हें कैसे मार भगाया जाय?

१९२१ के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर भगतसिंह डी० ए० वी० स्कूल छोड़कर नेशनल कालेज में भर्ती हो गये। इस समय उनकी आयु लगभग १४-१५ वर्ष की थी। लम्बा कद, चौड़े कंधे, स्वस्थ सुडौल शरीर, गोरा चिट्टा हँसमुख चेहरा, दृढ़ संकल्प का धनी और मन में मातृभूमि की रक्षा के लिए कुछ कर गुजरने की ललक – यही था भगतसिंह का व्यक्तित्व।

अध्ययन में रुचि :

पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से उन्हें बहुत प्रेम था। क्रांतिकारियों की जीवनियाँ और समाजवादी सिद्धान्त की पुस्तकें वे रुचि से पढ़ते थे। फ्रांसीसी अराजकतावादी शहीद बेलाँ के विचारों से उन्हें बड़ी प्रेरणा मिली। अन्याय के प्रति लड़ने की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

आगे चलकर लाहौर में इनका सम्पर्क प्रोफेसर जयचन्द्र विद्यालंकार और शचीन्द्र नाथ सान्याल से हुआ। भगतसिंह के साथ सुखदेव, भगवती चरण वोहरा, राम किशन और यशपाल भी क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हुए। देशभक्ति की भावना को जनता में प्रचारित करने के लिए इन युवकों ने 'नेशनल नाटक क्लब' की स्थापना की। इन नाटकों में भगतसिंह भाग लिया करते थे। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने सामयिक विषयों पर लेख भी लिखे।

पत्रकार के रूप में :

भगतसिंह जब कालेज में पढ़ ही रहे थे, तभी उनके घर वाले उनकी शादी करना चाहते थे। पर भगतसिंह तो अपने को दश सेवा के लिए अर्पित कर चुके थे। अतः वे घर छोड़कर लाहौर से फरार हो गये। सन् १९२४ में लाहौर से वे

कानपुर आये, जहाँ उनकी भेंट अजय घोष, शिव शर्मा, सुरेश भट्टाचार्य, बटुकेश्वर दत्त आदि क्रांतिकारियों से हुई। सुरेश भट्टाचार्य के माध्यम से ही वे गणेश शंकर विद्यार्थी तक पहुँच सके और 'प्रताप' में बलवन्त सिंह के नाम से लिखने लगे। क्रांतिकारी दल के पर्चे और पैम्फलेट वे स्वयं लिखते और छापकर बाँटते थे। एक बार वे प्रतापगढ़ के प्रसिद्ध दशहरा मेले में 'जागो मेरे देश के लोगों' नामक पर्चा बाँटकर पुलिस वालों को चकमा देते हुए भाग निकले।

अपने पिता के मित्र हसरत मोहाली की सलाह पर भगतसिंह बीमार दादी जय कौर को देखने के लिए १५ जनवरी १९२५ को घर लौट गये। उनके अन्दर एक ममता परिपूर्ण दिल भी था। कुछ समय बाद वे फिर कानपुर लौट आये। कुछ दिनों तक दिल्ली में रहकर उन्होंने दैनिक 'अर्जुन' में भी काम किया। बाद में विद्यार्थी जी ने उन्हें अलीगढ़ जिले के सादीपुर गाँव के नेशन स्कूल में हेड मास्टर रखवा दिया।

९ अगस्त १९२५ को क्रांतिकारी पार्टी का काम तेज करने के उद्देश्य से काकोरी स्टेशन के पास सरकारी खजाना लूट लिया गया था। इस डकैती में राम प्रसाद बिस्मिल और उनके साथी गिरफ्तार हो गये। ऐसी दशा में पार्टी को संगठित करने और सक्रिय बनाने का काम भगतसिंह ने अपने कंधे पर ले लिया। युवकों में देशभक्ति की भावना जगाने के लिए उन्होंने १९२६ में लाहौर में 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना भी की। साहसिक कार्यों की प्रेरणा उन्हें क्रांतिकारियों की जीवनियों से मिली।

अपने क्रांतिकारी लेखों एवं गतिविधियों से जुड़े रहने के कारण मई १९२७ में भगतसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया। पुलिस ने उनसे रहस्यों को उगलवाने के लिए तरह-तरह के कष्ट दिये पर वे चट्टान की भाँति दृढ़ रहे। बाद में उन्हें ६० हजार रु० की जमानत पर छोड़ दिया गया।

लाला जी की मौत का बदला :

१८ नवम्बर १९२७ को अंग्रेज सरकार की ओर से घोषणा हुई कि सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन भारत आ रहा है, जो वैधानिक सुधारों के लिए

सिफारिश करेगा। ३० अक्टूबर सन् १९२८ को जब यह कमीशन लाहौर पहुँचा तो लाला लाजपत राय के नेतृत्व में जनता ने उसका विरोध किया। उप पुलिस अधीक्षक सांडर्स की लाठियों से लाला लाजपत राय को गम्भीर चोटें आयीं और १७ नवम्बर १९२८ को उनकी मृत्यु हो गयी। एक माह बाद १७ दिसम्बर १९२८ को भगतसिंह और राजगुरु ने गोलियों से सांडर्स को मारकर लाला जी की मौत का बदला ले लिया। उसी रात इस्लामाबाद, अमृतसर होते हुए भगतसिंह कलकत्ता के लिए रवाना हो गये जहाँ वे 'हरि' के नाम से बंगाली क्रांतिकारी मित्रों में रम गये।

बहरों को सुनाने के लिए :

कलकत्ता से भगतसिंह आगरा पहुँचे, जहाँ हींग की मंडी और नमक की मंडी में बम बनाने और बनाना सीखने का काम शुरू हो गया। इस बीच केन्द्रीय क्रांतिकारी समिति ने असेम्बली में बम फेंकने की योजना स्वीकार कर ली। भगत सिंह आगरा से दिल्ली पहुँचे। भारतीय जन जीवन को कुचलने के लिए मार्च १९२९ में केन्द्रीय असेम्बली में दो बिल पेश होने थे। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने असेम्बली में बम फेंक कर इस बिल का विरोध किया। उन्होंने वहाँ एक पर्चा भी फेंका, जिसका पहला वाक्य था– 'बहरों को सुनाने के लिए धमाके की आवश्यकता होती है।' विस्फोट से सदन नीले रंग के धुएं से भर गया। डर के मारे सर जार्ज शुस्टर अपनी मेज के नीचे छिप गया। साइमन भी दुम दबाकर भागा। पुलिस डरते-डरते भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को पकड़ सकी।

दोनों को ८ अप्रैल से २२ अप्रैल तक पुलिस हिरासत में रखा गया पर उन्होंने वहाँ कोई बयान नहीं दिया।

बाद में उन्हें जेल भेज दिया गया, जहाँ ७ मई को अंग्रेज मैजिस्ट्रेट पुल की अध्यक्षता में मुकदमा शुरू हुआ। १२ जून को सेशन जज ने दोनों को उम्र कैद की सजा सुनायी। भगतसिंह को मियावाली जेल तथा बटुकेश्वर दत्त को लाहौर सेन्ट्रल

जेल में भेज दिया गया।

इस बीच लाहौर में सांडर्स हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में षड्यंत्र का मुकदमा चलाने का निर्णय हो चुका था। भगतसिंह मुख्य अभियुक्त थे। उन्हें मियावाली जेल से लाहौर लाया गया। १० जुलाई को यह मुकदमा मजिस्ट्रेट पं० श्री कृष्ण की अदालत में शुरू हुआ। ७ अक्टूबर १९३० को भगत सिंह के साथ-साथ सुखदेव और राजगुरु को भी फाँसी की सजा सुनायी गयी।

मौत का भय नहीं :

देशभक्त भगतसिंह को मृत्यु की सजा का तनिक भी भय न था। उन्होंने अपना गहन अध्ययन जारी रखा। उनका कहना था कि 'अध्ययन करो ताकि तुम अपने विरोधियों के तर्कों का जवाब देने योग्य बन सको। अपने सिद्धान्तों के पक्ष में अपने को तर्कों से लैस करो।'

१५ जनवरी १९३१ को एक क्रांतिकारी कवि राम सरन दास की काव्य कृति 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका उन्होंने लिखी। फाँसी के दिन भी वे लेनिन की जीवनी पढ़ रहे थे। २३ मार्च १९३१ की शाम ७ बजे सेन्ट्रल जेल लाहौर में उन्हें सुखदेव और राजगुरु के साथ फाँसी दी गयी। अन्तिम क्षणों में भी उन्होंने बड़े जोश से 'इन्कलाब जिन्दाबाद, साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' के नारे लगाये और गा उठे-

'दिल से निकलेगी न मरकर भी वतन की आबरू।
मेरी मिट्टी से भी खुश्बू-ए-वतन आएगी।।'

रात में ही तीनों के शव सतलज नदी के किनारे फिरोजपुर के निकट हुसैनी वाला में जला दिये गये ताकि जनता में बगावत न फैले। अब इस स्थान पर इन वीरों का स्मारक बना है जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है और देशभक्त अपने श्रद्धा सुमन चढ़ाते हैं।

भगतसिंह की काल कोठरी से ४०४ पृष्ठ की नोट बुक मिली जो उनके पुष्ट अध्ययन, उनके जीवन दर्शन एवं क्रांतिकारी विचारों का एक सार्थक दस्तावेज है।

उन्होंने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' को एक नया अर्थ दिया। उनकी मान्यता थी कि इन्कलाब केवल खून खराबे से ही नहीं आता, हाँ कभी ऐसा करना पड़ता है। क्रांति हथियारों से नहीं वरन् विचारों से आयेगी। स्वतन्त्र भारत के लिए उनके मन में शोषण मुक्त समाजवादी समाज की परिकल्पना थी।

सच्चे अर्थों में वे देशभक्तों के सरदार थे। हमें उनके जीवन से अध्ययन के प्रति आस्था, न्याय के लिए संघर्ष एवं मातृभूमि की रक्षा के लिए हँसते-हँसते अपने को बलिदान कर देने की प्रेरणा लेनी चाहिए।

बावन मार्ग,
हरदोई-२४१ ००१

●

ISBN : 978-93-82175-44-5

मूल्य ₹ 80=00